भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी समारोह के पावन उपलक्ष्य मे

आनन्द प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवचनकार

राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्दऋषि जी

सप्रेरक

श्री कुन्दन ऋषि

सपादिका

कमला जैन 'जीजी'

Rs 10.00

प्रकाशक

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (महाराष्ट्र)

आनन्द प्रवचन : प्रथम भाग

☐ प्रकाशक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, अहमदनगर (महाराष्ट्र)

☐ प्रथम प्रकाशन

फरवरी १९७२,
वि० स० २०२९, फाल्गुन

☐ द्वितीय संस्करण

फरवरी १९७७

☐ पृष्ठ ३४८

☐ मूल्य आठ रुपये मात्र

Rs 1 0 0 0

☐ मुद्रण व्यवस्था

श्रीचन्द सुराना के लिए

☐ मुद्रक

श्री पुरुषोत्तम दास भार्गव,
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स,
दरेसी न० २, आगरा-४

प्रकाशकीय

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि आज हम श्रमणसघ के आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के प्रवचन सग्रह को पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहे है।

कई वर्षों से जनता की माग थी कि आचार्यदेव के प्रवचन प्रकाशित हो ताकि उनका लाभ केवल प्रवचन स्थल पर उपस्थित व्यक्ति ही नही, वरन् दूरस्थ व्यक्ति भी उठा सकें।

किन्तु आचार्य सम्राट की इस ओर उदासीनता होने के कारण यह कार्य नही हो सका। आपकी अधिक रुचि धार्मिक सस्थाओ के निर्माण और धार्मिक शिक्षा के प्रचार मे रही। आपके सद्प्रयत्नो के फलस्वरूप ही पाथर्डी बोर्ड (अहमदनगर) की परीक्षाओ की व्यवस्था चालू है, जिसके द्वारा जैन समाज के अनेकानेक व्यक्तियों ने तथा विशेषकर सत व साध्वियो ने लाभ उठाया है तथा धर्म-ग्रन्थो का व्यवस्थित अध्ययन किया है। साधु समाज के लिये परीक्षाओ की इस व्यवस्था का महत्त्व अवर्णनीय है।

प्राकृत भाषा के प्रचार मे आपकी गहरी अभिरुचि रही है और इसीलिये उत्तराध्ययन सूत्र, तथा ज्ञातासूत्र आदि का अनुवाद आपकी प्रेरणा के कारण ही विद्वद्वर्य प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के द्वारा किया गया। अनेको चरित्र ग्रन्थ एव उत्तम साहित्य का सृजन भी आपके प्रयत्न व प्रेरणा से हुआ।

किन्तु अब आपके सारगर्भित, जीवन साफल्य मे सहायक एव मर्मस्पर्शी प्रवचनो की माग श्रद्धालु भक्तो की ओर से तीव्रतम होने के कारण इस वर्ष खुशालपुरा श्री सघ ने इस ओर कदम बढ़ाया तथा आशुलेखक श्री नौरतनमल जी मेहता की सहायता से प्रवचनो को लिपिबद्ध करवाकर अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय दिया।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्द जी महाराज ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर पुस्तक पर महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक वचन लिखने की जो महती कृपा की है उसके लिए हम किन शब्दो मे कृतज्ञता ज्ञापित करे।

पुस्तक का सपादन सुश्री कमला जैन 'जीजी' एम ए ने किया है । प्रत्येक विषय को सुव्यवस्थित करने की अनूठी क्षमता और अपनी आकर्षक शैली के द्वारा प्रवचनो को रुचिकर और हृदयग्राही बनाने का आपका प्रयत्न अति सराहीय है।

श्री 'अमर भारती' के सुप्रसिद्ध सम्पादक श्री श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' ने पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेकर इसे सर्वांगीण सौन्दर्य प्रदान करने मे जो सहयोग दिया है, इसके लिये सस्था आपकी आभारी है।

आशा है धर्म-प्रेमीबन्धु इन प्रवचनो को हृदयगम करते हुए अपने जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करेंगे तथा इनसे अधिकाधिक लाभ उठाएँगे।

हमे यह सूचित करने हुए भी हर्ष हो रहा है, कि आचार्य श्री के प्रवचनो का सम्पादन कार्य जारी है और निकट भविष्य मे ही हम प्रवचन सग्रह का दूसरा भाग आप तक पहुँचा सकेंगे।

मत्री
श्री रतन जैन पुस्तकालय
पाथर्डी (अहमदनगर)

द्वितीय संस्करण

राष्ट्रसत आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज साहब के प्रवचनो के प्रकाशन की शृ खला आगे बढती रही और लगभग ४ वर्ष की अवधि मे ही १ से ७ भाग तक प्रकाशित हो गये।

ये प्रवचन अत्यन्त सरल, सारगर्भित और जनोपयोगी सिद्ध हुए है। इधर अगले भागो के प्रकाशन की माँग आ रही है और उधर प्रथम भाग समाप्त भी हो चुका है। प्रथम भाग की पुन-पुन माँग आने से यह द्वितीय सस्करण पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत है। आशा है पाठक इससे भी पूर्ववत् लाभ उठायेंगे।

—मत्री

प्रारम्भिक

अन्तर्मन की गहन-गूढ अनुभूतियों को व्यक्त करने का वाणी एक स्पष्ट, सरल एव सहज साधन है। वाणी की उपलब्धि मनुष्य की बहुत बडी उपलब्धि है। यदि वाणी न होती, तो मनुष्य की क्या स्थिति होती ? क्या वह अन्य पशु-पक्षियो की तरह ही छटपटाता भीतर-ही-भीतर घुट नही जाता ! मूक मनुष्य की अन्तर्वेदना की कल्पना से ही शायद हम सिहर उठेगे। वाणी द्वारा मनुष्य अपने सुख-दुख की अभिव्यक्ति करके हृदय को हलका और प्रसन्न रख सकता है। अपने भावो को प्रकट कर वह आत्मसन्तोष की सास ले सकता है।

प्राचीन काल से ही वाणी को सरस्वती का रूप माना गया है। वैदिक ऋषियों की उक्ति है—**"वाचा सरस्वती भिषग्"** वाणी सरस्वती रूपा है, जीवन के विकारों को दूर करने के लिए वह कुशल चिकित्सक भी है। प्राचीन विचारक भी कहा करते थे—**'कराग्रे वसते लक्ष्मी जिह्वाग्रे च सरस्वती'**—मानव के हाथो मे लक्ष्मी का निवास है, और जिह्वा मे सरस्वती का। भाव इसका यह है कि जिह्वा अर्थात् वाणी मनुष्य के लिए साक्षात् सरस्वती है, यदि कोई उसकी ठीक साधना कर पाए तो।

वाणी के द्वारा ही अतीत को वर्तमान मे उपस्थित किया जा सकता है। हजारो-लाखो वर्ष पूर्व हुए महापुरुषो के दिव्य जीवन का साक्षात्कार, आज हम उनकी वाणी मे ही तो करते है। मानव के दैहिक जीवन से वाणी की आयु लम्बी, बहुत लम्बी होती है। और भविष्य, वह भी तो भविष्य द्रष्टाओ की वाणी मे ही मुखरित होती है। वर्तमान भी वाणी के माध्यम से ही सुदूर भविष्य तक सुरक्षित रह सकता है। वाणी त्रिकाल को स्पर्श करती है, अतीत और अनागत का तो मिलनकेन्द्र होने के नाते वाणी एक सुदृढ सेतु है।

ससार की समस्त ऋद्धि-सिद्धि और समृद्धि मे वाणी एक अद्भुत उपलब्धि मानी गई है। वाणी से उद्भूत एक सुवचन-सुभाषित ससार के समस्त रत्नो से भी

अधिक मूल्यवान होता है। वास्तव मे तो सुभाषित ही सच्चा रत्न है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्न सुभाषितम्।
मूढ़ै पाषाणखण्डेषु रत्न सज्ञा विधीयते ॥

पृथ्वी मे असली रत्न तो तीन ही हैं—जल, अन्न एव सुभाषित। बाकी रत्न तो पत्थर के टुकडे है। जल और अन्न फिर भी सीमित मूल्य रखते हैं। जड शरीर की भूख-प्यास बुझाते तो है, किन्तु क्षणिक ही। वाणी अन्तर्मन की क्षुधा एव तृषा को शान्त करती है, सदा सर्वदा के लिए। एक नन्हा-सा दो चार शब्दो का सुभाषित भी जीवन मे आमूल चूल परिवर्तन ला सकता है, मन को नया मोड दे सकता है और अन्धकार मे ठोकरें खाते मानव के लिए प्रकाश की प्रखर किरण बन सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक—'आनन्द प्रवचन' मे श्रद्धेय महामहिम आचार्यदेव श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के ऐसे ही धीर-गम्भीर वचनो का सुन्दर प्रवाह—'प्रवचन' के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। वे आकृति से भी महासागर की तरह प्रशात-कांत प्रतीत होते है, और प्रकृति से भी। श्रद्धालु श्रोताओ को उनके मन की निर्मलता, सरलता, सौम्यता और भद्रता, उनकी वाणी मे पद-पद पर प्रस्फुटित होती परिलक्षित होगी। उनके अन्तर मे वैराग्य की जो पावन-धारा प्रवाहित हो रही है, वाणी मे उसका शीतल स्पर्श सहज अनुभव किया जा सकता है। ऐसा इन प्रवचनो के सहृदय पाठको को भी अनुभव होगा।

यद्यपि कुछ अन्य प्रवक्ताओ की भाति उनके प्रवचनो मे तूफानी जोश और उत्तेजक शब्दावलियाँ नही मिलेगी, पर उनका प्रभाव तो क्षणिक होता है। आचार्य श्री के प्रवचनो मे एक विशेष धीरता, गम्भीरता, वाणी की समरसता व विचारो की स्थिरता है—जो श्रोता पर अपना स्थायी प्रभाव छोडती है। झझानिल के साथ होने वाली तूफानी वर्षा की अपेक्षा रिम-झिम की वर्षा कही अधिक सुखद एव लाभप्रद होती है, उपज की दृष्टि से। प्रस्तुत सग्रह के कुछ प्रवचन तो ठीक इसी कोटि के है, बहुत ही उपयोगी, बहुत ही मार्मिक!

आचार्य श्री श्रोता के सामने खुले मन के साथ स्पष्ट रूप से उपस्थित होते हैं, अतएव जो कुछ कहना चाहते है वह सहजभाव से कह जाते है। वाणी का बनाव-शृ गार और भावो का दुराव-छिपाव उनके प्रवचनो मे नही मिलेगा, जो कुछ है वह सरल और सहज है। लगता है आचार्य श्री जिह्वा से नही, हृदय से बोलते है। इसलिये उनकी वाणी मन पर सीधा असर करती है। भाव, विशेषत सहजभाव ही वाणी का अन्त प्राण है। वही प्रभावोत्पादक है। भावशून्य वाणी प्रभाव पैदा नही कर सकती। आचार्य श्री की वाणी मे भाव है, इसलिए उसका प्रभाव भी पाठक के मन को निश्चित ही प्रभावित करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

आचार्य श्री के विचारो का प्रवचन रूप मे शायद यह प्रथम ही सग्रह है। किन्तु प्रथम सग्रह भी सभी दृष्टियो से सुन्दर बन पडा है। इसके मूल मे आचार्य श्री के अनन्यतम सेवाभावी श्री कुन्दनऋषि जी की प्रेरणा व भावना का भी स्पष्ट पुट है। उनकी लगन और प्रयत्न से ही आचार्य श्री के इस विचार शरीर को साहित्य का स्थायी एव दिव्य परिवेश प्रदान किया गया है, जिसकी कि बहुत समय से अपेक्षा थी। धर्मशीला बहन कमला 'जीजी' ने इनका सुन्दर सम्पादन किया है और 'सरस' जी ने मुद्रण आदि की दृष्टि से भी इसे भव्यता प्रदान की है। कुल मिलाकर 'आनन्द-प्रवचन' मन को स्थायी आनन्द प्रदान करने मे सक्षम होगा, इसी आशा के साथ ।

जैन भवन

११-२-७२ —उपाध्याय अमरमुनि

आगरा

आभार-दर्शन

श्रद्धेय आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य को व्यवस्थित रूप देकर जन-जन तक पहुँचाने के लिये अनेक उदारचेता धर्मप्रेमी महानुभावो ने सस्था को आर्थिक सहयोग प्रदान कर उत्साह वर्धन किया है। इस प्रकाशन मे सहयोग दाता महानुभावो की शुभनामावली प्रकाशित की जा रही है—आशा है भविष्य मे भी इसी प्रकार सहयोग बल प्राप्त होता रहेगा।

१५०१)	श्री बिजराजजी सुखराजजी सचेती,	मलकापुर
१५००)	श्री चौथमलजी पुखराजजी ओसवाल	बडनेरा
१००१)	श्री केशरचन्दजी गुलाबचन्दजी मुनोत नेवासकर	अहमदनगर
६००)	श्री मैना बाई	देहली
५०१)	श्री जुगमन्दरदास ओमप्रकाश	देहली
५०१)	श्री खजानचीराम मगतरामजी जैन	देहली
५०१)	श्री मानकचन्द जी रतनलालजी सुराणा	दुर्ग
५०१)	श्री दुलीचन्दजी रामलालजी बोथरा	कवर्धा
५०१)	श्री विजयकुमार रामचन्द्र फिरोदिया	साकुर
५०१)	स्व माता श्री पमाणा बाई के स्मरणार्थ C/o घेवरचन्दजी चादमलजी बागमार	गजेन्द्रगढ़
५०१)	श्री रामचन्द जी रतनलालजी बोरा	अहमदनगर
५०१)	श्री धनराजजी घेवरचन्दजी पगारिया	खुशालपुरा
५०१)	श्री रामलालजी सराफ	देहली
५०१)	श्री कचरदासजी मोहनलालजी लोढा	अहमदनगर
३०१)	श्री शान्ता बाई C/o बाबूलाल रेदासणी	जलगाव
२०१)	श्रीमलजी धनराजजी पितलीया	अहमदनगर
२०१)	श्री साहेबराम बाबूलाल फिरोदिया	अहमदनगर
२०१)	श्री मोहनलाल भगवानदास कोठारी	अहमदनगर
१०१)	श्री बनारसीदास पूरणचन्द सोनी	देहली
१०१)	श्री झुम्बरलालजी मदनलाल जी नाहर	बीड

●●

अपनी बात

दीर्घदृष्टि से देखा जाय तो इस विराट जीव-जगत मे हमे दो ही प्रकार के प्राणी दिखाई देते है—ज्ञानी और अज्ञानी। ज्ञानी वे है जो अपने विचार और विवेक से यह समझ लेते हैं कि आत्मा अनश्वर है तथा वर्तमान जीवन आत्मा की एक अवस्था मात्र होने के कारण अल्पकाल पर्यन्त ही रहता है। जब तक आत्मा अपनी विशुद्ध स्थिति को प्राप्त नही कर लेता, तब तक जन्म-मरण से मुक्ति नही मिलती। ऐसा विचार कर ज्ञानी मनुष्य जगत से विमुख हो जाते है तथा आत्म-उत्थान के प्रयत्न मे लग जाते है।

अज्ञानी पुरुष इनसे विपरीत होते हैं। उन्हे आत्मा-अनात्मा, पुण्य-पाप तथा इहलोक और परलोक पर विश्वास नही होता, इनका ज्ञान नही होता। परिणाम स्वरूप वे अल्पकालीन भौतिक उपलब्धियो के लिए स्वार्थान्ध होकर निजत्व को खो बैठते है तथा सर्वज्ञ भगवान द्वारा उपदिष्ट आगमो पर अश्रद्धा रखते हुए धर्म मर्यादा का उल्लघन करने लगते है। इतना ही नही, वे अपने विषाक्त विचारो से जनता को भी गुमराह करने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु इस समय सृष्टि मे सभी मनुष्य एक सी विचारधारा रखने वाले बन जायें यह सम्भव नही है। इस भूतल पर अनेक अलौकिक शक्तियाँ उद्भूत होती है और वे भव्य आत्माएँ जीवन पर्यन्त अपने और जगत्त्राण के प्रयत्न मे लगी रहती हैं।

ऐसे ही युग-पुरुष, श्रमण सघ के सिरमौर आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी महाराज इस जगतीतल पर अवतरित हुए है। जिनकी अमूल्य प्रवचनावलि आज आपके सम्मुख है। प्रारम्भिक जीवन से ही कठोर सयम-साधना के फलस्वरूप आपने अतुलनीय महत्ता और श्रमण सघ का सर्वोच्च भार प्राप्त किया है तथा संसार के अज्ञानाधकार को नष्ट करने के लिए प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हुए है। आपका तपोमय और चारित्रमय जीवन तो प्राणियो को मूक उपदेश देता ही है, साथ ही जीवन की विभिन्न समस्याओ को सुलझाने मे भी आपकी ओजस्वी एव प्रभावशाली वाणी पूर्ण

समर्थ है। आपने जिन-शासन की जो अविस्मरणीय सेवाएँ की हैं, उनका उल्लेख जैन इतिहास मे स्वर्णाक्षरों से अंकित होता चला आ रहा है और होता चला आएगा।

आपकी उच्चतर साधना, भव्य व्यक्तित्व एव आकर्षक सौजन्य आपके चारु-चारित्र के द्योतक है। आबाल वृद्ध सभी आपके वात्सल्य का समान रूप से अनुभव करते हैं आपका सदा यही प्रयत्न रहा है कि हमारी नई पीढ़ी के बालक उत्तम सस्कार और उत्तम शिक्षा के धनी बने तथा सामाजिक कुरीतियो को नष्ट कर सके।

मेरा अहोभाग्य है कि मुझे आप जैसी महानविभूति के प्रवचनो के सम्पादन का गुरुतर भार प्राप्त हुआ है। यद्यपि मैंने सम्पादन कार्य मे पूर्ण सावधानी बरती है, फिर भी अगर कही कोई त्रुटियाँ रह गई हो तो आशा है आप उदारतापूर्वक क्षमा करते हुए उन्हे सुधार कर पढेंगे।

मैं प्रकाण्ड पडिता महामती श्री उमराकुँवर जी महाराज 'अर्चना' का सर्वान्त करण से आभार मानती हूँ, जिन्होने अपने प्रवचनो का सम्पादन कार्य स्थगित करवा-कर मुझे आचार्य श्री जी के प्रवचनो का सम्पादन करने की प्रेरणा प्रदान की तथा समय-समय पर मेरी कठिनाइयो को दूर करते हुए समुचित निर्देशन दिया।

अपने पिताजी प० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होने पूर्व के समान ही इस बार भी मेरा उत्साह और साहस बढाते हुए मार्ग-दर्शन किया।

आशा है प्रस्तुत पुस्तक से पाठको को लाभ होगा तभी मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगी।

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

प्रथम भाग

आनन्द प्रवचन

अनुक्रमणिका

१

मंगलमय धर्म-दीप

धर्मप्रेमी बधुओ ! माताओ एव बहनो !

धर्म जीवन के लिये मार्ग-दर्शक दीपक के समान है। धर्म-दीप की सहायता से ही मानव अपने वास्तविक कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो सकता है। जिस प्रकार दीपक स्वय प्रकाशित होता है तथा अन्य समस्त पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार विवेकवान् व्यक्ति धर्म का अनुयायी बनकर अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाता है तथा और का भी पथ-प्रदर्शक बनता है। जब तक मनुष्य के अन्त करण मे धर्म की ज्योति नही जलती, उसका समस्त आचार-विचार और क्रिया-कलाप निरर्थक साबित होता है। तथा वह आत्म-मुक्ति के मार्ग पर एक कदम भी नही बढ पाता। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार घानी चलानेवाला बैल सारे दिन चलकर भी वही का वही रहता है।

आज का विलक्षण युग

दु ख की बात है कि आज के युग मे धर्म उपेक्षा की वस्तु बन गया है। मानव भूल गया है कि हमारा भारतवर्ष धर्म-प्रधान होने के कारण ही एक महान् देश कहलाता आ रहा है। अगर मानवीय सस्कृति के इतिहास को उलटा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि जब ससार के अन्य समस्त देश और समस्त जातियाँ असभ्य ओर असस्कृत दशा मे पशुओ के समान अपना जीवन-यापन कर रही थी, उस काल मे भी भारतवर्ष धर्म एव सस्कृति के उच्च शिखर पर था।

इस युग के आदिकाल मे भगवान् ऋषभदेव ने जैनधर्म की स्थापना की तथा उनके द्वारा सस्थापित जैनधर्म की गरिमा का भगवान महावीर ने सवर्धन किया। उसके पश्चात भी भगवान के शिष्यो ने इस देश मे भ्रमण करते हुए इसके एक छोर से दूसरे छोर तक धर्म का प्रसार व प्रचार किया। तथा समग्र ससार पर धर्म की तथा इस धर्म-प्रधान भारत की महत्ता अकित की।

किन्तु आज के इस विलक्षण युग मे पाश्चात्य देशों का शासन और प्रभाव होने के कारण हमारे देशवासियो मे भी उन्हीं के जैसे विचार घर कर गए। पश्चिम मे

धर्म का स्थान अत्यन्त गौण है। वहाँ पर धर्म को जीवन का प्रधान और महत्वपूर्ण अग नहीं माना जाता। इसलिए आज हमारे यहाँ भी धर्म उपेक्षा की वस्तु बन गया है। इतना ही नही, अनेक व्यक्ति तो इसे पारस्परिक कलह का मूलकारण कहकर इसका बहिष्कार करने का उपदेश देने मे भी नही चूकते।

इसका कारण मानव की धर्म सम्बन्धी अनभिज्ञता ही है। वे नही जानते कि धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है? केवल बाह्य क्रिया-कांडो को धर्म समझ लेना तथा उनके कारण विभिन्न धर्मावलम्बियो को आपस मे झगडते देखकर धर्म के नाम का ही त्याग कर देना उनकी बडी भारी भूल है। हमारी नई पीढी के युवको का यही हाल है। वे स्वय तो धर्म को समझने तथा उसके सच्चे स्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं करते केवल दूर से ही धर्म के नाम पर होने वाले मतभेदो और कलहो को देखते है तथा 'धर्म' नाम का त्याग करने मे अपनी बुद्धिमानी मानते है। ऐसे नादान प्राणियो को ही मुझे धर्म का सच्चा स्वरूप सक्षेप मे बताना है।

धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है?

जैन-शास्त्र धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित करते है वह इतना सरल, उदार सार्व और सुन्दर है कि प्रत्येक मानव उसे सहज भाव से ग्रहण कर सकता है। धर्म का वह स्वरूप प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक मानव के लिए समान रूप से उपादेय है। दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ मे ही कहा गया है—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो॥

जो उत्कृष्ट मगलमय है वही धर्म है। प्रश्न उठता है कि प्राणी के लिये मगलमय क्या हो सकता है? मगलमय का अर्थ है—जो आत्मा की बुराइयो और पापो को नष्ट करे तथा सुख एव शाति प्रदान करे। धर्म यही करता है, और इसीलिए वह मगलमय है। दूसरे शब्दो मे जो प्राणी मात्र के लिये मगलमय है, उसी का नाम धर्म है।

आगे कहा जा सकता है कि ऐसे कौन से विधि विधान है, जिनके द्वारा सबका 'मगल' हो सकता है? शास्त्र मे इसी का उत्तर है—अहिंसा, सयम और तप की आराधना करने से मानव का मगल होता है तथा उसकी आत्मा का कल्याण हो सकता है। इतना ही नही, ऐसे धर्म को धारण करने वाले को देवता भी नमस्कार करते हैं।

अहिंसा परमो धर्म

महाभारत मे कहा गया है कि अहिंसा ही सर्वोत्तम धर्म है। वैसे भी अहिंसा के महत्त्व को कौन नहीं समझता और कौन नही अनुभव करता कि आज विश्व को अहिंसा रूपी धर्म की कितनी आवश्यकता है? आज ससार भीषण महायुद्धो से तथा

आपसी मार-काट से त्रस्त हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार जगत मे शाति का वातावरण स्थापित हो जाए। किन्तु वह शाति क्या हिंसा से मिल सकती है ? नही, अहिंसा के द्वारा ही ससार मे शाति की स्थापना हो सकती है। और इस प्रकार हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की शक्ति अधिक शक्तिशाली साबित होती है।

अहिंसा रूपी दिव्यास्त्र के द्वारा ही भारत ने सैकडो वर्षों की दासता के बधन को काटा और आज भी भारत अपनी अहिंसक नीति पर चल रहा है। हिंसा कभी भी और कही भी उत्तम फल प्रदान नही कर सकती। कहा भी है—

"प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वध क्वापि सुकृतम्।"

प्राणियो की हिंसा कभी और कही पर भी पुण्य को उत्पन्न करने वाली नही होती। यह तो एकान्त रूप से जघन्यतम पाप ही है।

इसलिये प्रत्येक प्राणी को हिंसा की भावना का परित्याग करके करुणा और दया की भावना को हृदय मे स्थान देना चाहिये। दयावान पुरुष दूसरो को सुख पहुंचाता है तथा स्वय भी सन्तोष और सुख का अनुभव करता है। महाकवि शेक्सपियर ने भी कहा है —

Mercy is twice blessed, it blesseth him that gives, and him that takes.

दया दोतरफी कृपा है। इसकी कृपा दाता पर भी होती है और पात्र पर भी।

वास्तव मे ही दया मानवता का सर्वोच्च लक्षण है, जिसे धारण करने वाला व्यक्ति परम शाति का अनुभव करता है। दयालु व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।' सिद्धान्त को अपना लेता है तथा कबीर के शब्दो मे कहता है—

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
साई के सब जीव हैं, कीरी कुजर दोय॥

अर्थात्—किस पर दया करें और किस पर न करें। छोटी सी चीटी से लेकर विशालकाय हाथी जैसे सभी प्राणी तो एक ही परमात्मा के अश है।

महापुरुष ऐसे ही समदर्शी होते हैं। उन्हे प्रत्येक प्राणी की आत्मा मे परमात्मा दिखाई देता है। कहते हैं कि एक बार सत नामदेव अपने लिये खाना बना रहे थे। मोका पाकर एक कुत्ता उनकी बनाई हुई रोटियाँ ले भागा। यह देखते ही नामदेव हाथ मे घी की कटोरी लेकर यह कहते हुए दौडे—"भगवन्! रोटियाँ रूखी हैं। कृपया घी लगा देने दीजिए फिर भोग लगाइये।"

प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा को देखने वाले ऐसे महापुरुष ही धर्म के सच्चे स्वरूप को समझते है तथा अहिंसा धर्म की आराधना कर सकते है।

सयम

धर्म का दूसरा स्वरूप सयम है। सयम का अर्थ है—नियत्रण। अपने मन को वश मे रखना तथा अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ पर नियत्रण रखना ही सयम कहलाता है। कोई भी व्यक्ति या देश जब अपनी आवश्यकताओ को सीमा से अधिक बढा लेता है तथा अपनी कामनाओ पर नियत्रण न रख सकने के कारण दूसरो का हक छीनने पर आमादा होता है तो वही हिंसा का जन्म हो जाता है। इसलिए अहिंसा का पालन करने के लिये सयम की अनिवार्य आवश्यकता है।

आज के युग मे मनुष्यो की मनोवृत्तियाँ अत्यन्त दूषित हो गई है। जिसे देखो, वही नीति-अनीति या पाप-पुण्य की परवाह किए बिना धन सग्रह करने मे जुटा हुआ है। कहा भी है—

तृष्णावश है जगजीव सभी, हित काज अकाज कछु न विचारे।
धन सहस्र हुये तो चहे लख कोटि, असख्य अनत हि चाह प्रसारे॥
जिमि ई धन डारत वह्नि बढ़े, तिमही तृष्णा धन चाह वधारे।
चित्त धारत ज्ञान सतोष अमोरिख तो जियके सब काज सुधारे॥

धन एव भोग-विलास के साधनो का इच्छुक व्यक्ति अपनी आत्मा को सर्वथा भुला बैठता है। उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और कामनाएँ केवल सासारिक पदार्थों तक ही सीमित होती है तथा उसका समस्त प्रयत्न इन्ही वस्तुओ के लिये होता है। वह इस परिग्रह की बदौलत सुख पाना चाहता है किन्तु परिणाम उलटा ही निकलता है।

जब तक मानव धन-सम्पत्ति मे आसक्त होकर उससे सुख पाने की आशा करता है, तब तक शाति का अनुभव नही कर पाता। उलटे तृष्णा की आग मे जलता रहता है। धन का लोभ और लालच मनुष्य को कभी भी आत्मिक और सच्चे सुख का अनुभव नही होने देता। तभी कहा गया है—

"Gold is worse poison to men's soles than any mortal drug"

—शेक्सपियर

—सब प्रकार के विषैले पदार्थों मे, मनुष्य की आत्मा के लिये, धन महा भयकर विष है।

वास्तव मे ही धन मानव के लिये महान दुखो का कारण बनता है। इसके लालच मे आकर वह झूठ बोलता है, चोरी करता है तथा हत्या जैसे महापाप से भी नही बच पाता। वह नाना प्रकार की यातनाएँ सहकर तथा गरीबो का शोषण करके भी धनवान बनना चाहता है, क्योकि उसे ससार के सारे सुखो का खजाना धन मे ही दिखाई देता है।

किन्तु बधुओ! क्या धन से मनुष्य की आत्मा को कभी तृप्ति, शाति और निराकुलता प्राप्त हुई है? धन के द्वारा सुख की आकाक्षा करना क्या मृगतृष्णा के

समान ही नहीं है ? अगर ऐसा न होता तो सिकन्दर महान् मृत्यु के समय अपने समस्त धन का अम्बार लगाकर उस पर अश्रुपात करता हुआ क्यों कहता—"हाय, इसी सम्पत्ति के लिये मैंने जीवन भर भयंकर संग्राम किये, लाखों माताओं को पुत्रहीन बनाया, सौभाग्यवती नारियों का सुहाग लूटा, पर अन्त में यह मेरे साथ नहीं चल सकी ।"

सिकन्दर की अन्तिम आज्ञा यही थी कि मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखना, ताकि मेरी शव यात्रा में साथ रहने वाले सब लोग जान लें कि मैं खाली हाथ जा रहा हूँ और मेरे समान ही मूर्खता वे न करें ।

कितना मर्मस्पर्शी उदाहरण है ? वास्तव में ही धन कितना भी क्यों न इकट्ठा कर लिया जाय, छः खण्ड का राज्य भी क्यों न मिल जाय, उससे मानव की आत्मा शांति का अनुभव नहीं कर सकती । सुख का वास्तविक और अक्षयकोष तो आत्मा में ही है और समस्त धन-लिप्सा का त्याग करके आत्मा में रमण करने पर ही वह प्राप्त हो सकता है ।

कहते हैं कि एक बार कोई फक्कड़ सन्त मार्ग पर चल रहे थे । सामने से एक बादशाह अपनी सेना के साथ गुजरने लगे ।

सन्त को देखकर बादशाह ने उन्हें प्रणाम किया तो सहज ही सन्त ने पूछा—"कहाँ जा रहे हो ?"

"हिन्दुस्तान को जीतने ।' बादशाह ने उत्तर दिया ।

"अच्छा, हिन्दुस्तान को जीतने के बाद फिर क्या करोगे ?"

बादशाह ने कई देशों के नाम गिना दिये कि उन्हें भी जीतूँगा ।

"उसके बाद ?" सन्त मुस्कराते हुए बोले ।

"उसके बाद और भी अनेक देश जीतकर सारी पृथ्वी का बादशाह बनूंगा । मैं सिकन्दर हूँ, यूनान का बादशाह ।"

"ओह, तो बादशाह सिकन्दर, तुम सारी पृथ्वी के मालिक बनकर फिर क्या करोगे ?"

"कुछ नहीं, फिर तो मैं शांति धारण कर लूँगा ।"

"तो भाई !, इतनी परेशानियाँ और मुसीबतों के बाद धारण करने वाली शांति को अभी ही क्यों नहीं अपना लेते ?" कहते हुए संत तो अपने रास्ते पर चल दिये पर सिकन्दर ने उनकी बात नहीं मानी और अन्त में जैसाकि मैंने अभी बताया था, उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ा ।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि मानव तभी शान्ति का अनुभव कर सकता है, जबकि वह समस्त बाह्य पदार्थों के प्रति रही हुई अपनी आसक्ति और कामनाओं का त्याग कर दे । तथा यह विचार करे कि मुझे मनुष्य जन्म किसलिये मिला है ?

इस जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए ? तथा इस लक्ष्य की पूर्ति किन साधनो से हो सकती है ?

आज के इस वैज्ञानिक युग मे नाना प्रकार के असख्य आविष्कार हुए हैं, जिनके कारण मानव की भोग-लिप्सा को अतीव प्रश्रय मिला है और वह उनके उपयोग मे लीन होकर अपनी पुरातन सस्कृति और विचार धारा को भूल गया है। उसे यह भी ध्यान नही है कि आध्यात्मिक भावना का परित्याग करके कोरी भौतिकता के पीछे पडे रहने से जीवन कितना असात्त्विक, असयमित और अपवित्र बन जाता है।

सयम जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य है, जिसके अभाव मे बाह्य सौन्दर्य कितना भी बढा-चढा क्यो न हो, फीका और निस्सार मालूम देता है। जो व्यक्ति आत्मिक सौन्दर्य का महत्त्व समझ लेता है वह सयम और नियम मे अपने मन को आबद्ध करता है। उसके जीवन का एक-एक कण सयम की ज्योति से जगमगाता रहता है।

सयम का अर्थ है—आत्मनिग्रह करना, मन, वचन और शरीर पर नियन्त्रण रखना तथा इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना। अपने आपको इस प्रकार नियन्त्रण मे रखने वाला भव्य प्राणी ही अपनी आत्मिकशक्ति को जगा सकता है। भगवान महावीर ने भी ससार—सागर मे गोते लगाने वाले प्राणियो को यही उपदेश दिया है —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होई अस्सि लोए परत्थ य।।

अपनी आत्मा का, अपने मन, इन्द्रिय और वाणी का दमन करना चाहिए। वास्तव मे अपने आपका दमन करना दु साध्य है। जो अपने आपका दमन कर लेता है, वह इस लोक और परलोक दोनो मे सुखी होता है।

आज मानव के जीवन मे सयम का अभाव है। उसका जीवन पाश्चात्य सस्कृति की चकाचौध मे पडकर विलासिता मे बहता है। इन्द्रियो की दासता मे जकड गया है तथा भोगो के चक्कर म फसकर आत्म-मान को भूल बैठा है। सक्षेप मे अपने मन पर काबू न रख पाने के कारण वह आत्मोन्नति की बजाय आत्म-अवनति के मार्ग पर चल पडा है। इसी का परिणाम है कि उसके जीवन से शान्ति का लोप हो गया है और अशान्ति की भूल-भुलैया म भटक रहा है। उसका मन सुख और शान्ति की आकाक्षा करता हुआ भी उन्हे पा नही रहा है।

सत्य तो यह है कि जीवन को उच्च, पवित्र, समतामय एव सुखमय बनाने के लिये इन्द्रियो को वश मे करना अनिवार्य है। किन्तु इन्द्रियो का स्वामी मन है और जब तक मन वश म नहीं हो जाता, इन्द्रियाँ वश मे नही हो पाती तथा आत्म-सयम के द्वारा आत्मिक सुख पाने की कामना गूलर का फूल बन कर रह जाती है। इसीलिये हमारे शास्त्र मे कहा है—

एगे जिए जिआ पच, पच जिए जिआ दस।
दसहा उ जिणित्ताण सव्वसत्तू जिणामहं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

—(मन) को जीत लेने पर पाँच (इन्द्रियो) को जीत लिया जाता है और पाँच को जीत लेने पर दस अर्थात् एक मन, पाँच इन्द्रियाँ और चार कषाय—ये सभी जीत लिए जाते है। इन दसो को जिसने जीत लिया, उसने सभी आत्मिक शत्रुओ को जीत लिया।

जो भव्य जीव भगवान के इस आदेश को सुनकर सचेत हो जाते है, वे ही जीवन के रहस्य को समझकर आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते है तथा सासारिक पदार्थों की नश्वरता और सासारिक सम्बन्धो की विच्छिन्नता को समझते है। उन्ही व्यक्तियो का चित्त निर्मल, भावना शुद्ध और क्रियाएँ निष्कपट बनती है। उनके हृदयो मे जीव मात्र के प्रति असीम करुणा और प्रेम का अजस्र प्रवाह बहने लगता है। परिणाम यह होता है कि उनके द्वारा किसी भी प्राणी का अनिष्ट नही होता तथा ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर ही उनके सयम का विकास होता है जो कि धर्म का दूसरा रूप है।

तप

तप धर्म का तीसरा रूप बतलाया गया है। सयम रखने के लिए कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। स्वेच्छापूर्वक कष्टो का सहन करना ही तप है। जीवन मे जब तप को स्थान मिलता है तो अहिसा और सयम का निर्वाह भी भली-भाँति होने लगता है।

कई व्यक्ति कहत है कि तप करना मूर्खों का काम है, क्योकि पाप तो आत्मा करती है और तप करके शरीर को सुखाया जाता है। शरीर को भूखा-प्यासा रखने तथा शीत और ग्रीष्मादि कष्टो मे डालने से आत्मा को क्या लाभ है ?

एसे अज्ञानी व्यक्तियो से पूछना चाहिए कि मक्खन मे से घी निकालने के लिये तुम उसे बर्तन मे रखकर आग पर क्यो रखते हो ? घी मक्खन मे होता है न कि बर्तन मे। तब फिर बर्तन को व्यर्थ ही तपाने का क्या कारण है ? उत्तर यही मिलेगा कि पात्र म रखकर तपाये बिना घी नही निकल सकना। मक्खन को सीधा ही आग मे झोक दिया जाय तो वह भस्म हो जाएगा।

ठीक इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार मक्खन को शुद्ध कर घी निकालने के लिये पात्र को तपाना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध करने के लिये आत्मा के आश्रयरूप शरीर को भी तपाना आवश्यक ही नही, वरन् अनिवार्य है। कहा भी है —

"तपोऽग्निा ताप्यमानस्तथा जीवो विशुद्ध्यति।"

—योगशास्त्र

—कर्म-मल से सयुक्त आत्मा तप रूप अग्नि से तपाया जाकर पवित्र बन जाता है। अर्थात् कर्म-मल से रहित हो जाता है।

तप की महिमा महान है। तप के द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है तथा पाप एव अपूर्णता को दूर करके अपने चरित्र को उज्ज्वल और निर्मल बनाता है। तप जीवन की एक प्रखर और महान् शक्ति हैं। इसके द्वारा आत्मा मे लिपटी हुई समस्त कर्मरज विनष्ट हो जाती है। तप के प्रभाव से आत्मा शुद्ध-बुद्ध होकर अपने स्वाभाविक प्रकाशमान रूप मे अवस्थित हो जाती है। तभी कहा गया है —

"सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।"

तपश्चरण करने के इच्छुक साधक को यह जानना भी आवश्यक है कि तप का सच्चा स्वरूप क्या है ? केवल आहार ग्रहण न करना ही तप नही है। अनशन के अतिरिक्त तप के ग्यारह और भी प्रकार भगवान ने बताए है जो कि तप के समान ही उपादेय है।

साधन का मार्ग यद्यपि सरल नही है किन्तु तप के प्रभाव से वह सरल बनता है। तपाराधन करने वाले साधक मे कुछ विशेष गुण होने भी आवश्यक है। यथा— उसकी वाणी पवित्र और प्रिय हो, उसका हृदय क्रोध और अहकार से रहित हो। भगवान महावीर ने तो तपस्वी के लिए क्रोध और मान को अपथ्य कहा है।

अपथ्य सेवन करने से जिस प्रकार दवा का प्रभाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या के साथ ही अगर क्रोध और मान रहा तो तपस्वी की समस्त तपश्चर्या निरर्थक चली जाती है। एक श्लोक म कहा भी गया है —

विनयेन विना चीर्णम् अभिमानेन सयुतम्।
महच्चापि तपो व्यर्थम-इत्येत्ववधार्यताम्॥

अर्थात्—यह समझ लेना चाहिए कि विनय के बिना और अभिमान के साथ किया हुआ महान तप भी व्यर्थ चला जाता है।

सच्चा तपस्वी अपने मन और आत्मा को अपने समस्त बाह्य परिवेश से पृथक् कर लेता है। यद्यपि उसके जीवन मे कठिनाइयाँ आती है पर वह साहस और निर्लेपभाव मे उनका सामना करता हुआ उन्हे अपने मार्ग मे सहायक बना लेता है। निर्लेप और नि स्वार्थ भाव से किया हुआ तप ही उसके कर्मों की निर्जरा मे सहायक बनता है पूजा—प्रतिष्ठा अथवा यश की कामना से किया हुआ नही। उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान ने स्पष्ट कहा भी है —

"वेएज्ज निज्जरापेही।
समाहिकामे समणे तवस्सी॥"

—तपस्वी केवल निर्जरापेक्ष होकर ही तपस्या करे अथवा समाधि की कामना से तपस्या करे।

जो तपस्वी भगवान के इस आदेश को मानकर सच्चा तप करते है, वे समस्त कर्मों की निर्जरा करके अपनी आत्मा को शुद्ध-बुद्ध बना कर मानव पर्याय सार्थक करते हैं।

जैनधर्म की महत्ता

बधुओ, आशा है कि आपने अहिंसा, सयम और तप रूप मगलमय धर्म के स्वरूप को समझ लिया होगा। इसमे सन्देह नही है कि आज जैन धर्म के अनुयायियों की सख्या अधिक नही है। अत्यल्प है किन्तु दीर्घदृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है कि जैनधर्म के सिद्धातो का प्रभाव आज भी प्रत्येक धर्म के अन्दर झलक रहा है। भगवान महावीर के उपदेश आज भी जगत का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

इसका कारण यही है कि जैन धर्म ने धर्म की यह जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार धम किसी देश, काल या जाति के लिये नही है, यह तो सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक धर्म है। जीवन के दो अग होते है। आचार और विचार। जैन धर्म ने आचार मे सर्वप्रथम अहिंसा को स्थान दिया है तथा विचार मे अनेकान्तवाद को स्थान देकर अपनी महत्ता को बढाया है। अहिंसा मे द्वारा जहाँ इसने समस्त सृष्टि की मगल-कामना की है, अनेकान्त के द्वारा सभी धर्मों के पारस्परिक विरोध को नष्ट करने का प्रयत्न किया है।

इन सब लक्षणो पर विचार करने से यही मालूम होता है कि धर्म मानवमात्र के लिए ही नही वरन् प्राणी मात्र की सुख-समृद्धि और उसके अभ्युदय के लिये है। धर्म ससार के समस्त जीवो के लिये वरदान रूप बन कर इस भूमण्डल पर अवतरित हुआ है। धर्म ही मानव मे मानवता की प्रतिष्ठा करता है तथा दानवीय वृत्ति को निकालता है। इसकी प्रेरणा के अभाव मे मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफलता और सिद्धि हासिल नही कर सकता। इसीलिये आवश्यक है कि वह धर्म को परखे तथा उसकी रक्षा करे।

धर्म की परख और उसकी रक्षा

हमारा भारतवर्ष अनेक धर्मों का सगम स्थान है अत अनजान व्यक्ति जब धर्म की परख करने जाता है तो चक्कर मे पड जाता है कि सच्चा धर्म कहाँ है ? वह नही जान पाता कि धर्म को वह मन्दिर मे ढूँढे या मसजिद मे, गिरजाघर मे देखे या गुरुद्वारे मे। वह देखता है कि जितने भी धर्मावलम्बी है वे सब अपनी-अपनी क्रियाओ मे ही धर्म का निहित होना मानते है। ऐसे भ्रम मे फँसे हुए व्यक्तियो को भगवान महावीर का निर्णय ही उनकी सशयास्पद स्थिति से उबार सकता है।

'पन्नासमिक्खए धम्मं तत्त तत्तविणिच्छियं।'

—वास्तविकता की कसौटी पर कसे हुए धर्म तत्त्व की अपनी बुद्धि से ही परीक्षा की जा सकती है।

विश्व के अनेक विचारकों ने धर्म की भिन्न-भिन्न व्याख्या की हैं तथा अब तक धर्म की हजारों परिभाषाएँ दी जा चुकी हैं। किंतु अगर मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझना है तो उसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की एक छोटी सी परिभाषा पर ध्यान देना चाहिये। उन्होने कहा है—

"वत्थुसहावो धम्मो।"

वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है।

जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता, अग्नि का स्वभाव उष्णता, शक्कर का स्वभाव मीठापन और नमक का स्वभाव खारापन है उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन एव चारित्रमय है। सत्, चित् एव आनन्दमय है, आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव मे रहे तो निश्चय ही कहा जा सकता है वह धर्ममय है। अभी मैंने आप लोगो को अहिंसा, सयम और तप के विषय मे काफी बताया है। ये तीनो आत्मा के स्वाभाविक और निजी गुण है। इसीलिए इन्हे हमारे शास्त्रकारो ने धर्म कहा है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह भली-भाति माना जा सकता है कि आत्मा को अपने सहज स्वभाव की प्राप्ति केवल अहिंसा, सयम और तप मे स्थित रहकर ही हो सकती है। अहिंसा, सयम और तपरूप यह त्रिवेणी ही दूसरे शब्दो मे मगलमय धर्म कहलाती है, जिसकी आराधना करके किसी देश का, किसी भी जाति का और किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त कर परमात्मा बन सकता है।

किन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन मे धर्म का स्थान नही देते तथा उसकी उपेक्षा करते है, उसके लिये समझना चाहिये कि वे अपने अमूल्य मानव भव को निरर्थक कर रहे है। क्योकि इस दुर्लभ मानव जीवन की प्राप्ति महान पुण्यो के उदय से होती है। ससार की असख्य योनियो मे भटकने के पश्चात् मनुष्य योनि की प्राप्ति करना कितना कठिन है?

पर इसे पाकर भी जो व्यक्ति अपने भविष्य को उज्ज्वल नही बनाते, मानव जीवन का जो चरम लक्ष्य है अक्षय और अव्याबाध सुख की प्राप्ति करना, उसके लिये भी प्रयत्न नही करते तो उनका मनुष्य जन्म प्राप्त करना न करना समान ही है। किसी ने कितना सत्य कहा है —

आनन्दरूपो निजबोधरूपो,
दिव्यस्वरूपो बहुनामरूप।
तप समाधौ कलितो न येन,
वृथा गत तस्य नरस्य जीवितम्,

—जिस मनुष्य ने तपस्या करके तथा समाधिधारण करके अपनी आत्मा के अनन्त आनन्दमय स्वरूप को नही समझा, जिसने अपने चेतनस्वरूप को नही जाना, नही पहचाना तथा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया उसका जीवन व्यर्थ ही चला गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति धर्म को अपने जीवन मे नही उतारता तथा उसकी रक्षा नहीं करता उसका जीवन अकारथ ही चला जाता है। महाभारत मे वेदव्यास जी ने कहा भी है —

"धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित ।"

अर्थात्—यदि हम धर्म को सुरक्षित रखेंगे तो वह हमारी रक्षा करेगा। और अगर हम धर्म को खत्म कर देंगे तो वह हमारा अस्तित्व नष्ट कर देगा।

इसीलिये मानव को चाहिए कि वह धर्म के रहस्य को परखे, उसे जीवन मे उतारे और उसकी रक्षा करने का सतत प्रयत्न करे।

दुर्लभ मानव-जीवन और धर्म

ससार का कौनसा व्यक्ति नही जानता कि मानव-जीवन अत्यन्त दुर्लभ है और इसके अमूल्य क्षण एक-एक करके व्यतीत हो जायेगे कोई भी मनुष्य चाहे वह विद्वान हो या मूर्ख, धनवान हो या निर्धन, वीर हो या कायर अथवा बलवान हो या निर्बल सदा काल के लिए जीवित नही रह सकता।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को विचार करना चाहिये कि वह अपने इस लघु और नश्वर जीवन का सदुपयोग कैसे करें ? अगर व्यक्ति समझदार और विवेकवान है तो वह सहज ही जान लेता है कि जीवन का सदुपयोग बडा परिवार होने और उसके ममत्व मे गृद्ध होने मे नही होता, धन का अम्बार लगाकर भोग-विलास के अगणित साधन जुटा लेने से नही होता अथवा झूठी प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़ा लेने से भी नही होता है।

प्रश्न उठना है कि तब फिर जीवन का सदुपयोग कैसे हो सकता है ? इस नश्वर शरीर से क्या लाभ लिया जा सकता है। इस विषय मे पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज कहते है —

आयु असार बिचार हिये थिर अजुलो को नहि रेवत पानी।
देह उदारिक नाश हुवे निज मानि ममत्व करे अभिमानी।
काल बली सिर छाय रह्यो कित पूरि भये लहि आवत तानी।
सुकृत साध आराध सुधर्म अमीरिख मर्म पिछान सुज्ञानी ।।

कितना सुन्दर उद्बोधन है ! कहा—अरे सुज्ञानी जीव ! जिस प्रकार अजुलि मे भरा हुआ पानी एक-एक बूंद करके नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार इस जीवन का एक-एक क्षण व्यतीत हो जाता है अत इस नश्वर देह को अपनी मानकर इसका अभिमान मत कर और न ही इसमे ममत्व रख।'

'यह मत भूल कि काल तेरे मस्तक पर मडरा रहा है और समय होते यह तुझे लेकर चलता बनेगा। इसलिये तू सच्चे धर्म का मर्म समझ और उसकी आराधना करके आत्म-कल्याण का प्रयत्न कर।'

वास्तव मे ही काल बली है, यह वाक्य तो हम जीवन मे असख्य बार दोहराते है पर इस बात पर कहाँ विश्वास करते है कि हमारी आत्मा उससे भी अधिक बलशाली है और अगर हम अपने मनोयोग को दृढतर बना ले तो अत्यल्प काल मे ही काल को सदा के लिये जीत सकते है । वीतराग प्रभु का कथन भी है —

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते ।
य सप्तमी क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ।।

सर्वज्ञ प्रभु के मत मे मनोयोग को इतना बलशाली बताया गया है कि वह आधे क्षण मे जहा सातवे नरक मे पहुँचा सकता है, वहाँ आधे क्षण मे ही समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष मे ही पहुँचा देता है ।

इसलिये बन्धुओ, हमे काल की दुहाई देना छोडकर तथा इसकी शक्ति से निराश होकर निष्ठापूर्वक धर्माचरण करते हुए अनन्तसुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना है । पर यह तभी होगा जबकि हम प्रमाद का त्याग करेगे और तत्पश्चात् सच्चे धर्म की परख करके उसको जीवन मे उतारेंगे । प्रमाद और अज्ञान के अधकार मे डूबे रहने मे तो कुछ भी हासिल होना सभव नही है । हमे मार्ग खोजना है और वह मुक्ति का मार्ग केवल धर्म-रूपी दीपक की अमर ज्योति मे ही मिल सकेगा ।

आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को अनन्त सुख और शाश्वत शाति की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये और ये दोनो धर्माचरण मे ही निहित है । अन्यत्र कही इसकी खोज करना मृग-मरीचिका मे फसकर भटकते रहना मात्र ही है ।

सासारिक भोगो का कही अत नही है । विचार करने की बात है कि क्या उन्हे भोगने से तृप्ति होती है ? कभी नही ! जिस प्रकार अग्नि मे निरन्तर आहुति डालते रहने पर भी वह शात नही होती उलटे भडकती जाती है, उसी प्रकार अनन्त भोग सामग्री मिलने पर भी मनुष्य की भोग-लालसा सदा अतृप्त ही बनी रहती है । धन की लालसा अथवा स्त्री, पुत्र, भाई, पिता आदि सासारिक सम्बन्धियो के प्रति मोह मनुष्य को अधा बना देता है । और उसकी ससार मुक्त होने की कामना पर पानी फेर देता है । मोहकर्म की भयानकता बताए हुए किसी कवि ने कहा है —

मोह-वह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं सयमश्रियम् ।
छेत्तु रागद्रुमोद्यान, समत्वमवलम्ब्यताम् ।।

मोह अग्नि के समान है । अग्नि का सताप तो देह पर अल्पकालीन असर डालता है, किन्तु मोह-जनित सताप आत्मा को तपाता हुआ चिरकाल पर्यन्त भव-भ्रमण कराता है । आठ कर्मों मे मोहकर्म की स्थिति ही सबसे अधिक सत्तर कोटा-कोटी सागर की है । मोह कर्म जब आता है । तो कई सद्गुणो को भस्म कर देता है । इसके ताप से समग्र ससार पीडित है किन्तु फिर भी इसकी मोहिनी शक्ति से जीव अपना पिण्ड नही छुडा पाते ।

किन्तु अगर मानव को इस ससार-चक्र से छूटना है तो उसे अपना विवेक जगाना होगा। ससार के प्रति रही हुई अपनी आसक्ति का त्याग करना होगा। उसे सोचना ही पडेगा कि यह जीवन धर्म-साधना के लिये है न कि ससार मे लिप्त रहकर आत्मनाश के लिये। ससार मे आसक्त रहने से आत्मा का कल्याण होना कभी भी सम्भव नही है। इसलिये महापुरुष और सतजन आतरिक और बाह्य परिग्रह का त्याग करके धर्म का आश्रय लेते हैं। वे स्वय भी ससार से विरक्त होकर आत्म-साधना करते हैं और ससार मे गृद्ध अन्य प्राणियो को भी उद्‌बोधन देते हुए कहते है —

ढील करे मत तू छिन की करले झट सुकृत लाभ कमाई।
बैठो एकान्त करो मन ठाम जपो जिनराज सुध्यान लगाई॥
दान, दया, सजम मारग श्री गुरु सेव करो चित्त लाई।
अमृत चित्त अलेप रखो नर देह धरे को यही फल भाई॥

महापुरुष श्री अमीऋषि जी महाराज की कितनी भाव-भरी चेतावनी है ? कहा है—हे जीव ! अगर तुझे अपनी नर-देह अर्थात् मानव-पर्याय को सार्थक करना है तो क्षण भर का भी प्रमाद किये बिना सुकृत कर। अपने मन को स्थिर रखकर एकान्त मे बैठ और वीतराग का स्मरण कर। सदा अपने गुरु के उपदेशो को जीवन मे उतार और दान, दया, तप एव सयमरूप धर्म की आराधना कर। तभी तुझे नर देह धारण करने का कुछ फल मिल सकेगा।'

वास्तव मे ही उसी नर-श्रेष्ठ का जीवन सफल माना जा सकता है जो अपने पुरुषार्थ से समस्त कर्मों का नाश करके अपनी आत्मा को ससार-मुक्त करले। कहा भी है —

है मानव जीवन सफल उसी नर-वर का,
जिसने सोखा जल सकल कर्म सागर का।
अति पुण्यवान महिमान निधान जगजाना,
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना॥

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

कवि का कथन कितना सुन्दर और यथार्थ है ? प्रत्येक मुमुक्षु को इससे शिक्षा लेकर धर्म को उसके सच्चे रूप मे अपनाना चाहिये तथा अपनी दृढ साधना से ऐसा पुरुषार्थ जगाना चाहिये कि समस्त कर्मों के दृढ बन्धन भी तडातड टूट जायें।

अस्तु, जीवन अमूल्य और दुर्लभ है। अज्ञान और प्रमाद मे पडे रहकर इसकी उपेक्षा करना इसे मिट्टी के मोल गवा देने के समान है। अत प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक मानव को मगलमय धर्म का आधार दृढता से ग्रहण करना चाहिये। धर्म की अमरज्योति ही इस ससाररूपी अरण्य मे भटकते हुए जीव को सही मार्ग बता सकती है, तथा उसे अनन्त सुख और शाश्वत शाति रूपी अमर-पथ की प्राप्ति करा सकती है। धर्म की शरण मे जाने पर ही आत्मा का कल्याण और मंगल हो सकेगा।

☆

२ | प्रार्थना के इन स्वरों में

धर्मप्रेमी बन्धुओ ! माताओ एव बहनो !!

श्री रायप्रसेणी सूत्र मे सूर्याभदेवता का वर्णन चल रहा है। सूर्याभ देवता स्वर्ग से ही भगवान महावीर प्रभु की स्तुति करते है।

कैसे हैं भगवान !

स्वर्ग के देवता भी जिनकी स्तुति करते है, वे भगवान कैसे है ? द्वीप के समान। हम और आप भी उन्हे दीवोत्ताण कहते है। नमोत्थुण के पाठ मे यह शब्द आया है। द्वीप किसे कहते है ? चारो ओर पानी, और उसके बीच मे जो सूखा स्थान होता है उसे द्वीप कहा जाता है। जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है। इसके चारो ओर दो लाख योजन का लम्बा-चौडा समुद्र है। जम्बूद्वीप उसके बीच मे एक आश्रयभूत स्थान है, सहारा है।

पानी के अन्दर द्वीप का होना, पानी मे डूबते हुए प्राणी के लिए विश्राम स्थल और आश्रय-स्थान बनता है। इसी प्रकार इस ससार-रूपी सागर मे 'धर्म' द्वीप के समान है तथा इसमे डूबते हुए प्राणियो के लिए सहारा और आश्रय-स्थान है। द्वीप जल मे डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार सहारा देता है उसी प्रकार 'धर्म' भव-सागर मे गोते लगाती हुई आत्मा को शरण देता है।

अद्भुतशक्ति का स्रोत प्रार्थना

सूर्याभ देवता धर्म के मूर्त-रूप भगवान महावीर की स्तुति अथवा प्रार्थना कर रहे है ! जिज्ञासा होती है कि प्रार्थना क्यो की जाती है ? उससे क्या लाभ होता है ? गाँधी जी का कथन है—

प्रार्थना आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है, अपने अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध बनने की आतुरता का चिह्न है। जब हम अपनी असमर्थता को समझ लेते हैं और सब कुछ छोडकर ईश्वर पर भरोसा करते हैं उस भावना का फल प्रार्थना है। प्रार्थना

आत्मा की पुकार और दैनिक दुर्बलताओ की स्वीकृति है । यह हृदय के भीतर चलने वाले अनुसधानो का नाम तथा आत्म-शुद्धि का आह्वान है । प्रार्थना तभी प्रार्थना है, जब वह अपने आप हृदय से निकलती है । मैं कोई काम बिना प्रार्थना के नही करता । मेरी आत्मा के लिए प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य है जितना शरीर के लिए भोजन ।"

सत विनोबा भावे भी प्रार्थना पर बडा बल देते है । उन्होने भी प्रार्थना का महत्त्व बताते हुए कहा है—

"मनुष्य के अन्तर मे शुभ और अशुभ दोनो तरह की वृत्तियाँ हैं । लेकिन अन्तरतर मे तो शुभ ही भरा है । प्रार्थना से उसी अन्तरतर मे प्रवेश होता है । प्रार्थना के सयोग से हमे बल मिलता है । अपने पास का सम्पूर्ण बल काम मे लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का मतलब है । प्रार्थना मे दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है । दैववाद मे नम्रता है वह जरूरी है, तथा प्रयत्नवाद मे जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है, प्रार्थना इसका मेल साधती है । प्रार्थना अहकार को शून्य करने मे सहायक बनती है ।"

वास्तव म ही प्रार्थना मे बडी शक्ति है, बडी ताकत है । पर वह तभी शक्तिशाली बनती है जबकि अपने आप हृदय से निकलती है । यह याचना नही है, वरन् आत्मा की पुकार है, इसका परिणाम हृदय के द्वारा आत्मा पर होता है । यह कोई मान्त्रिक वस्तु नही है, वरन् हृदय की क्रिया है । अत हृदयहीन मुखर प्रार्थना की अपेक्षा शब्द-रहित, पर सहृदय प्रार्थना अनेक गुनी उत्तम है ।

प्रार्थना किये हुए पापो के लिए होने वाले पश्चात्ताप का चिह्न है तथा अपने दुर्गुणो का चिन्तन और परमात्मा के उपकारो का स्मरण भी है । सच्चा भक्त ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि मेरी आत्मा को विकाररहित बनाकर मुझे इस दुख-रूपी सागर से पार उतारो । कवि मुनि श्री अमीऋषि जी महाराज भी प्रभु से यही कहते है—

कृपानाथ कृपा करी दुष्ट बुद्धि नाश कर,
  काम क्रोध मोह लोभ चारो रिपु मारिये ।
होय दूर अहकार सचे चित्त उपकार,
  शात चित्त क्लेश नाश कुबुद्धि को टारिये ।
मेरी लाज राखो नाथ, मै तो हू अनाथ दीन
  कर्म रिपु टार मेरी बाँह को संभारिये ।।
अमीरिख कहे प्रभु तारन तिरन आप,
  दु खरूप सागर के पार यो उतारिये ।।

प्रार्थना मे पहला ही शब्द आया है—'कृपानाथ' भक्त का कथन है—'हे कृपानाथ, करुणानिधि ! मेरे अन्त करण मे जो दुर्बुद्धि है उसका नाश करो ।'

आत्मा और सिद्धात्मा मे अन्तर

प्रश्न उठता है कि अब जीवात्मा और परमात्मा दोनो ही समान हैं, स्वरूप की दृष्टि से आत्मा और सिद्धात्मा मे कोई अन्तर नही है तब फिर प्रार्थना किसलिए ? इसका कारण यही है कि हमारी आत्मा से कर्म चिपटे हुए है और सिद्धात्मा कर्मों से अलग है, मुक्त है । कहा भी है—

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध होय ।
कर्म मेल का अन्तरा, विरला बूझे कोय ।।

विरले ज्ञानी ही इस भेद को समझते है कि आत्मा तो सिद्धो की तथा प्राणि मात्र की एक ही सरीखी होती है किन्तु अन्तर होता है कर्म-बन्धनो का । ससारी प्राणियो की आत्मा कर्म-बन्धनो से जकडी हुई और भारी होने के कारण ससार मे भटकती हुई, अर्थात् जन्म-मरण करती हुई नाना प्रकार की वेदनाएँ सहती है । और वही जब कर्मों से छूटकर मुक्त हो जाती है अर्थात् कर्म-भार से रहित बनकर हलकी हो जाती है तो ऊर्ध्व-लोक म पहुँचकर सिद्धात्मा कहलाने लगती है ।

बन्धुओ ! मैं जो कह रहा था, वही बात महापुरुष के पद्य मे आई है । भगवान निरजन और निराकार है, तथा हमारी आत्मा भी अरूपी है । चर्मचक्षुओ के द्वारा अपनी आत्मा को भी हम नही देख सकते । एक बात और है । जो जीव है वही सिद्ध होगा । अजीव अथवा निर्जीव सिद्ध गति मे नही जायेगा । आपके हृदय म जिज्ञासा होगी कि जब जीव सिद्ध बनने वाला है और जीव का स्वरूप जब एक ही है तो हम भटकते क्यो है ?

इसी बात का उत्तर पद्य मे दिया हुआ है कि "कर्म मैल का आतरा ।" सिर्फ कर्मों का मल ही हमारी आत्मा को मलिन और भारी बनाए हुए है । हम कर्मों के लेप के कारण ससार मे भटक रहे है और सिद्धो ने कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया है । इसीसे उन्हे भटकना नही पडता । आप जानते ही है कि भुना हुआ बीज बोने से वह उग नहीं सकता, इसी प्रकार कम-रूपी बीज जब जल जाता है, तो वह उदय मे नही आता और उसके कारण आत्मा को ससार मे जन्म-मरण नहीं करना पडता है । हमारे कर्मो का भी जिस दिन नाश हो जायगा, आत्मा सिद्ध बन जाएगी और इसे नाना योनियो मे भ्रमण नही करना पडेगा । पर ऐसा होगा कैसे ? सिद्ध तो हम बनना चाहते है, जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहते है, पर केवल इच्छा करने से ही क्या होगा ? इसके लिए तो भारी प्रयत्न करना होगा । समस्त विषय और विकारो का त्याग करके आत्मा को विशुद्ध बनाना पडेगा । ऐसी शक्ति हमे प्राप्त करनी है । और कवि अपनी प्रार्थना मे यही बात कह रहा है—

काम क्रोध मोह लोभ चारो रिपु मारिये' ।

कहा है—हे कृपानाथ ! मेरी दुर्बुद्धि को नष्ट करिये और इन चारो शत्रुओ को मार सकूं ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये ! क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो मेरे

पीछे पड़े हुए हैं। इनके कारण ही मेरा विवेक नष्ट हो गया है तथा बुद्धि मलिन हो रही है। मुझमे और पशु मे कोई अन्तर ही नहीं रहा है। कबीर के कथनानुसार—

काम क्रोध मद लोभ की जब लग घट में खान।
तब लग पंडित मूरखा, दोनों एक समान ॥

आत्मा के शत्रु…

वास्तव मे विषय-सुख की कामनाएँ मनुष्य को अंधा बना देती है। काम की शान्ति कभी काम के उपभोग से नही हो सकती, वह तो आग मे घी डालने के समान होती है। इसके कारण ही मानव के हृदय मे क्रोध, मोह और लोभ की जागृति होती है। क्रोध एक प्रकार की आंधी है जो आते ही मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देती है। इसके आक्रमण से सद्भावनाएँ विकृत हो पाती है तथा ज्ञान की ज्योति बुझ जाती है। क्रोधावस्था मे की गई क्रियाएँ कभी शुभ-फल प्रदान नही करती। 'वामन पुराण' मे कहा भी गया है —

यत् क्रोधनो भजति यच्च ददाति नित्य,
यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपीह फल हि लोके,
मोघ फल भवति तस्य हि कोपनस्य ॥

—क्रोधी मनुष्य जो कुछ पूजन करता है, नित्य जो दान देता हैं, जो तप करता है और जो होम करता है, उसका उसे इस लोक मे कोई फल नही मिलता। क्रोधी के सभी कार्य व्यर्थ जाते हैं।

मोह भी मानव के कर्म-बन्धनो का कारण बनता है जो विचारवान व्यक्ति अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है, अपने दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक करना चाहता है उसे सर्व प्रथम मोह-ममता का त्याग करना चाहिए। मनुष्य के सबसे निकट शरीर है, अत उसके प्रति उसका मोह होता है। उसके बाद परिवार और परिवार के पश्चात् अपनी भौतिक सम्पत्ति के प्रति आसक्ति बनी रहती है। पर इनमे से एक भी वस्तु उसकी आत्मा के लिए हितकर नही होती है। इन्ही सबकी रक्षा करने मे उसका जीवन समाप्त होता जाता है, धर्म-ध्यान करने का वक्त नही मिलता।

बुढ़ापे में देखूंगा

एक युवक ने बी० ए० पास किया और फिर नौकरी करने लगा। कुछ दिन नौकरी करने पर शादी भी हो गई। शादी हुई उसके बाद युवक ने बीमा करवाया।

एक संत से जब उसने यह सब बताया तो उन्होंने पूछ लिया—"अभी तो तुम्हारी उम्र बहुत कम है, इतनी जल्दी बीमा क्यो कराया ?"

युवक बोला—"भगवन ! जिन्दगी का क्या ठिकाना, अगर मुझे कुछ हो गया तो मेरी पत्नी को कष्ट न हो इसलिए बीमा करवा लिया है।"

साधु ने कहा—"अगर जीवन की नश्वरता को तुमने समझ लिया है, तब तो तुम भगवान का स्मरण भी बहुत करते होओगे ?"

"महाराज ! उसके लिए तो अभी बहुत वक्त है। बुढ़ापे में देखूंगा।" युवक ने जल्दी से उत्तर दिया। साधु यह सुनकर मुस्करा दिये।

यह है मोह का खेल। सांसारिक सम्बन्धो तथा सांसारिक पदार्थों में मोह अथवा आसक्ति रखने वाला प्राणी जीवन के अंत तक भी उससे छुटकारा नहीं पा सकता। और जहाँ मोह रहता है वहाँ लोभ से भी बचा नहीं जा सकता। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है पर लोभ बूढ़ा नहीं होता। लोभी व्यक्ति की लालसा का वर्णन कबीर ने किया है —

कबिरा औंधी खोपरी, कबहुँ धापै नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर माहिं॥

प्रार्थना और पुरुषार्थ

आत्मा के जिन चारों दुश्मनों का कवि ने अपने पद्य में उल्लेख किया है, और उन्हें मारने की शक्ति प्रार्थना के द्वारा चाही है, उन दुश्मनों का मारा जाना केवल प्रार्थना के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रार्थना के साथ-साथ हमें पुरुषार्थ भी करना होगा। प्रार्थना करने से ही ये विकार नष्ट हो जाएँगे, यह इतना सस्ता सौदा नहीं। 'मिच्छामि दुक्कड' कहने से ही पाप नहीं छूट जाते। हमारे मुसलमान भाई मसजिद में जाते हैं, नमाज पढ़ते हैं और उसके बाद 'तोबा-तोबा' कहते हुए अपने मुँह पर थप्पड़ लगाते हैं। पर क्या इससे गुनाह छूट सकते हैं ? एक शायर के ही शब्दों में—

जो गुनाह हो माफ तो दौजख कहो किसके लिए ?
माफ का हर बार तू लेना बहाना छोड़ दे,
ऐ दिला दुनियाँ फना इसमें लुभाना छोड़ दे।

शायर ने कहा है कि—'प्रथम तो तू इस दुनिया में लुभाना छोड़ दे ! और अगर ऐसा नहीं हो सकता है, तुझसे पाप हो ही जाते हैं तो माफी माँगने का बहाना छोड़ !! क्योंकि तोबा करने से तथा अपने गालों पर थप्पड़ लगाने से ही अगर खुदा गुनाहों को माफ कर देता है तो फिर दोजख किसलिए और किसके लिए है ?'

हमारे यहाँ भी एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक कुम्हार मिट्टी के घड़े बना बनाकर रख रहा था। एक आदमी आया और कंकर मार-मारकर घड़े फोड़ने लगा। एक-एक घड़ा वह फोड़ता और 'मिच्छामि दुक्कड' कह देता।

ऐसा 'मिच्छामि दुक्कड' किस काम का ? किसी को थप्पड़ मारते जाओ और क्षमा माँगने जाओ तो उसमें क्या लाभ ? एक बार क्रोध या आवेश में गुनाह किया जाय तो उसके लिए माफी मिल सकती है। पर बार-बार जान-बूझकर गुनाह किया जाय तो माफी कैसी ? अगर इस प्रकार गुनाह और अपराध माफ होते जायें तो फिर

नरक किसके लिए है ? माफी माँगो ! प्रार्थना करो ! पर प्रार्थना करने के साथ-साथ गुनाह करना छोड़ो ! तभी कल्याण हो सकेगा । प्रार्थना के साथ-साथ विषय-विकारों को त्यागने का प्रयत्न करो, आत्मा के शत्रुओं को अपने पुरुषार्थ से नष्ट करो, तभी प्रार्थना सार्थक बन सकेगी ।

अभिमान के स्थान पर उपकार भावना

प्रार्थना मे आगे कहा गया है—"होय दूर अहकार सचे चित्त उपकार ।' अर्थात् मेरे हृदय मे अहकार की भावना का लोप हो जाये और उसका स्थान परोपकार की भावना ले ले । उपकार करने से केवल दूसरे का ही भला नही होता, करने वाले का भी भला होता है । दूसरो पर उपकार करने वाला व्यक्ति न केवल परिणाम मे अपितु उसी कर्म मे अपना भी उपकार करता है, क्योंकि अच्छा कर्म करने का भाव ही स्वय उचित पुरस्कार है । कविवर रहीम ने भी यही बात कही है—

यो रहीम सुख होत है, उपकारी के अग ।
बाँटन वारे के लगै, ज्यो मेहदी के रंग ।।

आवश्यक यही है कि उपकार निस्वार्थ भाव से किया जाना चाहिए । उसके बदले मे लेने की भावना हो तो वह उपकार उपकार नही कहलाता । चाहे साधारण व्यक्ति हो, श्रावक हो या साधु हो, उसे उपकार निष्काम भाव से ही करना चाहिए । कहा भी है—

उपकुर्यान्निराकांक्षी य स साधुरितीर्यते ।
साकाक्षमुपकुर्याद्य· साधुत्वे तस्य को गुण ।।

जो निष्कामभाव से किसी का उपकार करता है, वही साधु कहलाता है । जो किसी वस्तु की इच्छा से उपकार करता है, उसकी साधुता मे कौन गुण है ? वह तो निरर्थक है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव अहकार की भावना का त्याग करके निस्वार्थ भाव से परोपकार करने की वृत्ति रखे । तभी पुण्योपार्जन कर सकता है ।

झोपडी मे आ जाओ !

एक नदी के किनारे पर किसी व्यक्ति ने अपनी छोटी सी झोपडी बनाई । झोपडी इतनी छोटी थी कि उसमे केवल एक ही व्यक्ति रह सकता था । एक दिन बारिश शुरू हुई और मूसलाधार पानी गिरने लगा । झोपडी का मालिक अन्दर बैठा था । अचानक उसने देखा कि पानी से भीग जाने के कारण एक व्यक्ति दौडता हुआ आया और झोंपडी के द्वार से लगकर खडा हो गया । ठण्ड के कारण वह बुरी तरह से ठिठुर भी रहा था ।

अन्दर बैठा हुआ व्यक्ति तुरन्त बाहर आया और बोला—"भाई, तुरन्त अन्दर आ जाओ ! अपने गीले वस्त्र खोलकर मेरे सूखे पहन लो और जब तक वर्षा रुक न

जाय यही बैठो। यद्यपि झोंपडी छोटी है और पैर पसारकर बैठने तथा सोने के लायक नही है। किन्तु हम दोनो इसी मे सिकुड-सिकुडा कर बैठ जाएँगे और वर्षा का यह कठिन समय व्यतीत करेंगे।"

प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा ही होना चाहिए। अगर उस व्यक्ति के हृदय मे सहानुभूति, करुणा और परोपकार की भावना न होती तो स्वय स्थान की तगी से कष्ट उठाकर आगन्तुक को स्थान न देता। कह देता—'जगह नही है।' पर उपकारी व्यक्ति ऐसा नहीं करता। दीन-दुखी की सहायता करना अभावग्रस्त के अभाव की पूर्ति करना वह अपना कर्तव्य समझता है। और तभी वह पुण्य का भागी बनता है। 'वेदव्यास जी' ने कहा भी है—

'परोपकार पुण्याय पापाय पर-पीडन'।

पर-उपकार जैसा कोई पुण्य नही है और दूसरो को पीडा पहुँचाने जैसा कोई पाप नहीं है।

इसीलिए प्रार्थना मे कहा गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभादि का नाश हो और मेरे मन मे उपकार की भावना का उदय हो तभी चित्त मे शान्ति रह सकती है तथा विकलता नष्ट हो सकती है। दिल मे अशान्ति होने पर व्याकुलता और क्लेश पीछा नही छोडते। पर इन सबका कारण कुबुद्धि है। जब तक हृदय मे कुबुद्धि बनी रहती है मनुष्य शुभ कर्म मे प्रवृत्त नही हो सकता। और अशुभ कर्मों का परिणाम दु ख और व्याकुलता के सिवाय और हो ही क्या सकता है। इसलिए जिस प्राणी को अखड शान्ति की आकाक्षा है उसे इन्द्रिय जनित वासनाओ से बचना चाहिए। सत तुकाराम जी कहते हैं—

पापाची वासना न को माझ्या डोला।
त्याहूनो आंधला बरा मीच ॥१॥

—हे भगवन! मेरी आँखो मे कभी भी पाप बुद्धि न आये। अगर पाप-बुद्धि देनी है तो मुझे अधा बना देना।

अधा ही रहने दो!

कवि के उद्गार कितने भाव भरे है? मनुष्य की आँखे उसके चरित्र, व्यक्तित्व और अन्त प्रवृत्ति का दर्पण है। जो बात वाणी से प्रकट नही होती वह बात, आँखें आसानी से बोल देती है। बडे-बडे ऋषि महर्षि भी अपनी आँखो को वश मे नही रख पाने के कारण अध पतन के मार्ग की ओर प्रवृत्त होते देखे गए है। विश्वामित्र कैसे घोर तपस्वी थे, पर स्वर्ग की अप्सरा मेनका ने उनके तप को भी भग कर दिया था। यह क्यो हुआ? चक्षु-इन्द्रिय को वश मे नही रख पाने के कारण। तभी कहा जाता है—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नांहि।
ये मुँह जोर तुरग लौ, ऐंचत हू चलि जांहि॥

मुँहजोर घोडा जिस प्रकार लगाम खेंचने पर भी नहीं मानता, और भी वेग से दौड पडता है उसी प्रकार आँखे भी बुद्धि की लगाम से वश मे नही आतीं तथा मन को वासनापूर्ति की ओर उन्मुख करती हैं।

इसीलिये महापुरुष ऐसी आँखो के होने से न होना अर्थात् अधा रहना चाहते है। भक्त सूरदास के विषय मे आपने सुना और पढा भी होगा कि आँखो के कारण मन मे विकार आते ही उन्होने स्वय ही लोहे की गरम शलाकाओ के द्वारा अपनी आँखें फोड़ली।

सत तुकाराम जी ने भी ईश्वर से यही प्रार्थना की है कि—'मेरी आँखों मे पाप-वासना आए, इसकी बजाय तो मैं अधा हो जाऊँ यह ज्यादा अच्छा है। आगे वे पुन कहते हैं—

निंदेचे श्रवण नको माझ्या कानीं,
बधिर करूनी ठेवी देवा ॥२॥

अगर मेरे कान हैं, तो उनसे मैं दूसरो की निन्दा नही सुनना चाहता। हे भगवन्! अगर इन कानो के द्वारा मुझे दूसरो की निन्दा सुननी पडे तो मुझे तुम बहरा ही बना दो।

दूसरो की निंदा सुनने से क्या लाभ? निंदा करना और निंदा सुनना यह कचरा है। ऐसे कचरे की पोटली मन पर बाँधे रहना मूर्खता नही तो और क्या है? औरो की निंदा करने की अपेक्षा, अर्थात ओरो के दोष देखने की अपेक्षा स्वय अपने ही दुर्गुणो पर ध्यान देना मानव के लिए आवश्यक है। पर अज्ञानी पुरुषों को इसका ध्यान कहाँ रहता है? 'कबीर' के कथनानुसार —

दोष पराये देखकर, चलत हसत-हसत।
अपने याद न आवही, जिनका आदि न अन्त ॥

दूसरो के दोष देखकर मानव प्रसन्न होता है, हँसता है। किन्तु अपने दोषो पर विचार नही करता, जिनका कोई आदि और अन्त ही नही है। अर्थात् अनगिनती है। निंदक व्यक्ति की दृष्टि दोष-दृष्टि बन जाती है। वह हमेशा अन्य व्यक्तियो की बुराइयाँ ढूँढा करता है। तथा समय-समय पर उन्हे प्रकट करता रहता है। इसी का नाम निंदा है। महापुरुष निंदा करने और निंदा सुनने, इन दोनो ही दुर्गुणो से अपने आप को बचाते है तथा अपनी गुणदृष्टि के द्वारा बुराइयो मे से भी अच्छाइयाँ ढूँढ निकालते है।

तीन अँगुलियाँ किस ओर ?

एक बार महात्मा गांधी जी के आश्रम मे किसी सदस्य से दुराचार हो गया। एक व्यक्ति ने इसकी शिकायत करते हुए गुमनाम पत्र लिखकर गांधीजी के पास भेज दिया।

उसी दिन प्रार्थना के समय गाधी जी गम्भीरता पूर्वक बोले—"प्रथम तो इस प्रकार गुमनाम पत्र लिखना ही गलत बात है, दूसरे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी की ओर अँगुली उठाते समय बाकी की तीन अगुलियाँ स्वय अपने दिल की तरफ होती हैं।"

इसी वजह से महात्मा कबीर ने कहा है —

बुरा जो देखन मै चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय ॥

कहने का अभिप्राय यही है कि किसी की निंदा मत सुनो। दूसरो की निंदा सुनने पर धीरे-धीरे निंदा करना भी प्रारम्भ हो जाता है। और निंदा आपसी कलह, फूट तथा कभी-कभी भयानक झगडो का कारण भी बन जाती है।

इसीलिए सज्जन-महापुरुष अपने कानो स निंदा-श्रवण करने की बजाय धर्म-प्रवचन, शास्त्रीय-कथाएँ, भक्ति रस से परिपूर्ण भजन तथा तत्वज्ञान की चर्चाएँ सुनना पसद करते है। और इसी म अपने कानो की सार्थकता समझते है। ससार मे आसक्त पुरुष तो भगवान से अगर प्रार्थना करते भी है तो धन सम्पत्ति, पुत्र, रोग निवारण तथा दो हाथ से चार हाथ बन जाने की माँग करते हैं। बडे होशियार है आप लोग! चतुर्भुज ही बनना चाहते हैं, चतुष्पद नही। लेकिन सन्त-पुरुष यह सब नही चाहते। वे इन्द्रिय-सुख को हेय मानते हे तथा उन्ही बातो की इच्छा करते है जिनसे आत्मा का कल्याण हो। अमीऋषि जी महाराज अपनी प्रार्थना मे आगे कहते है—

मेरी लाज राखो नाथ, मै तो हू अनाथ दीन,
कम-रिपु टार मेरी बाँह को सभारिये!
अमोरिख कहे प्रभु तारन-तिरन आप,
दुःख-रूप सागर से पार यो उतारिये!

हे नाथ! मेरी लाज रखो। आप अनन्त शक्ति के धारक और समर्थ है, आप स्वय ससार-सागर का पार कर चुके है तथा दुखी प्राणियो को पार पहुँचाने वाले है! मेरी बाँह पकडकर मुझे भी इस दुख-रूप सागर से पार उतारिये तथा मेरे कम-रूपी शत्रुओ का नाश कीजिये!

मनुष्य अनाथ और दीन क्यो है? केवल कर्मों के कारण। कर्म-बन्धनो से जकडा हुआ होने के कारण ही वह अशक्त और दीन है।

प्रौढ कवि जो शास्त्रो के बडे भारी ज्ञाता थे, जिन्होने स्वय भी अनेक ग्रथो की रचनाएँ की, तथा सुन्दर-सुन्दर पद्यो का निर्माण किया, वे भी कहते है— प्रभु! आप तर गए पर अब हम भी तारो! आपकी सहायता से ही यह सभव हो सकता है। प्रत्येक भक्त और ससार से विरक्त पुरुष ईश्वर से यही प्रार्थना करता है। कवि सूरदास भी अपने इष्टदेव से कहते है —

अब मेरी राखो लाज हरि !
तुम जानत सब अन्तर्यामी करणी कछु न करी।
औगुन मोसे बिसरत नाहीं पल छिन घरी घरी।
सब प्रपच की बांध पोटली अपने शीश धरी।
दारा सुत धन मोहन यो है सुध बुध सब बिसरी।
'सूर' पतित को बेग उबारो अब मेरी नाव भरी।

भगवान को हम **'तिण्णाण तारयाण'** अर्थात् तरण-तारण कहते है। **'दीवोत्ताण'** द्वीप के समान, भव-सागर मे डूबते हुए प्राणी को सहारा देने वाला मानते हैं इसलिये अपनी प्रार्थना मे कहते है कि हमारे मस्तक पर, सही भावार्थ मे, हमारी आत्मा पर जो कषायो का, विषय-विकारो का और प्रमाद का आवरण तथा भारी बोझ पडा हुआ है इसे हटा दो। ताकि हमारी आत्मा भी हलकी होकर ऊपर उठ सके।

चढ़ाव और उतार

हमारे शास्त्रो म स्वर्ग को ऊपर माना है और मोक्ष को उससे भी ऊँचा। तो कर्मों का भारी बोझ लिए हुए आत्मा ऊपर कैसे उठ सकती है ? कमर मे विशालकाय पत्थर बाँध लेने पर मनुष्य जल पर नही तैर सकता, डूब जाता है। उसी प्रकार कर्म-रूपी पाषाण जो कि मेरु पर्वत से भारी है, उसके बोझ को लिए हुए आत्मा ऊँची कैसे उठ सकती है ? ऊपर चढने मे कठिनाई होती है, नीचे उतरने मे नही। नीचे उतरना हो तो वृद्ध व्यक्ति जो लाठी के सहारे चलता हो, वह भी आसानी से उतर सकता है, किन्तु ऊँचाई पर चढ़ने मे तरुण पुरुष भी हाँफ जाता है। आशा है आप मेरे कहने का अभिप्राय समझ गए होगे कि स्वर्ग, मोक्ष ऊपर है और नरक नीचे की ओर अर्थात् नरक की तरफ उतरना आसान है पर ऊपर स्वर्ग तथा मोक्ष की ओर चढना कठिन।

इसीलिए हम प्रार्थना करते है कि हम मे ऊपर चढने की शक्ति आए तथा कर्मों से सामना करने का साहस पैदा हो। पर यह तभी हो सकेगा, जब हमारी प्रार्थना सर्वान्त करण से होगी। प्रार्थना के साथ हमारा मन भी बोलेगा। केवल जबान से की जाने वाली प्रार्थना कारगर नही हो सकती। प्रार्थना के स्वरो मे शक्ति नही होती, शक्ति होती है उनके पीछे छिपी हुई दृढ भावनाओ मे।

भगवान को निमन्त्रण

प्रार्थना धर्म का ही एक अग है, मन को स्वच्छ और शुद्ध बनाने का साधन है। यह निरन्तर चलनी चाहिये। चाहे जिस स्थान पर और चाहे जिस समय व्यक्ति प्रार्थना कर सकता है। इसमे न पैसा खर्च होता है और न शारीरिक बल ही आवश्यक होता है। इतना अवश्य है कि प्रार्थना मे बोली जाने वाली बातो पर अमल किया जाय। इसमे कहे गए शब्दो के अनुसार आचरण किया जाय। तभी हमारा प्रार्थना करना सार्थक हो सकता है। हम भगवान से कहते है —

"हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तो क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः ।"

—सिद्धसेन दिवाकर

—हे भगवन् ! आपके हृदय मे विराजने पर प्राणियो के सघन कर्मो के बन्धन भी क्षणमात्र मे ढीले पड जाते है ।

हम भगवान को अपने हृदय म विराजने का निमन्त्रण तो दे देते हैं, पर अपने हृदय को उनके योग्य नही बनाते । भगवान का मन्दिर कितना शुद्ध और पवित्र होना चाहिये ? बिना हृदय की शुद्धता के भगवान हमारी प्रार्थना कैसे स्वीकार करेंगे और किस प्रकार निबिड कम बन्धनो से छुटकारा दिलाने जैसा महत् कार्य सम्पन्न करेंगे ?

इसलिए बन्धुओ ! प्रार्थना के स्वर केवल जबान से ही मत निकालो, उनके पीछे अपने अतर्मानस को भी लगा दो । तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा ।

३

तिण्णाणं तारयाणं

धमप्रेमी बन्धुओ ! माताओ और बहिनो !

"रायप्रसेणी सूत्र' मे सूर्याभ देवता सिद्ध भगवान की स्तुति करने के पश्चात् महावीर प्रभु की स्तुति कर रहे है । अवतारी पुरुष अपनी आत्मा का उद्धार तो करते ही हैं, साथ ही उनके आश्रय मे जो भी आएँ, अर्थात् जो भी उनका सहारा ग्रहण करे, उनका भी उद्धार करत हैं । इसलिये इन्हे **'तिण्णाण तारयाण'** कहा जाता है ।

अगर उनके मन मे केवल अपनी ही मुक्ति की कामना रहती, औरो के उद्धार का खयाल नही होता तो वे केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी विचरण क्यो करते ? केवलज्ञान प्राप्त होना, अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय हो जाना । इसके क्षय हो जाने के पश्चात् नये कम नही बंधते । क्योकि यही सब कर्मों का राजा है । अन्य समस्त कर्मो की कुल मिलाकर जितनी शक्ति होती है, उससे कही अधिक इस मोहनीय कर्म की शक्ति मानी जाती है ।

कर्मों का सरताज

अभी-अभी मैंने बताया है कि मोहनीय कर्म अन्य समस्त कर्मों से अधिक शक्तिशाली है । इसके वश म पडा हुआ प्राणी अपन हिताहित का ज्ञान नही रख पाता तथा अनन्तकर्मो का बन्धन करके जन्म-मरण करता रहता है । पण्डित मुनि श्री रायचन्द्र जी महाराज ने इसलिय कहा है —

जीवा तोहे मोह रुलावे हो ।
एकादश गुणस्थान से पहला मे लावे हो । जीवा० ।

कितना जबर्दस्त है यह मोहनीय कर्म । जोकि ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँची हुई आत्मा को भी पुन प्रथम गुणस्थान मे ला पटकता है । इसके साथी है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एव अन्तरायकर्म । ये ही सब मिलकर मन, वचन और काय—तीनो योगो को बिगाडते है । मोहनीय कर्म ही राग-द्वेष को बढ़ाता है ।

इसका शिकार व्यक्ति दूसरो की बढती को देखकर ईर्ष्या करता है, दूसरो को ज्ञान वृद्धि करते देखकर द्वेष स भर जाता है।

मेरे अनुभव

जब मैं स्कूल मे पढता था। उस समय हर आठवे दिन लडको के हाथ से लिखे हुए अक्षरो की परीक्षा होती थी। जिसके अक्षर, अर्थात् जिसके हाथ की लिखावट सुन्दर होती उसे खूब नम्बर मिलत थे और जिनकी सुन्दर नहीं होती उसे कम मिलत।

पर कम नम्बर प्राप्त करने वाले लडके क्रोध और ईर्ष्या से भर जाते तथा किसी प्रकार अपनी पराजय का बदला लेने का प्रयत्न करते थे। वे कभी-कभी सुन्दर अक्षर लिखने वाले लडके की कॉपी पर स्याही उँडेल देते या कॉपी फाड डालते। पर इससे क्या होता? क्या ऐसा करने मे नम्बर अधिक मिल सकते थे? नही। लाभ कुछ नही होता था केवल ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा ही बढती थी और कर्म-बन्धन होता था।

मोहनीय कर्म क परिणामस्वरूप पैदा होने वाली राग-द्वेषादि की भावनाएँ बाल्यकाल म छोटे दायरे म रहती है किन्तु बडे होने पर वे ही भावनाएँ अपना दायरा बहुत बडा बना लेती है। मानव अपने कुटुम्बियो के प्रति अत्यधिक राग-भाव रखता है तथा उनक मोह-वश नाना प्रकार के अनुचित कम करके अपनी आत्मा को भारी बनाता है। इसलिये किसी कवि ने मनुष्य को धिक्कारते हुए कहा है —

कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।
देख, भोगते स्वर्ग सुख, वे ही अपरम्पार॥

आगे चेतावनी भी दी है —

घिरे रहो परिवार से पर भूलो न विवेक।
रहा कभी मै एक था, अन्त एक का एक॥

कहने का अभिप्राय यही है कि मोह-कर्म अत्यन्त बलशाली है, इसके वश म हुआ प्राणी कोटि प्रयत्न करके तथा कितना भी पूजा-पाठ, जप-तप और घोर तपस्या करके भी आत्मा को कर्म-मुक्त नही कर सकता। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम जो कि चौदह पूर्व के पाठी थे अर्थात् अगाध ज्ञान के धारक और समस्त सद्गुणो से युक्त थे। केवलज्ञान जिनके मस्तक पर मँडरा रहा था, वे भी जब तक भगवान महावीर के प्रति रहे हुए अपने मोह को दूर नही कर सके तब तक उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति नही हुई। अन्त म स्वय भगवान ने उन्हे बडे मार्मिक शब्दो मे बोध दिया है। कहा —

थारे ने म्हारे गोयमा रे! घणा काल की प्रीति।
आगे ही आपा भेला रह्या वली लोड बडाई नी रीत जी।
मोह कर्म ने लीजो थे जीत जी, केवल आडी याही ज भीत जी।

कितने स्नेह-पूर्ण शब्द है ? प्रभु जानते थे कि गौतम का मेरे प्रति असीम स्नेह है और जब तक यह दूर नही होगा, गौतम केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीलिये वे कहते हैं—"वत्स गौतम ! तुम्हारा और मेरा स्नेह बहुत काल से चला आ रहा है और इसी प्रकार बडे और छोटे रहकर हम पूर्व जन्मो मे भी साथ रहे है। किन्तु अब इस मोह को नष्ट करना अनिवार्य है क्योकि तुम्हारे 'केवलज्ञान' की प्राप्ति मे यह एक दीवार के समान बाधा उपस्थित कर रहा है। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय और विनयवान शिष्य हो तथा तुमने मेरे प्रति अपने स्नेह को पूर्णरूप से निभाया है, पर अब इसे त्यागो और केवलज्ञान के अधिकारी बनो।"

अन्त मे ऐसा ही हुआ, ज्योही गौतम स्वामी ने भगवान के प्रति अनेक जन्मो से चले आ रहे अपने मोह को नष्ट किया, त्योही उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

कहने का अभिप्राय यही है कि मोह-कर्म सबसे जबर्दस्त है और अगर इसका नाश हो जाय तो इसके साथ रहने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एव अन्तराय कर्म भी नष्ट हो जाते है। यही चारो घातिया कर्म है जिन्हे नष्ट करना मुक्ति-प्राप्ति के लिये अनिवार्य है।

साधु तो रमता भला !

मेरा विषय यह चल रहा था कि अवतारी पुरुष और सन्त-महात्मा अपने उद्धार का प्रयत्न करते है, साथ ही औरो की भी आकाक्षा रखते है। इसीलिये स्वय तीर्थंकर भगवान, जो समस्त कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेते है और फिर उन्हे किसी भी प्रकार के पाप लगने का भय नही होता, वे भी विचरण करते है। अगर वे एक ही स्थान पर ठहरे तो उन्हे कौनसा पाप लगने वाला है ? और उनका क्या नुकसान होने वाला है ? यह जानकर भी वे यत्र-तत्र विचरते है, वह क्यो ? सिर्फ इसलिये कि वे ससार के अन्य प्राणियो को भी ससार-सागर से पार कर सकें, जन्म-मरण के दुखो से मुक्त कर सके। ऐसे पर-दुख-भजन प्राणियो के लिये ही कहा जाता है —

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि जहाज।
आप तिरें पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज ॥

क्या कहता है भक्त ? यही कि इस भव-सागर मे जहाज के समान बन कर जो गुरु स्वय तर जाते है तथा दूसरो को भी तार देते है, वे मेरे मन म निवास करें।

पर एक स्थान पर ठहरकर क्या ऐसा किया जा सकता है ? नही, इसीलिये हमारे लिये यह नियम बना है कि 'चातुर्मास काल के अलावा सदा विचरण करते रहो, एक स्थान पर मत ठहरो ! एक स्थान पर रहने से राग-द्वेष बढ जाएगा तथा अधिक प्राणियो के सम्पर्क मे नही आ सकोगे ! तुम्हारा दायरा छोटा हो जाएगा जबकि साधु सारे ससार का है। विश्व के अधिक से अधिक जितने भी प्राणियो को

बोध दे सके, जितने भी प्राणियो को मुक्ति का मार्ग बना सके, बताना प्रत्येक साधु का फर्ज है।" दूसरे —

बहता पानी निर्मला, पड़ा सो गदा होय।
साध तो रमता भला, दाग न लागे कोय ॥

कहा गया है कि सदा बहने वाला जल निर्मल रहता है और एक स्थान पर भरा रहने वाला गदा हो जाता है। आप लोग सभी जानते हैं कि धार खण्डित हो जाने पर पानी किसी गड्ढे मे रुक जाता है, वहाँ सेवाल बन जाती है, फूलन आ जाती है और पानी से दुर्गन्ध आने लगती है, किन्तु वही पानी अगर पुन बहने लगे तो शुद्ध और निर्मल हो जाता है।

इसी प्रकार जो साधु विचरण करते रहते है, उनका मानस शुद्ध रहता है। राग-द्वेष उनके हृदय म घर नही कर पाते। तथा इन दोषो के कारण कोई दाग, कोई कलक उन्हे नहीं लग पाता। उनके चित्त मे सदा सम-भाव बना रहता है। वे आज यहाँ, कल कहाँ, और इस वर्ष अमुक नगर मे तथा अगले वर्ष अमुक नगर मे पहुँचते है। परिणाम यह होता है कि न उनका किसी पर मोह बढता है और न ही किसी से वैर-भाव।

पर मेरी, इस बात का आप यह अर्थ न ल कि एक स्थान पर रहने वाले साधु-साध्वी राग-द्वेष से भर ही जाते हैं अथवा किसी प्रकार की मोह-माया मे फसे बिना नही रहते। महान् आत्माएँ एक स्थान पर रहकर भी इन सब दोषो से अलिप्त रहती हे।

प्रतापगढ मे हमीराजी महासती जी थी। वे अट्ठारह वर्ष तक वहाँ रही। मेरा भी चातुर्मास उनकी उपस्थिति मे वहाँ हुआ था। किन्तु मैने किसी भी व्यक्ति की जबान से कभी यह नही सुना कि—उनके आहार-पानी मे दोष था, या वस्त्रादि किसी भी प्रकार की अन्य वस्तु को लेने मे कोई दोष था। 'सभी के साथ उनका समभाव है' यही सब लोग कहते थे। आपके यहाँ भी पाँच वर्ष से सती जी विराज रही हे, आप स्वय ही उनके विषय मे जानते है।

ऐसी आत्माएँ क्वचित् ही दिखाई देती हैं। नही है, यह मैं नही कहता। कम होती है, यह कहता हूं। ऐसी आत्माएँ एक स्थान पर अठारह, बीस, पच्चीस या पचास वर्ष रहकर भी मोह-ममता मे फँसने का नाम नही लेती। मठ वगैरह जहाँ होते है, वहाँ 'यह हमारा है' ऐसी भावना रहती है। किन्तु हम वर्षों एक मकान मे रहकर भी उसे हमारा मकान है ऐसा नही कहते, यही कहते है कि श्रावको का मकान है। इस प्रकार, जहाँ हमारेपन की भावना ही नही आती वहा मोह के आने की सभावना कैसे हो सकती है? साधुओ के लिये चाहे कुटिया हो, या आलीशान महल एक धर्मशाला के समान होता है। जिसमे ठहरनेवालो के लिये उससे रचमात्र भी मोह नही होता।

धर्मशाला नहीं तो क्या है ?

एक बार एक फकीर घूमता-घामता किसी महल मे पहुँच गया और एक शानदार कमरे मे घुसकर आराम करने लगा।

कुछ समय पश्चात् बादशाह आया और अजनबी फकीर को देखकर आग-बबूला हो गया। क्रोधित होकर पूछ बैठा—"तुम किसकी इजाजत लेकर यहाँ आए हो ?"

फकीर मस्ती से बोला—"धर्मशाला मे आने के लिये भी क्या किसी की आज्ञा की आवश्यकता होती है ?"

"यह मेरा महल है, धर्मशाला नही !"

फकीर हँस पडा—"अच्छा, तुमसे पहले यहाँ कौन रहता था ?"

"मेरे पिता।"

"और उनसे पहले ?"

"उनके पिता, यह भी कोई पूछने की बात है ?" राजा झुंझलाकर बोला।

"तो भाई ! वह मकान जिसमे एक के बाद दूसरा आता है और चला जाता है वह धर्मशाला नही कहलाती तो और क्या कहलाती है ?"

बादशाह मूक हो गया, कुछ भी नही बोल सका।

तो बधुओ, साधु चाहे एक स्थान पर ठहरे या विचरण करता रहे, उसके लिये स्थान, मकान आदि सभी कुछ अनाकर्षक होता है। किसी वस्तु और किसी भी प्राणी के लिये उसके हृदय मे मोह नही होता। वर्षाकाल के अतिरिक्त वह विचरण करता है। विशेष आवश्यकता न होने पर कही भी अधिक नही ठहरता। विशेष शब्द मैंने इसलिये कहा है कि अगर साधु के शरीर मे चलने की शक्ति नहीं है, तो भगवान का आदेश है कि "ठहर जाओ, बैठ जाओ !"

यद्यपि साधु को गृहस्थ के घर ठहरने का, बैठने का, और बाते करने का अधिकार नही है। आहार-पानी लेने जाना और लेते ही लौट आने का विधान है। किन्तु शारीरिक शक्ति न होने पर गृहस्थ की आज्ञा लेकर बैठने की भी आज्ञा है। 'दशवैकालिक सूत्र' मे कहा गया है—

तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो ॥

वृद्ध, रोगी एव तपस्वी इन तीन प्रकार के साधुओ को बैठना कल्पता है।

आपके घर पर सत या साध्वी आहार-पानी के निमित्त आएँ और रुग्णावस्था के कारण एकाएक उनकी स्थिति अधिक बिगड जाय तो वे आपकी आज्ञा से आपके घर पर बैठ सकते हैं। इसी प्रकार अधिक तपस्या से कृश हुए साधु और वृद्धावस्था

के कारण कमजोर साधु-साध्वी भी चलने लायक स्थिति न होने के कारण आप गृहस्थो के घर पर ठहर सकते है। उसमे दोष नही है।

मोह विजेता क्यों विचरण करते हैं ?

अभी-अभी मैंने आपको साधु और साध्वियो के लिये बताया कि विशेष कारण होने पर तो हम ठहर सकते है किन्तु वैसा न होने पर विचरण करना चाहिए ऐसा हमारे लिये नियम है। कारण पद्य मे बताया ही गया है—

साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय।

रमते हुए साधु को कोई दाग नही लगता। किसी प्रकार की कुभावनाएँ उसके हृदय मे घर नही कर पाती। किन्तु जिन्होने अपने मोहनीय कर्म का ही क्षय कर दिया है, और किसी प्रकार के पाप-कर्म के बधन का जिनके लिये भय नही है, वे क्यो विचरते हैं ? उनका एक ही उद्देश्य होता है—भव्य जीवो का उद्धार करना। जो मुमुक्षु प्राणी है, ससार मुक्त होना चाहते है उनका उद्धार हो, यही कामना निरतर उनके हृदय मे बनी रहती है। और इसीलिये वे विचरण करते है कि ससार का कल्याण हो—

शिवमस्तु सर्वजगत परहित निरता भवतु भूतगणा।
दोषा प्रयातु नाशं, सर्वत्र सुखीभवतु लोक:॥

—समस्त जगत का कल्याण हो, सब प्राणी परोपकार मे लग जायँ, समस्त दोषो का नाश हो तथा सर्वत्र सुख का प्रसार हो।

अगर सब प्राणियो के हृदयो मे ऐसी भावना हो जाय तो फिर कही कष्ट का नामोनिशान ही न रहे। ससारी जीव अपनी स्वार्थ-भावना के कारण ही कष्ट पाते है, अपने दोषो और पापो के कारण ही दुखी रहते है। अगर अपनी स्वार्थ सिद्धि की भावना को छोडकर ये औरो का हित करने मे निमग्न हो जाय तो फिर कष्ट किस बात का रहे ? महापुरुषो की भावना ऐसी ही होती है। वे अपने दुख से दुखी नही होते, पर-दुख से द्रवित होते है। महापुरुष श्री अमीऋषि जी महाराज ऐसी ही भावनाओ के वशीभूत होकर ससार मे रुलते हुए प्राणी को सावधान करने के लिये कहते हैं —

इण मोह जाल माहीं बीत्यो है अनन्त काल,
नाना जोनि माहीं कष्ट सह्या है अपार रे।
क्रोध मान माया लोभ राग-द्वेष वश जीव,
पायो दुख अनन्त न छोडत गवार रे।
आपा को विसार पर गुण मे, मगन होय,
बांधत करम नहीं करत विचार रे।
'अमीरिख' कहे छोड सकल जजाल भव्य,
धार गुरु सीख बेगा जाग हो हुश्यार रे।

ससार चक्र मे फँसे हुए प्राणियों को विषय-विकारो से मुक्त करने तथा प्रमाद-रूपी निद्रा से जगाने की महान् पुरुषों मे कितनी व्यग्रता होती है ? और तो और केवल मानव के ही नही, पर पशु-पक्षियो के दु खो को दूर करने के लिये भी वे प्राण-पण से तैयार रहते हैं ।

गाय को बचाने के लिये प्राणों का बलिदान

सन् उन्नीस सौ चौदह मे खीचन गाँव मे सत श्री विनोद मुनि ने, जिन्हें दीक्षा ग्रहण किये हुए कुल ढाई महीने ही व्यतीत हुए थे, एक गाय को बचाने के प्रयत्न मे अपने प्राण होम दिये । आप काठियावाड के अति सम्पन्न श्रेष्ठि श्री दुर्लभ जी भाई विराणी के पुत्र थे । श्री दुर्लभ जी भाई अभी हाल ही मे सपत्नीक यहाँ दर्शनार्थ आए थे । देखकर मन को लगा—धन्य है यह दपति, जिसने ऐसे पुत्र-रत्न को प्राप्त किया । अन्यथा रेल की पटरी पर से गाय को हटाने की कोशिश करते हुए क्या कोई साधारण प्राणी अपने प्राणो का उत्सर्ग कर सकता था ? गाय बच गई, किन्तु गाय को बचाने वाली महान् आत्मा इस लोक से प्रयाण कर गई ।

ऐसे होते हैं महापुरुष ! युवावस्था मे कदम रखते ही परोपकार के लिये जीवन त्याग देने वाले ऐसे पुरुष-पु गव विरले ही होते है । लगता है कि इस प्रकार के प्राणी मानो परोपकार के लिय ही देह धारण करते हैं । एक पद्य मे कहा गया है —

सरवर, तरुवर, सतजन, चौथा बरसे मेह ।
परोपकार के कारणे, चारो धारी देह ।।

प्रतिपल परोपकार के लिये उद्यत रहने वाले जिन चार का उल्लेख इस दोहे मे किया गया है, उनमे से प्रथम है 'सरोवर' ।

जीवन का अमृत 'जल'

वैसे ससार के समस्त प्राणियो को जीवन-दान देने वाले जल का प्रदाता पद्य मे सरोवर कहा गया है किन्तु हमे इसका शब्दार्थ नही, भावार्थ लेना है । और भावार्थ मे जल-दान करने वाले सरोवर, कुए, नदी, नहरे और चश्मे आदि सभी आ जाते हैं, जहाँ-जहाँ से भी जल प्राप्त होता है ।

तो सरोवर या तालाब जिसमे पानी रहता है, क्या वह उसके काम आता है ? नही, उसके जल से पशु, पक्षी, मनुष्य जो भी अपनी तृष्णा शात करना चाहे, कर सकता है । वह सभी को समान भाव से और समान-गुण-युक्त जल प्रदान करता है । जिसके विषय मे कहा गया है —

अजीर्णे भेषज वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम् ।
भोजने चामृत वारि ·· · ·· · ।।

—अजीर्ण होने पर जल औषधि है, पच जाने पर बलवर्धक एव भोजन के समय अमृत के समान है ।

के कारण कमजोर साधु-साध्वी भी चलने लायक स्थिति न होने के कारण आप गृहस्थो के घर पर ठहर सकते है। उसमे दोष नही है।

मोह विजेता क्यो विचरण करते हैं ?

अभी-अभी मैंने आपको साधु और साध्वियो के लिये बताया कि विशेष कारण होने पर तो हम ठहर सकते है किन्तु वैसा न होने पर विचरण करना चाहिए ऐसा हमारे लिये नियम है। कारण पद्य मे बताया ही गया है—

साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय।

रमते हुए साधु को कोई दाग नही लगता। किसी प्रकार की कुभावनाएँ उसके हृदय मे घर नही कर पाती। किन्तु जिन्होने अपने मोहनीय कर्म का ही क्षय कर दिया है, और किसी प्रकार के पाप-कर्म के बधन का जिनके लिये भय नही है, वे क्यो विचरते हैं ? उनका एक ही उद्देश्य होता है—भव्य जीवो का उद्धार करना। जो मुमुक्षु प्राणी है, ससार मुक्त होना चाहते है उनका उद्धार हो, यही कामना निरतर उनके हृदय मे बनी रहती है। और इसीलिये वे विचरण करते है कि ससार का कल्याण हो—

शिवमस्तु सर्वजगत परहित निरता भवतु भूतगणा।
दोषा प्रयांतु नाश, सर्वत्र सुखीभवतु लोक ॥

—समस्त जगत का कल्याण हो, सब प्राणी परोपकार मे लग जायँ, समस्त दोषो का नाश हो तथा सर्वत्र सुख का प्रसार हो।

अगर सब प्राणियो के हृदयो म ऐसी भावना हो जाय तो फिर कही कष्ट का नामोनिशान ही न रहे। ससारी जीव अपनी स्वार्थ-भावना के कारण ही कष्ट पाते है, अपने दोषो और पापो के कारण ही दुखी रहते हैं। अगर अपनी स्वार्थ सिद्धि की भावना को छोडकर ये औरो का हित करने म निमग्न हो जाय तो फिर कष्ट किस बात का रहे ? महापुरुषो की भावना ऐसी ही होती है। वे अपने दुख से दुखी नही होते, पर-दुख से द्रवित होते है। महापुरुष श्री अमीऋषि जी महाराज ऐसी ही भावनाओ के वशीभूत होकर ससार मे रुलते हुए प्राणी को सावधान करने के लिये कहते हैं —

इण मोह जाल माहीं बीत्यो है अनन्त काल,
नाना जोनि माहीं कष्ट सह्या है अपार रे।
क्रोध मान माया लोभ राग-द्वेष वश जीव,
पायो दुःख अनन्त न छोडत गंवार रे।
आपा को विसार पर गुण मे, मगन होय,
बांधत करम नहीं करत विचार रे।
'अमीरिख' कहे छोड सकल जजाल भव्य,
धार गुरु सीख वेगा जाग हो हुश्यार रे।

ससार चक्र मे फँसे हुए प्राणियो को विषय-विकारो से मुक्त करने तथा प्रमाद-रूपी निद्रा से जगाने की महान् पुरुषो मे कितनी व्यग्रता होती है ? और तो और केवल मानव के ही नही, पर पशु-पक्षियो के दु खो को दूर करने के लिये भी वे प्राण-पण से तैयार रहते हैं ।

गाय को बचाने के लिये प्राणो का बलिदान

सन् उन्नीस सौ चौदह मे खीचन गाँव मे सत श्री विनोद मुनि ने, जिन्हें दीक्षा ग्रहण किये हुए कुल ढाई महीने ही व्यतीत हुए थे, एक गाय को बचाने के प्रयत्न मे अपने प्राण होम दिये । आप काठियावाड के अति सम्पन्न श्रेष्ठि श्री दुर्लभ जी भाई विराणी के पुत्र थे । श्री दुर्लभ जी भाई अभी हाल ही मे सपत्नीक यहाँ दर्शनार्थ आए थे । देखकर मन को लगा—धन्य है यह दपति, जिसने ऐसे पुत्र-रत्न को प्राप्त किया । अन्यथा रेल की पटरी पर से गाय को हटाने की कोशिश करते हुए क्या कोई साधारण प्राणी अपने प्राणो का उत्सर्ग कर सकता था ? गाय बच गई, किन्तु गाय को बचाने वाली महान् आत्मा इस लोक से प्रयाण कर गई ।

ऐसे होते हैं महापुरुष ! युवावस्था मे कदम रखते ही परोपकार के लिये जीवन त्याग देने वाले ऐसे पुरुष-पु गव विरले ही होते है । लगता है कि इस प्रकार के प्राणी मानो परोपकार के लिये ही देह धारण करते हैं । एक पद्य मे कहा गया है —

सरवर, तरुवर, सतजन, चौथा बरसे मेह ।
परोपकार के कारणे, चारो धारी देह ॥

प्रतिपल परोपकार के लिये उद्यत रहने वाले जिन चार का उल्लेख इस दोहे म किया गया है, उनमे से प्रथम है 'सरोवर' ।

जीवन का अमृत 'जल'

वैसे ससार के समस्त प्राणियो को जीवन-दान देने वाले जल का प्रदाता पद्य मे सरोवर कहा गया है किन्तु हमे इसका शब्दार्थ नही, भावार्थ लेना है । और भावार्थ मे जल-दान करने वाले सरोवर, कुए, नदी, नहरे और चश्मे आदि सभी आ जाते हैं, जहाँ-जहाँ से भी जल प्राप्त होता है ।

तो सरोवर या तालाब जिसमे पानी रहता है, क्या वह उसके काम आता है ? नही, उसके जल से पशु, पक्षी, मनुष्य जो भी अपनी तृष्णा शात करना चाहे, कर सकता है । वह सभी को समान भाव से और समान-गुण-युक्त जल प्रदान करता है । जिसके विषय मे कहा गया है —

अजीर्णे भेषज वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम् ।
भोजने चामृत वारि.... . . . ॥

—अजीर्ण होने पर जल औषधि है, पच जाने पर बलवर्धक एव भोजन के समय अमृत के समान है ।

ऐसे अमृत-मय जल को सरोवर केवल औरो के लिए ही रखता है। अपने लिये उसका कोई उपयोग नही करता। साथ ही अपने उदर मे सुरक्षित रखे हुए उस जल से केवल प्राणियो की तृष्णा ही शान्त नही करता, प्राणियो की उदर-पूर्ति के लिये अन्न उपजाने मे भी सहायक बनता है।

हम पजाब मे घूमकर आए है। वहाँ माखडा-नहर है। बडी विशाल नहर निकाली गई है। करोडो रुपया उसे बनाने मे लगा किन्तु अब उसी का जल करोडो रुपयो की पैदाइश कर रहा है। लाखो व्यक्ति उसके जल से पैदा हुए अन्न से जीवन प्राप्त करते है।

मानव को सरोवर के उदाहरण से शिक्षा लेनी है। उसकी बनावट के समान ही अपनी आत्मा को बनाना है। आत्मा-रूपी तालाब मे शुम-कर्मरूपी जल इकट्ठा करना चाहिए और तालाब के बाँध के समान ही आत्मारूपी तालाब मे बाँध बाँधना चाहिए। कैसे बधेगा वह बाँध ? व्रत, नियम तथा तपादि के द्वारा। ये सब एक प्रकार के बाँध है, जो आश्रवकर्मो को रोकेगे। तथा सवर करनी को आगे बढाएँगे। और उसके पश्चात् निर्जरा करेगे। जब तक व्रत, प्रत्याख्यान तथा तप रूपी बाँध इस आत्मा-रूपी तालाब मे नही बाँधा जायगा तब तक अशुभ-कर्म-रूप गन्दा व दुर्गन्ध-युक्त जल अन्दर आने से नही रुकेगा।

पर-उपकारी तरु

तरु यानी वृक्ष। वृक्ष का जन्म किसके लिये है ? क्या वह अपने फलो को स्वय खाता है ? अपने फूल की सुगन्ध स्वय लेता है ? या अपनी छाया मे स्वय बैठता है ? नही, वह ये सभी कुछ औरो के लिये रखता है। कहा भी है —

> **पत्रपुष्पफलच्छाया मूल वल्कलदारुभि ।**
> **गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मै कामान् वितन्वते ॥**

—वृक्ष अपने पत्ते, फल, फूल, छाया, मूल वल्कल, काष्ठ, गन्ध, दूध, भस्म, गुठली और कोमल अकुर से सभी प्राणियो को सुख पहुँचाते है।

परोपकारी वृक्ष अपने फल स्वय नही खाता दुनिया को खिलाता है, फूलो की सुगन्ध खुद नही लेता दूसरो को तरोताजा करता है। वह जब तक खडा रहता है, असह्य गर्मी और मूसलाधार वर्षा से प्राणियो को बचाता है। अर्थात् अपने ऊपर गर्मी, सर्दी और बरसात को सहन करके अनेक प्राणियो को उन कष्टो से दूर रखता है।

इतना ही नही, अगर उसे काट दिया तो भी वह लकडी के रूप मे इमारतें खडी करने मे सहायक बनता है, ईंधन के रूप मे भोजन तैयार करने मे सहायता देता है। इस प्रकार स्वय जलकर भी वह उपकार करने से नही चूकता।

सहिष्णुता और नम्रता की शिक्षा भी वृक्ष से ली जा सकती है। हम प्राय देखते है कि फलो से लदे रहने पर वह अभिमान से उठता नही, नीचे झुक जाता है।

और मनुष्यों के द्वारा फेंके गये पत्थरो की चोटो को सहकर भी उन्हें मधुर फल प्रदान करता है। पत्थरो का उत्तर वह पत्थरों की मार से नहीं देता, मीठे फलो से देता है। मनुष्यो मे क्या ऐसी सहिष्णुता और धैर्यता पाई जाती है ? नही पाई जाती, यह बात तो नहीं है, किन्तु क्वचित महात्माओ मे ही देखने को मिलती है।

सन्त न छोड़े सतई !

पद्य के अन्दर परोपकारियो की श्रेणी मे तीसरा नम्बर सन्त का आया है। सन्तो का जन्म भी परोपकार के लिये ही होता है। जो सच्चे सन्त या साधु होते है वे सदा ही ससार की कल्याण-कामना करते है। वे अपने स्वार्थ के लिये नही जीते, परोपकार के लिये जीवन-धारण करते है। अन्य कोई व्यक्ति अगर उनका कुछ बुरा करे तो वे उसका भला करने के प्रयत्न मे रहते है।

कोई जागीर दे दो !

एक बार स्वामी रामदास जी अपने शिष्यो के साथ कही जा रहे थे। रास्ते मे एक गन्ने का खेत आया। स्वामी जी का एक शिष्य उस खेत मे से गन्ना तोडकर चूसने लगा। उसी समय खेत का मालिक आ गया। बिना इजाजत अपने खेत से गन्ना खाया जाता देखकर उसे क्रोध चढ आया। और उसने स्वामी रामदास को गन्ना खाने वालो का मुखिया समझकर खूब पीटा।

शिवाजी को जब यह समाचार मिला तो वे अत्यन्त कुपित हुए और अपने गुरुजी के अपमान का बदला लेने को उतारु हो गए। उन्होने फौरन कर्मचारी को भेजकर गन्ने के खेत के मालिक को बुलवाया।

उसने आकर देखा कि जिन्हे वह पीट चुका है, वे स्वामी जी सिहासन पर बैठे है और शिवाजी महाराज नीचे। यह देखते ही वह कापने लगा।

शिवाजी ने गुरुजी से पूछा—"भगवन् ! इस नीच व्यक्ति को क्या सजा दू ? बताइये !"

स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा—"मैं जो कहूँगा वह करोगे ?"

"वाह गुरुदेव ! क्या मैं आपकी आज्ञा का पालन नही करूँगा ?"

"तो इसे कोई जागीर दे दो ! यह गरीब है। गन्ना कम हो जाने से ही इसे दुःख हुआ होगा। अत जागीर देकर इसकी दरिद्रता मिटा दो !"

इसे ही सच्चा साधुत्व कहते है कि मार खाकर भी जागीर दिलवा दी। बुरा करने वाले का भी भला किया। सन्त कभी 'जैसे को तैसा', यह कहावत चरितार्थ नहीं करते। तभी तो कहा जाता है :—

सन्त न छोडै सन्तई, कोटिक मिले असन्त।
मलय भुजगहि बेधिया, सीतलता न तजत॥

जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष पर सर्पों के लिपटे रहने पर भी चन्दन अपनी

शीतलता और सुगन्ध नहीं त्यागता, इसी प्रकार सन्तो को कितने भी असन्त अर्थात् बुरे व्यक्ति क्यो न मिलें, वे अपनी उत्तमता का त्याग नहीं करते। ससार मे सन्तो को कटुवचन कहने वाले और उनका अपमान करने वालो की कमी नही है।

अनेक व्यक्ति साधुओ को देखकर कह उठते हैं—'खाने के लिये नहीं होगा, इसलिये साधु बन गए।' कोई कहता है—'कमाने के लिये परिश्रम नही किया जाता, इससे साधु बने फिरते है।' कोई यह भी कहने से नही चूकता कि 'कोई रोने वाला नही होगा इसलिये साधु बने है।' हाथ मे भिक्षा-पात्र देखकर कहते है—'पेट भरने के लिये यह स्वाग सबसे अच्छा है।'

किन्तु साधु यह सब सुनकर भी मन मे कभी रोष नही लाते। अपमान किया जाने पर भी उनमे कभी बदला लेने की भावना नही आती। उलटे वे अपकारी की कल्याण-कामना करते है।

रामदुहाई

कहते है कि महात्मा कबीर एक बार कही जा रहे थे। रास्ते मे उन्हे किसी ने कहा—"इनका दिमाग ठिकाने पर नही, बिगड गया है।"

कबीर पहुँचे हुए सन्त और कवि थे। तुरन्त बोल उठे—

हम बिगडे तो बिगडे रे भाई।
तुम बिगडोगे तो राम दुहाई।

अर्थात्—भाई! हम बिगड गए तो कोई बात नही, पर तुम मत बिगड जाना। और बिगडो तो तुम्हे राम की सौगन्ध है।

बन्धुओ, याद रखो—बिगडना दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का बिगडना अपनी कीमत कम करता है, और दूसरे प्रकार का बिगडना महत्त्व को बढाता है। उदाहरण के लिये दूध को ही लीजिये। हमारे सामने दूध है। हम उसमे जामन डाल देते हैं तो वह दही बन जाता है। अब बताइये दूध बिगडा या सुधरा? दूध तो बिगडा पर उसकी कीमत बढ गई।

और दूसरी तरफ वही दूध है। किन्तु उसमे नमक गिर गया। परिणाम क्या हुआ? उसकी कीमत घट गई। अब बिगडा कौन? और सुधरा कौन? आप समझ ही गए होगे कि दूध का दही बना तो वह सुधर गया। व्यवहार-दृष्टि से उसमे पतला-पन मिटकर गाढापन आ गया। किन्तु नमक गिर जाने से उसकी कीमत घट गई। वह किसी भी काम का न रहा।

इसीलिये कबीर आगे कहते है—

पीतल के सग सोना बिगडे,
वो सोना पीतल हो जाई।
तुम बिगडो तो राम दुहाई!

स्वर्ण का रग पीला होता है और पीतल का भी । स्वर्ण के रस मे अगर पीतल का रस पड जाए तो क्या होगा ? सोना फीका हो जाएगा । उस फीके सोने को अगर कोई जौहरी के पास ले जाय तो जौहरी तुरन्त कह देगा—'आप पीतल लेकर आए है ।' देखिये, असली मे थोडा सा नकली रस गिर गया तो सोने की कीमत घट गई ।

किन्तु अगर पीतल मे थोडा सा स्वर्ण रस गिर जाए तो ? पीतल की कीमत कितनी बढ जाएगी ? बहुत अधिक ।

कहने का अभिप्राय यही है बिगडना अर्थात् बदलना दो प्रकार का होता है—और इसीलिये 'कबीर' कहते है—मैं बिगडा तो ठीक ही हुआ । क्योकि मैं सन्तो के साथ बिगडा हूँ । भक्ति, त्याग और वैराग्य मे रग गया हूँ । अत मेरा बिगडना, बिगडना नही है यह तो सुधरना है । पर तुम कही सचमुच ही मत बिगड जाना और इसके लिये तुम्हे राम की दुहाई है ।

सन्त तुकाराम जी भी जब तक जीवित थे, लोग उन्हें 'एडा-तुका' कहते थे । ऐडा यानी मूर्ख-पागल । उनका नाम भी पूरा नही लेते थे । किन्तु सन्तो ने दुनिया के स्वभाव को समझकर अपने आपको समझा लिया कि दुनिया का रग दूसरा है और भक्ति का रग दूसरा । दुनिया की परवाह करेंगे तो भक्ति का रग नहीं चढेगा । ऐसा विचार करके ही वे ससार द्वारा किए मानापमान की परवाह नही करते । किसी का आदर पाकर प्रसन्न नहीं होते और अनादर पाकर नाराज नही होते । कहा भी है—

> जे न वन्दे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे ।
> एव मन्न समाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठई ।।
>
> —दशवैकालिक सूत्र

अगर कोई वन्दना करता है तो सत अभिमान मे फूल न जाये और वदन न करे तो कुपित न हो । यह सतो का व्यवहार है । वृक्ष जिस प्रकार पत्थर फैंकने वाले को भी फल प्रदान करता है, उसी प्रकार किसी के भी कटु-वचनो को सत समभाव से सहन करे ।

इस ससार मे महापुरुषो को अनेक विपत्तियाँ सहनी पडती है । सकटो की कसौटियो पर कसे बिना जाने पर ही वे महान् बन पाते हैं, तथा जितने महान् होते जाते हैं उतने ही नम्र तथा सहिष्णु हो जाते हैं । परोपकार उनका सबसे बडा गुण होता है । मित्र और शत्रु सभी का वे समान-भाव से उपकार करने के लिए तैयार रहते हैं । कहा भी है—

> महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
> सपत्नी· प्रापयन्त्यब्धि सिन्धवो नगनिम्नगा ।।
>
> —महाकवि माघ

महान् पुरुष तो शरणागत शत्रुओ पर भी अनुग्रह करते हैं । बडी नदियाँ

सपत्नी (छोटी-मोटी) पहाडी नदियो को भी समुद्र तक (अपने पति तक) स्वय पहुँचाती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि महापुरुष और सत व्यक्ति किसी से भी वैर-भाव नही रखते, अपना बुरा करने वालो का भी भला करते है तथा सत्य, त्याग, दया, परोपकार, करुणा और सहिष्णुता का कभी त्याग नही करते। ऐसे सत ही ससार के अज्ञानी प्राणियो को सन्मार्ग बता सकते है। आज का ससार घोर अनैतिकता, स्वार्थपरता एव पाशविकता की स्थिति मे से गुजर रहा है। ऐसे कठिन समय मे इसे इसी प्रकार के निस्वार्थी, निर्लोभी, परोपकारी और सयमी मार्गदर्शको की आवश्यकता है। अन्यथा केवल नामधारी सत कहलाने मे क्या लाभ ? किसी गुजराती कवि ने ठीक ही कहा है—

> **शूं थाय मस्तक मुडवाथी चूंटवाथी केश ने ?**
> **नहिं काम क्रोध तजाय तो शूं थाय धरवे वेश ने ?**
> **शूं थाय ! कपडा पेरवा थी विविध रे साधू तणा,**
> **माया तणा परवाविषे घाटो घडे अवला गणा।**
> **एवु अरे ! साधुपणुं ससार मा शूं काम नु ?**
> **नहिं भवभ्रमण ने भांगशे साधुपणुं ए नाम नु।**

पद्य का यही भावार्थ है कि केवल श्वेत, गेरुए या अन्य प्रकार के वस्त्र पहन-कर साधु दिखाई देने से ही मनुष्य साधु नही कहला सकता। वस्त्र, मालाएँ, तिलक या छाप ही साधुत्व के चिह्न नही होते। साधु व ही कहलाते है, जिन्होने क्रोध, मान, माया, लोभ एव अहकार का त्याग कर दिया है, जिन्होने बाहर और भीतर के परिग्रह का त्याग कर दिया है, मोह पर विजय प्राप्त करली है और जो भोगो से विरक्त होकर अपनी सयम-साधना मे लगे हुए है। ऐसे सत ही तरण-तारण कहलाते हैं और उनकी सगति म आने वाले प्राणी सत्पथ प्राप्त करते है।

सत्सगति दुर्लभ ससारा

मानव अगर सतो के समागम मे रहे तो अपने सुन्दर जीवन का निर्माण कर सकता है। सत्सगति करने से नीच से नीच व्यक्ति भी महान बन जाता है। नित्य छ प्राणियो का वध करने वाला अर्जुनमाली भगवान् महावीर की सगति से सुधर गया। लोगो की अगुलियाँ काट काटकर उनकी मालाएँ पहनने वाले महापापी अगुलिमाल डाकू ने भी गौतम बुद्ध की सगति से अपने दुर्गुणो का त्याग कर दिया।

ऐसा होता है सत्सग का प्रभाव। सत्सग से ही मानव का मानसिक एव बौद्धिक विकास होता है तथा हृदय की मलिनता, अस्थिरता एव अज्ञता मिटती है। सतो के द्वारा बताए गये मार्ग पर चलकर ही मानव अपने शुद्ध आत्म-रूप का साक्षात्कार कर सकता है। सत्सगति का महत्त्व नीतिशतक मे भी बडा उत्तम बताया गया है—

जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य,
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।
चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्सगति कथय किं न करोति पुंसाम् ।। —भर्तृहरि

—सत्सगति बुद्धि की जडता नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता प्राप्त कराती है तथा ससार मे यश फैलाती है। सक्षेप मे सत्सगति पुरुषो के लिए क्या नहीं करती ?

इसलिए प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को सतो का समागम करना चाहिए। उनके उपदेश और जीवनचर्या से शिक्षा लेनी चाहिए। सतो के सम्पर्क मे आने से ही मालूम पडता है कि वे कितने धैर्य और साहस के साथ क्षमा, दया, सत्य तथा सदाचारादि शस्त्रो से सुसज्जित होकर कर्मरूपी शत्रुओ के साथ युद्ध करते हैं। और किस प्रकार अपनी आध्यात्मिक साधना मे आगे बढते हैं। साधना के मार्ग मे अगर उन्हे मारणान्तिक उपसर्ग भी झेलने पडें, तो सहर्ष झेलते है। उनकी सबसे बडी विशेषता तो यह होती है कि वे आत्म कल्याण और विश्वकल्याण मे कोई अन्तर नही समझते। आत्मकल्याण उन्हे जितना प्रिय है, पर कल्याण भी उतना ही प्रिय है। इसलिए वे स्व और पर के कल्याण म तत्पर रहते है। तथा **तिण्णाण तारयाण'** कहलाते है।

मुनि मारग निबाहिबो

'तिण्णाण-तारयाण' बनना भी सरल नही है, अत्यन्त कठिन है। इसके लिए घोर सयम का पालन करना पडता है। ससार के समस्त सुखो का त्याग और समस्त आकर्षणो से मुँह मोडना होता है। बिना विराम लिए साधना-पथ पर जीवन पर्यन्त चलना पडता है। कुछ दिन, कुछ महीनो, या कुछ वर्षों मे ही यह मार्ग तय नही हो जाता। इसीलिए अमीऋषि जी महाराज ने कहा है—

सहज नहीं है असिधारा पं गमन पुनि,
त्योहि ना सहज पावक मे तन वाहिबो ।
अगुलि मे मेरु धरी राखबो सहज नाहीं,
भुजानी ते स्वयभूरमण सिंधु थाहिबो ।
देह सुकुमार अति सयम कठिन जाव—
जीव विसराम पं न दो दिन को चाहिबो ।
यातें अमोरिख सुविचार करी लोजे व्रत,
सहज नहीं है मुनि—मारग निबाहिबो ।

महाराज श्री सयम-मार्ग अपनाने के इच्छुक प्राणियो को चेतावनी देते है— जिस प्रकार तलवार की धार पर चलना, अग्नि मे तन को जलाना, अगुलि पर मेरु पर्वत का टिकाना और भुजाओ से स्वयभूरमण सिंधु को तैरना कठिन है, उसी प्रकार

सुकुमार देह को सयम के मार्ग पर चलाना कठिन है। साथ ही इस मार्ग पर निरन्तर चलते रहना है, दो दिन का भी विश्राम सम्भव नहीं है। अत भव्यप्राणियो ! खूब सोच-विचार कर ही यह व्रत ग्रहण करना। मुनियो के इस मार्ग को, और मुनियो की इस कठिनचर्या को निबाहना सरल नही है, अत्यन्त दुष्कर है।

किन्तु निकट-भावी या मुक्ति के सच्चे उपासक, इन बातो की कब परवाह करते हैं ? वे अनन्त जन्मो के सहे हुए घोर कष्टो के मुकाबले मे इस एक जन्म के परीषहो और उपसर्गों को नगण्य मानते है तथा दृढता से अपने पथ पर बढते चले जाते है। परिणाम यह हाता है कि अपना और अपने शरण मे आए हुए प्राणियो का उद्धार करने म समथ बनते है।

मेह की उदारता

सरवर, तरुवर और सत-जन के पश्चात् चौथा नम्बर परोपकारियो की श्रेणी मे 'मेह' का आया। मेह बरसता है, पर उसस वह स्वय कोई लाभ नही उठाता। लाभ उठाता है ससार। वक्त पर अगर वर्षा न हो तो दुनिया त्राहि-त्राहि कर उठती है। महाराष्ट्र प्रात के भाई आए है। उनका कहना है कि 'हमारे उधर पानी नही है, एक साल भी अगर पानो न बरसे तो प्राणी कितने दुखी और व्याकुल हो जाते है ? जीवो की प्राण रक्षा होना भी कठिन हो जाता है। पानी न बरसने के कारण ही अकाल पडता है और जिस प्रदेश मे पडता है, लाखो मनुष्य और पशु आदि मौत के शिकार बनते हैं।

मेरे कहने का आशय यही है कि इन सब सकटो को मिटाने वाला मेह ही है। सारे ससार को अपन जल के द्वारा जीवन-दान देने वाला अपने लिए बूँद भी नही रखता। इससे अधिक उपकारी और कौन हो सकता है ?

हम इन सबसे शिक्षा लेनी चाहिए। तथा परोपकार को अपने जीवन का भूषण मानकर उसस अपने आप को अलकृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। परोपकार ही इस अस्थिर जीवन का अमृत है। अपने लिए तो पशु, कीट, पतग आदि क्षुद्र प्राणी भी जी लेन है, किन्तु मानव की विशेषता तभी जानी जा सकती है, जब वह पर-उपकार के लिए जिय। कहा भी है —

आत्मार्थमस्मिन् लोके को न जीवति मानव ।
परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥

बन्धुओ, इस विश्व का प्रत्यक महा-मानव तथा प्रत्येक सच्चा साधक अपने लिए नही, वरन् औरो के लिए जीता है। परोपकार ही उसका आनन्द, उसका लक्ष्य और उसका जीवन होता है।

भगवान महावीर का जीवन परोपकारमय था। वे अहर्निशि प्राणिमात्र के उद्धार के प्रयत्न मे लगे रहते थे। इसीलिए सूर्याभदेवता उनकी ओर दृष्टिपात करते हुए प्रार्थना करते है—आप "**तिण्णाण तारयाण हैं।**"

☆

४

नही ऐसो जन्म बारम्बर

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज के प्रवचन म सुधर्मा देवलोक का वर्णन चल रहा है। देवलोक बारह माने गए है, उनमे प्रथम का नाम है, 'सुधर्मा देवलोक'। इस देवलोक के इन्द्र विशेषकर समदृष्टि रहते हे। तथा वे देवलोक के सम्पूर्ण सुखो का अनुभव करते हुए भी अपने अवधिज्ञान के द्वारा जान लेते है कि भरतखण्ड या अन्य स्थान पर कहाँ क्या हो रहा है ?

उनके ध्यान मे बराबर रहता है कि कहाँ पर भक्त अपनी भक्ति मे लीन है ? कौनसा योगी तपस्या-रत है ? तथा कौनसा साधक अपनी साधना मे लगा हुआ है ? अपने ज्ञान से वे भली-भाँति जान लेते है कि कौन तपस्वी है ? कौन दानी है ? कौन सेवाभावी, सत्यवादी, अथवा सच्चा भक्त है ? सद्‌गुणी प्राणियो को देखकर इन्द्र का हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। वास्तव मे ही जो सज्जन होता है वह अन्य प्राणियो के दोषो की ओर ध्यान न देकर केवल गुणो को देखता है। कहा भी है —

"सज्जनश्च गुणग्राही।"

इन्द्र भी जब अपनी देवसभा मे बैठते है तो निष्कपट और प्रफुल्ल भाव से गुणियो की प्रशसा करते ह। सतो की महान साधना अथवा भक्तो की अविचलित भक्ति को देखकर उनका हृदय कह उठता है—'धन्य है ऐसे सतो तथा भक्तो को, जिन्हे कोई भी अपनी साधना या भक्ति से विचलित नही कर सकता, इचमात्र भी चलायमान करने की सामर्थ्य नही रखता। क्योंकि—

"त्यजन्त्युत्तमसत्त्वा हि प्राणानपि न सत्पथम्।"

—जो उत्तम कोटि के प्राणी होते है, वे समय आन पर अपन धर्म की रक्षा करने के लिये अपने प्राणो तक की बलि देने के लिए तैयार हो जाते हैं, परन्तु सत्य मार्ग का परित्याग करने के लिये तैयार नही होते।

प्रशंसा गले नहीं उतरती

इन्द्र जब देव-सभा में सद्‌गुणी व्यक्तियों की प्रशंसा करते हैं तो उपस्थित देवों में अनेक मिथ्यादृष्टि देव ऐसे भी होते हैं, जिन्हें संसारी प्राणियों की प्रशंसा सहन नहीं होती। वे सोचते हैं—'देव सभा में देवताओं की तारीफ न करके अन्न के कीड़े मनुष्यों की, अल्पायु प्राणियों की तारीफ क्यों?' मिथ्यादृष्टियों को इन्द्र की बात पर विश्वास नहीं होता।

आप भी सभा-सोसाइटों में बैठते हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्ताव रखे जाते हैं। अधिकांशतः कोई भी प्रस्ताव सभी को मान्य होता। अगर निन्यानवे व्यक्ति उसके पक्ष में मत देंगे तब भी एकाध तो ऐसा मिल ही जायगा जो उसके विरोध में होगा। तो जिस प्रकार आपकी सभा-सोसाइटियों में कोई न कोई प्रस्ताव की खिलाफत करने वाला मिल जाता है, उसी प्रकार देवलोक में भी जो समदृष्टि नहीं होते, वे देवता गुणीजनों की प्रशंसा का सहन नहीं करते।

सराहना किसकी ?

भले ही सराहना देवलोक में की जाय अथवा मृत्युलोक में, वह होनी किसकी है यह विचारणीय बात है। इस विषय में संस्कृत साहित्य में एक श्लोक कहा गया है —

नहि जन्मनि श्रेष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं गुण उच्यते।
केतकीवरपत्राणां लघुपत्रस्य गौरवम् ॥

इस श्लोक में बताया गया है कि किसी को भी जन्म से श्रेष्ठत्व प्राप्त नहीं होता। श्रेष्ठत्व उत्तम गुणों के कारण उपलब्ध होता है। कोई व्यक्ति उच्च जाति या उच्चकुल में जन्म ले लेने से ही श्रेष्ठ कहलाने लग जाय यह संभव नहीं है। उच्च जाति का होने पर भी अगर वह सद्‌गुणों से रहित हो उसका आचरण निंदनीय हो तो वह श्रेष्ठत्व के पास भी नहीं फटक सकता। जन्म जहाँ है, वहाँ श्रेष्ठत्व नहीं है। श्रेष्ठत्व वहाँ है, जहाँ सद्‌गुण है। जाति का कोई महत्व नहीं है। महत्व केवल सद्‌गुणों का है। सदआचरण का है।

सदाचरण का चमत्कार

गांधी जी जब विलायत में थे, एक पादरी ने सोचा कि यदि मैं गांधी को ईसामसीह का भक्त बना दूँ तो हिन्दुस्तान में करोड़ों आदमी अपने आप ही ईसाई बन जाएँगे। पादरी ने गांधी जी से संपर्क बढ़ाया और एक दिन उनसे प्रस्ताव किया—"आप प्रत्येक रविवार को मेरे घर भोजन किया कीजिये ताकि हम कुछ समय बैठ कर धर्म-चर्चा कर सकें।" गांधीजी ने पादरी के निमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

रविवार के दिन पादरी महोदय को निरामिष भोजन की व्यवस्था करते हुए देखकर उनके बच्चों ने पूछा—"पिताजी! ऐसा क्यों कर रहे हैं?"

पादरी ने उत्तर दिया—"मेरा मित्र गाधी हिदुस्तानी है, वह मास नही खाता इसलिये शाकाहारी भोजन की व्यवस्था की जा रही है।"

"वे मास क्यो नही खाते ?" बच्चो ने सरलता से पूछा।

पादरी ने व्यग से कहा "वह कहता है, जैसे हमारे प्राण है वैसे ही समस्त पशु-पक्षियो के भी प्राण है। हमे कोई मारे तो जैसा कष्ट हमे होता है वैसा ही कष्ट उन्हें भी होता है।"

बालको पर पादरी की भावना के प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। वे बोले—"पिताजी ! यह तो बडी अच्छी बात है, हमे भी मास नही खाना चाहिए।"

"बेटा ! यह तो उसके धर्म की बात है, हमारे धर्म की नही।" पादरी ने उपेक्षा से कहा। किन्तु बच्चो के मन को यह बात सुनकर सतोष नही हुआ। उनके मन मे यही भावना उठी कि "कोई अच्छी बात अगर किसी भी धर्म मे हो तो क्यो नही मानना चाहिए ?"

गाँधीजी प्रति रविवार को आते। पादरी के साथ धार्मिक चर्चाएँ चलती और बच्चे उन्हे सुनते। गाँधीजी की सादगी, करुणा की भावना, मधुर और शात स्वभाव तथा उनके अनेकानेक अन्य सद्गुण पादरी के बालको को बहुत अच्छे लगे तथा वे उनकी ओर आकर्षित होने लगे। अत मे उन्होने एक दिन कह दिया—"पिताजी ! गाँधीजी का धर्म बहुत अच्छा है। अब हम कभी भी माँस नही खाएँगे।

पुत्रो की बात सुनकर पादरी परेशान हो गया। सोचने लगा—"मैं गाँधी को ईसाई बनाना चाहता था, पर मेरे लडके ही हिन्दू बनने जा रहे है।"

अगले रविवार को जब गाँधीजी आए तो पादरी ने उनसे कह दिया—मिस्टर गाँधी ! मैं हिंदुस्तान के कल्याण के लिये तुम्हे ईसाई बनाना चाहता था पर तुम मेरे पुत्रो पर धावा बोल रहे हो, यह मुझे सह्य नही हो सकता। मैं आज से आपको दिया हुआ निमत्रण वापिस लेता हूँ।"

बधुओ, इस उदाहरण से आप समझ गए होगे कि मनुष्य को श्रेष्ठता प्रदान करने वाले उसके सद्गुण और सद्व्यवहार ही होते है। ससार सद्गुणो की सौरभ से आकर्षित होता है जात और कुल की पूछताछ नही करता।

श्लोक की अगली पक्ति म कहा भी है कि केवडे के पत्तो मे जो सबसे ऊपर रहता है और सबसे बडा भी होता है सुगध कम होती है। उससे अधिक दूसरे मे, और इसी प्रकार क्रमश पत्ते छोटे निकलते चले जाते है किन्तु सुगन्ध अधिक मात्रा मे बढ़ती जाती है। अत बताइये, बडे पत्ते को अधिक महत्त्व दिया जाएगा या छोटे पत्ते को ? सस्कृत के कवि ने तो छोटे पत्ते को ही यह गौरव प्रदान किया है। अगर आपको भी इसकी सत्यता जाननी है, स्वय अपने अनुभव से जान सकते है। हमे तो उसे स्पर्श ही नही करना है।

अमर जीवन

जिस प्रकार उद्यान म खिले हुए फूलो की महक छिपाए नही छिपती, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर अवतरित महापुरुषो के महान गुणो की महक भी ब्रह्माण्ड मे व्याप्त हो जाती है तथा देवलोक के इन्द्र व सम्यक्दृष्टि देव उनकी भूरि-भूरि प्रशसा कर उठते है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि देवता क्रोध और ईर्ष्या के कारण अनेक बार मृत्युलोक मे आते है तथा नाना प्रकार के कष्ट देकर महापुरुषो को अपने सत्य, शील, साधना और भक्ति म विचलित करन का प्रयत्न करते है। मरणान्तक परीषह देने से भी नही चूकते। किन्तु अन्त मे उन्हे मुँह की खानी पडती है। क्योकि मृत्यु को कौतुक समझने वाल दृढव्रती पुरुष प्राणो पर खेल कर भी अपने धम मे नही डिगते। ऐसी महान आत्माएँ मरकर भी अमर हो जाती है। युग युग तक उनका नाम जीवित रहता है। किसी कवि ने बडे सुन्दर ढग से यही बात समझाई है —

> **यूँ तो जीने के लिये लोग जिया करते है,**
> **लाभ जीवन का फिर भी नहीं लिया करते हैं,**
> **मृत्यु से पहले भी मरते हैं हजारो लेकिन—**
> **जिन्दगी उनकी है जो मर के जिया करते हैं!**

गुरु गोविन्दसिंह के छोटे छोटे सुकुमार पुत्रो ने भी सच्ची जिन्दगी के रहस्य का समझ लिया था। तथा क्रूर सम्राट औरगजेब के द्वारा नाना प्रकार के लोभो की तथा भयो की परवाह न करते हुए मुसलमान बनने से इन्कार कर दिया था। दोनो छोटे बालक दीवार म जीवित ही चुन दिए गये किन्तु धर्म मे रच-मात्र भी विचलित न होते हुए वे ससार म सदा के लिए अपना नाम अमर कर गए।

समाज के भावी कर्णधार

आज हमारे यहाँ अध्यापक गण व बाल-विद्यार्थी आए हुए है। अपनी पाठ्य-पुस्तको मे इन्होन धम पर प्राण न्यौछावर कर देन वाले गुरु गोविन्दसिंह के नन्हे बालको की कहानी पढ़ी ही होगी। उनके समान ही इन्हे भी अपने धर्म पर, सत्य, अहिंसा आदि आत्म-गुणो पर अभी मे दृढ आस्था रखने का प्रयत्न करना है। क्योकि अच्छ सस्कार बाल्यावस्था से ही अगर बालक के मन मे जम जायें तो जीवन-पर्यंत बने रहते है। आज का बालक ही कल के समाज का कर्णधार बनता है अत प्रत्येक को अपने आप पर पूर्ण विश्वास रखते हुए सतत यह भावना रखनी चाहिये —

> **आज का रजकण जरा सा,**
> **तुच्छ हूँ, बे-भान हूँ मै।**
> **देखना कुछ दिन, हिमाचल,**
> **विश्ववन्द्य महान हूँ मै।**

नव्य युग सर्जन करूंगा,
भूत-कण्ठ कृपाण हूं मैं।
क्रांति - रण का अग्रयोद्धा,
विश्व का कल्याण हूं मै।

बालको, तुम्हारे भोले-भाले हृदयो को देखकर मुझे अपार प्रसन्नता होती है। मैं चाहता हूं कि तुम ससार विजयी बनो और अपने मानव-जीवन को पूर्णत सार्थक बनाओ। आज मैं तुम्हे तुम्हारे गणित के आधार पर ही जीवन के विषय मे बताता हूं।

जीवन और गणित

तुम्हारे शिक्षक तुम्हे चार प्रकार से गणित सिखाते है। जोड, बाकी, गुणा और भाग। इन चारो के द्वारा ही तुम बडे बडे सवाल कर लेते हो। बडी-बडी मिलो, फैक्टरियो और कारखानो का हिसाब किताब भी इन्हीं के द्वारा कर लिया जाता है। जीवन का हिसाब-किताब भी चार प्रकार से किया जाता है।

वैष्णव धर्म-ग्रन्थो मे जीवन का चार भागो मे बाँटा जाता है। जिनके नाम है—ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम।

ब्रह्मचर्याश्रम

पहला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है, और आपके गणित मे सर्वप्रथम जोड का नम्बर आता है। जोड मे क्या होता है? दो और दो जोडे, चार हुए। चार मे छ जोडे, दस हो गए। तात्पर्य यही की जोड मे बढती होती रहती है इकट्ठा हो जाता है। ठीक इसी तरह जीवन के पहले भाग ब्रह्मचर्याश्रम मे ज्ञान को इकट्ठा करना होता है और उसम अनुभवो को जोडते हुए उसकी निरतर अभिवृद्धि करनी पडती है। पच्चीस वर्ष की उम्र तक मानव शिक्षार्थी बना रहता है तथा अन्य किसी भी विषय की ओर ध्यान दिए बिना उसे अपना ध्येय केवल ज्ञानप्राप्ति ही रखना होता है। ज्ञान तभी प्राप्त होता है जबकि ज्ञानार्थी अपने समस्त सुखो को उस पर न्योछावर कर दे। कहा भी है—

"विद्यातुराणा न सुख न निद्रा।"

—जिन्हे विद्या प्राप्त करने की उत्कट लालसा है, वे न तो सुख की आकांक्षा करते है और न निद्रा की ओर ही ध्यान दिया करते हैं।

किन्तु इसके के लिए आवश्यक है मन की सरलता और सत्यनिष्ठा। आज के विद्यार्थी नकल करके अथवा अन्य प्रकार के छल-फरेब म और उसमे भी काम न चले तो अपने शिक्षको को रिश्वत देकर परीक्षाओ मे नम्बर बढवा लेते है और अपने उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र बनवा लेते है। ऐसा ज्ञान जो कि असत्य की नीव पर खडा होता है, जीवन को उन्नत नही बना सकता। इसलिए ज्ञानार्थी को निर्दोष भाव से ज्ञानाराधन करना चाहिये।

सत्यवादिता का पुरस्कार

गोपालकृष्ण गोखले बचपन मे जब स्कूल मे पढा करते थे, एक दिन उनके अध्यापक न अकगणित के कुछ प्रश्न विद्यार्थियो को करने के लिए दिये।

गोखले से वे प्रश्न हल नही किये गये तो उन्होने अपने एक मित्र की सहायता ली और सवाल कर लिये। अगले दिन स्कूल मे अध्यापक ने सब छात्रो की कापियाँ जाँची तो गोखले की पीठ थपथपाते हुए कहा—

"सब छात्रो की अपेक्षा गोखले के सवाल सही है अत मैं इसे पुरस्कार देता हूँ।"

किन्तु गोखले यह सुनकर फूट-फूट कर रो पडे। अध्यापक ने चकित होकर पूछा—"रोते क्यो हो तुम ?"

"मैंने आज आपको धोखा दिया है, मुझे इसका दण्ड मिलना चाहिये पर आप उलटे पुरस्कार द रहे ह।"

"कैसा धोखा ?" अध्यापक का प्रश्न था।"

"ये गणित के सवाल मैंने स्वय नही किये, अपने मित्र की सहायता से किये है।" गोखले पुन रो पडे।

शिक्षक ने अत्यन्त प्रसन्न होकर पुन गोखले की पीठ थपथपाई और गद्गद् होकर कहा—"तुम सत्यवादी बालक हो! अत अब यह पुरस्कार मैं तुम्हे तुम्हारी सत्यवादिता के लिये देता हूँ।"

बचपन से ही सत्य पर बढ रहने वाले बालक गोखले एक दिन देश के महान् नेता बने। इस प्रकार के बालक ही सच्ची ज्ञान-साधना कर सकते है—

कहने का अभिप्राय यही है कि गणित से पहले अग जोड के समान ही शैशवावस्था से पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ज्ञान को इकट्ठा करना चाहिये। उसमे कुछ न कुछ जोडते रहना चाहिए घटाना नही।

गृहस्थाश्रम

पच्चीस वर्ष की वय के पश्चात् मानव गृहस्थाश्रम म प्रवेश करता है। अर्थात् विवाह करके माता, पत्नी आदि सभी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ गृहस्थ-धर्म का पालन करता है। विवाहित हो जाने के बाद यह पाँचो इन्द्रियो के सुखो का अनुभव करता है। किन्तु ध्यान रखने की बात है कि यह दूसरा आश्रम है। इसमे कुछ इकट्ठा नही होता उलट खर्च होता है।

जिस प्रकार गणित के दूसरे अग 'बाकी' म कुछ न कुछ घटता ही जाता है। आप जानते ही ह कि दस म से तीन निकालो तो सात रह जाते है तथा सात म से चार निकालो तो तीन ही बचते ह यानी 'बाकी' म बस घटना ही घटना होता है। इसमे बढने का सवाल नही होता। इसी प्रकार आश्रम के दूसरे भाग गृहस्थाश्रम मे ब्रह्मचर्याश्रम मे जो इकट्ठा कर लिया जाता है वह घटने लगता है। उसमे बढती

नही होती । क्योकि इस अवस्था मे मन पर सयम नही रहता—दुष्कर चित्तरोधनम् । अर्थात् चित्त की वृत्तियो को रोकना अत्यत कठिन काम है । तभी किसी ने कहा है—

क्वचिच्चित्त तोष क्वचिदपि च रोषं गमयति
क्वचिद् दोषं कोष क्वचिदपि च मोष कलयति ॥
क्वचित् कृच्छ्रायस्त क्वचिदपि च सौख्य ह्यनुभवन् ।
कदाऽवश्यं वश्यं व्रजति च मुनीनामपि मन ॥

—मनुष्य का मन कभी सतोष धारण करता है तो कभी रोषाकुल हो जाता है, कभी महादोषमय बन जाता है तो कभी लक्ष्मी के भडार भरने का विचार करता रहा है । कभी महाचौर्य कर्म के वश मे होता है तो कभी महा चिंताग्रस्त हो दु ख का अनुभव करता है । इसी प्रकार कभी दुख और सुख का अनुभव करने वाला मन, जो मुनीश्वरो को वश म करना कठिन प्रतीत होता है वह मेरे वश मे कब हो सकता है ?

तो जीवन का वह भाग जो असयम और भोग विलास मे व्यतीत होता है जीवन को उन्नत कैसे बना सकता है ? अर्थात बाकी के समान ही उसमे से कुछ न कुछ ह्रास को प्राप्त होना है ।

वान प्रस्थाश्रम

गणित का तीसरा अग 'गुण' कहलाता है । इसमे सख्या 'जोड' की अपेक्षा कई गुनी बढती है । दो को तीन से गुणा करो छ होते है और छ को चार से गुणा कर दो तो चौबीस । इसी प्रकार गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम मे आते-आते मनुष्य के बेटे-बेटी, पौत्र-पौत्री व दौहित्र-दौहित्रियाँ आदि मिलकर परिवार की सख्या मे बढती करते जाते है ।

किन्तु इस अवस्था से असयम का तूफान कुछ शात होने से तथा भोग-विलासो से ऊब हो जाने से मनुष्य के मन की भावनाएँ कुछ बदल चलती है । वह घर मे रह कर भी तथा गृह-कार्य सम्पन्न करते हुए भी अपने दिल को टटोलने लगना है तथा विचार करता है —

नो धत्त किल मानुष वरमिद मित्राय पुत्राय वा ।
नो धत्त किल मानुष वरमिद चित्ताभिरामस्त्रियै ॥
नो धत्त किल मानुष वरमिद लाभाय लक्ष्म्यास्तथा ।
किं त्वात्मोद्धरणाय जन्म-जलधेर्धत्त वर मानुषम् ॥

—यह उत्तम मनुष्यत्व मुझे मित्र और पुत्रो के लिये प्राप्त नही हुआ है, यह मनुष्यत्व सुन्दर तथा मनोहारिणी सुन्दरियो के विलास सुख के लिये नही मिला है । यह उत्तम मनुष्यत्व लक्ष्मी का भडार भरने के लिये प्राप्त नही हुआ है । वरन् यह मनुष्यत्व इस भयकर भव-रूपी सागर मे डूबी हुई आत्मा के उद्धारार्थ मिला है ।

इस प्रकार विवेक के जागृत हो जाने पर भव्य प्राणी जीवन और जगत के रहस्य को समझने मे लग जाता है। वह जान लेता है कि

अनित्य यौवन रूप, जीवित द्रव्यसंचय ।
ऐश्वर्यप्रियसवासो, मुह्यतेऽत्र न पडित ।।

—युवावस्था, रूप, जीतव्य, द्रव्य-भडार, ऐश्वर्य सगे सम्बन्धियो का सहवास और पत्नी-सुख आदि हमेशा रहने वाले नही है इसलिये चतुर और विद्वान पुरुष इनमे मोहित नही होते तथा सुख-दुख मे समान रहते है।

इस प्रकार वानप्रस्थाश्रम मे मानव अपने हृदय का मथन करता हुआ आत्मोन्नति के मार्ग की पहचान करता है। ससार के स्वभाव को समझता है तथा सही मार्ग को अपने ज्ञान एव विवेक के द्वारा जान कर उस पर चलने के लिये कटिबद्ध हो जाता है।

सन्यासाश्रम

यह जीवन का चौथा भाग है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गणित का चौथा अग भागाकार है। भाग करने पर जिस प्रकार हिस्सा निकाला जाता है, उसी प्रकार जीवन मे से भी हिस्सा निकालो! दुनियादारी के लिये तो तुमने खूब खर्च किया किन्तु परमार्थ के लिये क्या निकाला? सेवा, भक्ति, ईश-स्मरण और परोपकार के लिये भी अपना समय और द्रव्य निकालो। अपने घर के लिये तो सभी करते है इसमे कोई बडी बात नहीं है। समाज, देश और राष्ट्र के लिये भी कुछ करो! जीवन मे सिर्फ इकट्ठा ही करते गए, जोड करली, गुणाकार कर लिया, मगर परमार्थ के लिये कुछ नही निकाला तो जीवन की क्या सार्थकता होगी?

बधुओ, जिस प्रकार गणित मे भागाकार असली तत्त्व है उसी प्रकार बताए गए तीन आश्रम पूर्वपीठिका है। असली तत्त्व तो भागाकार के समान सन्यासाश्रम है। अगर इसमे भी आपने कुछ लाभ उठा लिया तो सब बिगडा हुआ सुधर सकता है। जैसे कुएँ मे सारी रस्सी गिर जाने पर भी अगर चार अगुल की डोरी हाथ मे रह जाए तो घडा, लोटा या बाल्टी निकल जाती है, उसी प्रकार जीवन का अधिकाश भाग या तीन आश्रम चले जाने पर भी अगर अन्तिम भाग मे मानव चेत जाय तो जीवन सफल बनाया जा सकता है।

चारवर्ष की उम्र

सत बायजीद से एक व्यक्ति ने पूछा—"महात्मन! आपकी उम्र क्या है?"

सत ने उत्तर दिया—"चार साल।

व्यक्ति चौंक पडा। बोला—'यह कैसे?"

बायजीद ने उसे समझाया—"मेरी जिन्दगी के सत्तर साल तो दुनिया के प्रपच मे गुजर गये। सिर्फ चार बरस से मैं प्रभु की ओर देख रहा हूँ। बस, जितना समय उसके नजदीक बीता है वही मेरा असली जीवन काल है।"

मैं क्या हूँ ?

सन्यासाश्रम मे अर्थात् जीवन के अन्तिम वर्षों मे तो मनुष्य की इस प्रकार की चित्तवृत्ति होनी ही चाहिए। उसे आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझ लेना चाहिये। तथा भली-भाँति जान लेना चाहिए कि—

मानव दानव देव नारकी कीट पतग नहीं हू,
चाकर-ठाकुर-स्वामी-सेवक राजा-प्रजा नहीं हू ।
लोकालोक त्रिलोकी हू मै, चिदानन्दमय चेतन,
हैं ये सब पर्याय द्रव्यमय, मै हू शुद्ध सनातन ।

ऐसा समझ लेने वाला मुमुक्षु सदा जागृत रहता है। वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ मे नही खोता। ऐसे ही एक तपस्वी दिन-रात भगवान का भजन करते जाते थे किसी व्यक्ति ने उनसे पूछ लिया—"आप रात्रि मे कुछ देर सो क्या नही लेते ?"

तपस्वी बोले—"भाई, मेरे नीचे तो नरक की आग जल रही है तथा ऊपर से दिव्य राज्य आह्वान कर रहा है। फिर मुझे नींद कैसे आ सकती है ?"

बधुओ, जीवन के गणित को आपने समझ लिया होगा। जिस प्रकार स्कूल मे जोड, बाकी, गुणाकार एव भागाकार सिखाया जाता है, इसी प्रकार हमारे यहाँ पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो जैसा कि अभी मैंने बताया, जोड ब्रह्मचर्याश्रम है, बाकी गृहस्थाश्रम है, गुणाकार वानप्रस्थाश्रम और भागाकार सन्यासाश्रम है। जीवन के चार भाग कर दिये गए है और उसके अनुसार प्रत्यक का कार्य भी बताया गया है। किन्तु एक बात मैं और बताना चाहता हूँ।

लकीर के फकीर नहीं बनना है।

यद्यपि जीवन चार आश्रमो मे बँटा है पर हमे लकीर का फकीर बनकर धर्म-कार्य को, पारमार्थिक कार्य को इनके अनुसार ही जीवन के अन्तिम भाग मे ही नही करना है। अर्थात् इससे पहले हाथ मे लेना ही नही है ऐसा आप मत समझ लेना। इसके लिए तो 'जब हम जागे तभी सबेरा। यह कहावत चरितार्थ हो सकती है। धर्म-कार्य के लिए समय की प्रतीक्षा करना बडी नासमझी है। हमारे सत-इतिहास मे तो गजसुकुमाल और ऐवन्ता मुनि जैसे अनेको महापुरुषो के विषय मे बताया गया है कि उन्होने बचपन मे ही ससार से विरक्त होकर सयम अगीकार किया तथा अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

विद्यार्थियो ! आप ऐसा न भी कर सके तो भी आपको अभी से अपनी भावनाओ को उत्तम और सस्कारयुक्त बनाना चाहिये। अगर आपका ध्यान इस लघु-वय से ही सद्गुण-सचय की ओर रहेगा तो आपकी शिक्षा मे चार चाँद लग जाएँगे। कागज के फूल खुशबू के अभाव मे किसी को आकर्षित नही कर सकते, ठीक इसी प्रकार सद्गुणो की सौरभ के अभाव मे आपकी शिक्षा किसी को मुग्ध नही कर सकती तथा स्वय आपको भी लाभदायक नही हो सकती। इसलिए आपको सद्गुणो की वृद्धि

का निरन्तर ध्यान रखना है। यह नहीं भूलना है कि आप जो शिक्षण लेते हो वह केवल सद्‌गुणो की वृद्धि के लिए है।

सद्‌गुण-सचय कैसे हो ?

सद्‌गुणो का सचय केवल पुस्तके पढने से नही होता। वह होता है सत्सग से। आप अनुभवी और गुणी पुरुषो के सम्पर्क म रहे तथा सत-समागम करे तो निश्चय ही दया, सेवा, परोपकार करुणा सहिष्णुता आदि अनेकानेक सदगुणो के अकुर आपके हृदय मे जम जाएँगे। आवश्यकता है त्यागी एव साधु पुरुषो के समीप आने की, उनकी सगत मे रुचि लेने की। सतो के पास आने की भावना भी पुण्योदय से होती है जिनके पुण्य का उदय नही होता, उनके लिए सत्सग की भावना का हृदय मे उदय होना ही कठिन होता है, सत-दर्शन तो महादुर्लभ है ही। कहा भी है कि ससार मे सभी कुछ मिलना सुलभ है किन्तु सत-समागम होना अति दुर्लभ है—

तात मिले पुनि मात मिले सुत भ्रात मिले युवती सुखदाई
राज मिले गजराज मिले सब साज मिले मनवाछित पाई।
लोक मिले सुरलोक मिले विधिलोक मिले बैकुठ को जाई,
सुन्दर और मिले सब ही सुख सतसमागम दुर्लभ भाई।

अभिप्राय यही है कि अन्य सभी कुछ प्राप्त हो सकता है सरलता से, किन्तु सुसत का मिलना बडा कठिन होता है। भेषधारी बाबा, साधु, सन्यासी, योगी तथा यती आदि अनेक मिल जाते है किन्तु जो सच्चे अर्थों मे साधु कहे जाने योग्य है वे क्वचित ही सद्‌भाग्य से मिलते है। अत जब भी आपको ऐसा सुयोग मिले उसका लाभ उठाने से मत चूको ! याद रखो कि मनुष्य जैसी सगति करता है उसमे वैसे ही गुण आते है। त्यागी पुरुषो की सगति से त्याग का पाठ सीखने को मिलता है तथा भोगियो के सहवास से भोगो की ओर मन उन्मुख होने लगता है। शराबी के साथ रहने से कभी न कभी शराब की लत पड जाती है और गवैये क साथ रहने से गाने की। साराश मेरे कहने का यही है कि जैसे की सगति मे रहो कुछ न कुछ असर आए बिना नही रह सकता है। एक दोहे मे कहा भी है —

काजर केरी कोठरी मे, कैसो ही सयानो जाय
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।

भावार्थ इसका यही है कि व्यक्ति कितना भी सयाना क्यो न हो, अगर कुसगियो के साथ रहेगा तो कुछ-न-कुछ दुर्गुण उसके हृदय मे घर किये बिना नही रहेंगे।

समय की प्रतीक्षा मत करो !

इसलिये उत्साही छात्रो ! अपनी लगन और बुद्धि को तुम्हे अच्छाई की ओर ले जाना है। अपनी शक्ति को सम्यक् मोड देकर जीवन को सफल बनाने का प्रयास करना है। इसके लिए समय का प्रतीक्षा नही करनी है। शुभ-कार्य जिस समय से

प्रारम्भ किया जाय वही उत्तम समय होता है। उचित समय की प्रतीक्षा प्रमादी व्यक्ति करते है, किन्तु प्रतीक्षा मे ही पुरुषार्थ करने का अवसर बीत जाता है और अन्त मे पश्चात्ताप ही हाथ आता है। हाथ मलते हुए उन्हें यही कहना पड़ता है —

ज्ञानं नाधिगतं कुकर्मदहनं वित्तं न दानं वरं,
नो लेभे गुणगौरवं गुरुजनाद्वापि प्रसादे मुदम्।
सतापत्रयवारणोऽमितगुणो धर्मो न धत्तस्तथा,
हाहा मुग्धधिया मया हि भगवन्! मोघीकृतं मानुषम्॥

हे भगवन्! इस ससार मे चिन्तामणि रत्न के समान मानव जीवन को प्राप्त करके भी मैंने कुकर्मों को नाश करने के लिए सम्यक् ज्ञान प्राप्त नही किया, सद्गुरु की सेवा करके उनका आन्तरिक आशीर्वाद रूपी मिष्ट-प्रसाद नही पाया तथा त्रय तापो का नाश करने वाला और अनेकानेक उत्तम गुणो वाला पवित्र धर्म भी धारण नही किया, अत निश्चय ही प्रभो! मैंने इस अमूल्य जन्म को निष्फल खो दिया है।

इसलिये बधुओ! हमे अपने मानव जीवन को सार्थक करना है। ससार मे आए है तो कुछ करके जाना है। गुणो का उपार्जन करना है। गुनाहो का नही। चाहते तो सभी यही है कि हम गुणो का उपार्जन करें, किन्तु इकटठे हो जाते है गुनाह। इसका कारण यही है कि चाहते हुए भी हमारा अपने मन पर सयम नही रहता। हममे समता और सहिष्णुता के भाव नही पनप पाते। अहकार का विषधर प्रतिपल अपना फन फैलाए खड़ा रहता है और समता, सद्गुण उससे भयभीत होकर आने का प्रयत्न करके भी भाग खड़े होते है। जब तक इसका नाश नही होता जीवन मे समभाव का उदय नही हो सकता। एक मराठी कवि ने कहा है —

घणा चे घाव सोसावें,
देवत्वा देवपद पावे।

—घनो की चोटें खाकर ही देवत्व प्राप्त होता है।

पिछली बार मैंने मदिर मे स्थापित मूर्ति और खम्भे का उदाहरण देकर यही बात समझाई थी। पत्थर ने घनो की तथा टाँकी की चोटे खाईं, तब उसमे आकृति आई। आकृति आने पर मूर्ति बनी और मूर्ति बनने पर वह वन्दनीय बनी। पत्थर की पूजा कोई नही करता, उसको अनेक कष्ट व चोटे सहने पर ही वदन किया जाता है। और देवता माना जाता है।

हमे भी देवत्व प्राप्त करने के लिए गुरु की ताडना और आक्रोश सहन करना पडेगा। अभिमान को त्यागकर नम्रता एव विनय पूर्वक सद्उपदेशो को हृदयगम करना होगा। केवल श्रवण-मात्र से ही आत्मा को लाभ नहीं होता। लाभ होता है उपदेशो को आचरण मे लाने मे। अन्यथा तो आपके सुनने म आया ही होगा —

चार कोस का मांडला, वे वाणी का धोरा।
भारी कर्मा जीवड़ा, उठे भी रह गया कोरा ॥

तीर्थंकर प्रभु की धर्मसभा चार-चार कोस तक होती है। हमारे जीव ने अवतारी पुरुष, तीर्थंकर भगवान की वाणी भी सुनी किन्तु उसे आचरण मे नही उतारा अत कोरे ही रह गए। पल्ले कुछ भी नही पडा। पर अब ऐसा नही करना है। शास्त्र-श्रवण और सदुपदेशो को जीवन मे उतारकर उत्तरोत्तर आत्मा को निर्मल और उन्नत बनाते जाना है तभी हमारा मानव जीवन सार्थक बन सकेगा। क्योंकि ऐसा जन्म बार बार नही मिलता।

●

५

कषाय-विजय

धर्मप्रेमी बधुओ ! माताओ एव बहनो !

अनादिकाल मे मानव के मन मे अपने अभ्युदय की अमर आकाक्षा रही है। किन्तु दुख है कि कोटि प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण नही हो पाई। क्यो नही हो पाई ? और उसके मूल मे बाधक कारण कौन-कौन से है ? यही आज हमे जानना है, और आत्मा को अवनति की ओर अग्रसर करने वाले उन घातक कारणो को समूल नष्ट करने का प्रयास प्रारम्भ करना है।

आत्मा को स्वभाव दशा से विभाव दशा मे ले जाने वाले तथा जन्म-मरण की कठोर शृ खलाओ मे जकडने वाले चार कषाय है। क्रोध, मान, माया एव लोभ। ये ही चतुष्कषाय आत्मा के सद्‌गुणो का नाश करते है तथा उसे ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधोगामी बना देते है। कहा भी है—

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात् क्रोध आत्मा के प्रीति गुण का नाश करता है, मान विनय गुण का, माया मैत्री का और लोभ उसकी समस्त विशेषताओ को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार हमारी आत्मा जो 'जीवराज' है सत्-चित्-आनन्दमय है, निर्विकार और निष्कलक है तथा अनन्त शक्तिशालिनी है, इन कषायो के फेर मे पडकर अपनी दिव्यता को खो बैठती है। तथा कर्मों के आवरणो से वेष्टित होकर जन्म-जन्मान्तरो तक नाना योनियो मे परिभ्रमण करती रहती है।

कर्मों और कषायो के वश होकर प्राणी नाना,
कायो को धारण करता है तजता है जग जाना।

कवि का कथन यथार्थ है। अष्टकर्म आत्मा के शत्रु है और वे ही इसे चारो गतियो मे चक्कर खिलाया करते है। ठीक इसी प्रकार मदारी अपनी इच्छानुसार

बन्दर को नचाया करता है। फिर भी अनेक व्यक्ति कर्मों के फल मे शका करते हुए कहते है— 'ससार मे प्राय यही देखा जाता है कि हिंसक, अत्याचारी, अनाचारी और अनेक प्रकार के कुकर्म करने वाले व्यक्ति तो सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं और ईमानदार, धर्मात्मा, सदाचारी तथा परोपकारी पुरुष अपना सम्पूर्ण जीवन अभाव तथा कष्टो मे गुजारते है। इससे यही साबित होता है कि दुष्ट व्यक्तियो को अपने कुकर्मों का, तथा सत्पुरुषो को अपने सुकर्मों का फल नही मिला करता।

ऐसे शकाशील व्यक्तियो को यह भली-भाति जानना चाहिए कि कर्मवाद बडा गहन है। इसका गहराई से अध्ययन करने पर ही कर्मों की प्रकृतियो को समझा जा सकता है। यथा—कुछ कर्म ऐसे होते है जो अन्तर्मुहूर्त के बाद ही फल देना प्रारम्भ कर देते है, कुछ कर्म दिनो, महीनो और वर्षों के पश्चात् फल प्रदान करते है और कुछ निबिड कर्म ऐसे होते है जो कि जन्मजन्मान्तरो तक भी आत्मा का पीछा नही छोडते तथा समय-समय पर शुभ अथवा अशुभ फल दिया करते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी उनके नियत समय को टाला नही जा सकता। महाभारत मे भी बताया गया है—

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्व काल नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम्॥

जैसे वृक्षो पर फूल और फल बिना किसी प्रेरणा के अपने समय पर लग जाते है, उसी प्रकार कम भी अपने फल प्रदान के समय का उल्लघन नही करते।

इसलिये कर्म-बधन के प्रधान कारण तथा दुख व अशाति के बीज रूप कषायो से प्रत्येक मानव को बचने का प्रयत्न करना अनिवार्य है। दशवैकालिक सूत्र मे भी यही निर्देश किया गया है —

वमे चत्तारि दोसाइ इच्छन्तो हियमप्पणो।

इसका अर्थ है—अपना हित चाहने वाला प्राणी इन चारो दोषो का वमन करता है, अर्थात् इन्हे त्याग देता है।

जब तक कषाय मन्द नही होते तब तक सुख एव शाति प्राप्त करने के समस्त बाह्य प्रयत्न व्यर्थ हो जाते है। जिस प्रकार शीतल जल के चद छीटे दूध के उफान को नही रोक पाते, उसी प्रकार पूजा-पाठ भजन व प्रयत्न श्रमण आदि बाह्य क्रियाएँ भी कषायो की वह्नि से झुलसती हुई आत्मा को शीतलता प्रदान नही कर सकती। कषायो की करामातो का पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने एक पद्य मे अत्यन्त रुचिकर ढग से वर्णन किया है। लिखा है—

प्रेम से जुझारसिंह वश किया जिवराज,
मानसिंह, मायोदास, मिलिया चारो भाई हैं।
कर्मचन्द काठा भया, रूपचन्द जी से प्यार,
धनराज जी की बात चाहत सदा ही है।

> ज्ञानचन्द जी की बात, सुने न चेतनराम,
> आवे नहीं दयाचन्द, सदा सुखदाई है।
> कहत त्रिलोकरिख मनाई लीजे नेमचन्द,
> नहीं तो कालूराम आया विपत सवाई है।

पद्य मनोरजक होने के साथ ही शिक्षा-प्रद भी है। यद्यपि कवि ने इसमे व्यक्तिवाचक सज्ञाओ का प्रयोग किया है किन्तु इनके पीछे रहस्यमय तरीके से कषायो के कुप्रभावो का दिग्दर्शन किया गया है।

पद्य मे लोभ को प्रेमसिंह की, क्रोध को जुझारसिंह की, अभिमान को मानसिंह की तथा माया या कपट को मायीदास की व्यगसूचक सज्ञा से विभूषित किया है। तथा बताया है कि ये चारो भाई, दूसरे शब्दो मे यह चण्डाल चौकडी जीवात्मा को सरोते के बीच मे दबी हुई सुपारी के समान जकड लेती है तथा कतरी जाती हुई सुपारी के समान नाना प्रकार के कष्टो मे डालती है।

क्रोध

जिसे जुझारसिंह नाम से सम्बोधित किया गया है, उसका आक्रमण होने पर व्यक्ति बेभान हो जाता है तथा हिताहित का ज्ञान भूलकर अकरणीय करने पर उतारू हो जाता है। आवेश के कारण उसके विवेकरूपी नेत्र बन्द हो जाते है किन्तु जिह्वा उचित-अनुचित का भान छोडकर इच्छानुसार कह जाती है। किसी पाश्चात्य विद्वान का भी कथन है—

"An angry was opens his mouth and shuts his eyes"

—क्रोधी व्यक्ति अपने मुँह को खुला रखता है पर आँखो को बद कर लेता है।

तात्पर्य यही है कि वह विवेकपूर्वक विचार करना छोडकर अकथनीय कहता है, वह यह नही देखता कि मै किससे बात कर रहा हूँ। ऋषि भाषित सूत्र मे भी बताया गया है —

> कोवाविद्धा ण याणन्ति मातर पितर गुरु।
> अधिक्खिवन्ति साधू य रायाणो देवयाणि य॥

अर्थात्—क्रोधाविष्ट व्यक्ति की आँखे मुँद जाती है, और उसके परिणाम स्वरूप वह अपनी माता को ही केवल नही देख पाता वरन् गुरु, राजा और देवता को भी उनके सही रूप मे न देखकर उनका अनादार कर बैठता है।

क्रोध एक तूफान के समान आता है और सर्वप्रथम विवेक की ज्योति को बुझा देता है। विवेक के अभाव मे वह क्रोधी को तो जलाता ही है साथ ही उसके कटुवचनो की चिनगारियाँ जिस किसी पर भी पडती है वह भी जलने लगता है।

तात्पर्य यह है कि क्रोध क्रोधी को तथा क्रोध के पात्र, दोनो को ही उत्तप्त करता है। इसलिए महापुरुष और मुमुक्षु प्राणी इससे कोसो दूर रहने का प्रयत्न करते है।

कहा जाता है कि सुकरात की पत्नी बडी कर्कशा थी। एकबार क्रोधावेश मे उसने सुकरात का कोट फाड डाला। किन्तु वे पूर्ववत् शान्त रहे और मुसकराने लगे, उसी समय उनका एक मित्र, जो उनसे मिलने आया था, बोला—"आपने अपनी पत्नी से कुछ कहा क्यो नही ?"

सुकरात हँसते हुए बोले—"जैसे सईस बिगडे हुए घोडे को साधता है, मैं भी इसे सुधारने का प्रयत्न करता हूँ, दूसरे इससे क्रोध को सहन करके ससार के अन्य व्यक्तियो के दुर्व्यवहार को सहन करना सीखता हूँ।" मित्र सुकरात की बात सुनकर मौन हो गया।

पद्य मे क्रोध-रूप जुझारसिंह के दूसरे मित्र का नाम मानसिंह दिया है। मानसिंह के नाम से अभिमान को सबोधित किया है। अभिमानी व्यक्ति अहकार के कारण अपने आपको महान समझता है तथा औरो को तुच्छ। किन्तु इसका परिणाम उलटा हो जाता है। भले ही वह स्वय को महान समझे किन्तु ससार की नजरो मे वह महान न रहकर क्षुद्र साबित होता है तथा लोगो की नजरो से गिर जाता है। कहा भी गया है —

"मानेन सवजन निन्दित-वेशरूप ।"

—अहकार से सभी मनुष्यो द्वारा निंदा का पात्र ही बनना पडता है।

अभिमानी व्यक्ति का स्वभाव होता है कि वह औरो के कार्यो को नगण्य मानता हुआ अपने कार्यों को सर्वोत्तम साबित करे। उसके कान सदा अपनी प्रशसा सुनने के लिए आतुर रहते है। किन्तु उसकी इस आकाक्षा के पूर्ण होने मे उसका अहकार बाधक बन जाता है तथा उसकी प्रगति को रोक देता है। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि अभिमानी व्यक्ति गगन को छूने का प्रयत्न करता है किन्तु धराशायी होकर ससार के समक्ष उपहास का पात्र बनकर रह जाता है।

जुझारसिंह और मानसिंह का तीसरा भाई है मायीदास। अर्थात् माया और कपट। माया हृदय की सरलता को नष्ट कर देती है तथा कुटिलता को आमन्त्रित करती है। और हृदय मे जहाँ कुटिलता आई कि वहाँ से अन्य सद्गुणो का लोप होना प्रारम्भ हुआ ही समझिये। हृदय की वक्रता अथवा कपट साधक की समस्त साधना और तपस्या को मिट्टी मे मिला देता है। भगवान महावीर का कथन है —

जइ विय नगिणे किसे चरे, जइ विय भुजिय मासमतसो ।
जे इह मायाई मिज्जइ, आगता गब्भायणतसो ।

—सूत्रकृताग सूत्र

—साधना के क्षेत्र मे साधक वस्त्रपात्रादि का परित्याग कर देता है, वर्षों तक

नग्न रहकर घोर तपस्या करते हुए शरीर का खून व मास सुखा देता है। किन्तु यदि वह माया की ग्र थि का भेदन नही करता है तो अनन्त बार उसे गर्भ मे आना पडता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति व मोक्षाभिलाषी साधक के लिये अनिवार्य है कि वह कपट-रूप वक्रता को त्याग कर जीवन मे सरलता को स्थान दे। सरलता के अभाव मे की जाने वाली समस्त साधनाएँ केवल कायक्लेश ही होती है, वक्र हृदय मे धर्म के अकुर नही जमते। वह सरल आत्मा से ही टिकता है। क्योकि सरलता से शुद्धता आती है और शुद्धता के आने पर धर्म का आना अनिवार्य है।

चण्डाल चौकडी के तीन मित्रो का वर्णन हम कर चुके है। अब चौथे का नम्बर है, जिसका नाम है प्रेमसिंह। प्रेमसिंह का ही दूसरा नाम है 'लोभ'। लोभ के विषय म आप लोगो को अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि इससे आप चिर-परिचित ही हैं। कोई भी नई वस्तु देखे तो आपकी इच्छा होती है कि इसे प्राप्त करे। अपनी वस्तु से आपको सतोष नही होता, दूसरो की वस्तुओ को भी हडपने की इच्छा होती है। कहाँ तक इसके विषय मे कहा जाय ? लोभ के आक्रमण के कारण आपके पास कितना भी धन-वैभव क्यो न इकट्ठा हो जाय, उससे भी अधिक पाने की लालसा बढती जाती है। इसीलिये कहा गया है—

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ।
दो मास कय कज्ज कोडीए वि न निट्ठय॥

—उत्तराध्ययन ८

अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढता जाता है। लाभ ही लोभ को बढाता है। दो माशे सोने के लिए आया हुआ ब्राह्मण एक करोड मे भी सन्तुष्ट नही हुआ।

लाभ और लोभ मे विशेष अन्तर नही है। सिर्फ एक मात्रा ही बढती है। किन्तु उस मात्रा के कारण ही कितना अनर्थ होता है। लोभ के आने ही अनेक घर बर्बाद हो जाते ह। आपने सुना ही होगा—अनेक ठग भोली बहनो को लोभ के फन्दे मे फँसाकर लूट लेते है। एक तोला सोने का दस तोला सोना बना देने का लालच देते है और उनके मूल को भी ले उडते है। लोग यह नही सोचते कि उस धूर्त व्यक्ति मे अगर इतनी शक्ति होती तो वह स्वय दर-दर क्यो भटकता ? पर लोभ का जाल ऐसा ही है कि व्यक्ति उधार लेकर भी उसम फँस जाते है।

लोभ पर विजय प्राप्त करने वाले सन्त महात्मा सदा सुखी रहते है। वास्तव मे ही हमे कोई क्या ठगेगा ? हमारे पास है भी क्या ? पात्र लकडी के है, उन्हे लेकर कोई क्या करेगा ? और वस्त्र सीमित रहते है। पैसा-धेला रहता नही कि उसकी चोरी का डर हो या ठगे जाने का। सक्षेप मे यही कि हमे चोरी अथवा ठगी, दोनो मे किसी का भी भय नही रहता। बुजुर्गों के द्वारा मैंने सुना था कि एक साहूकार की

हवेली थी और उसके पास मे ही एक स्थानक था। एक बार चोर आए। वे हवेली मे घुसना चाहते थे, किन्तु स्थानक की खिडकी से उन्हे एक थैली वहाँ पडी हुई दिखाई थी। चोर प्रसन्न हुए कि थैली मे कुछ धन-माल दिखाई दे रहा है। परिणामस्वरूप वे हवेली मे न जाकर स्थानक मे ही पहुच गए और थैली उठाकर चम्पत हुए। किन्तु थैली मे था क्या? केवल कुछ मुट्ठी राख। थैली खोलने पर चोरो के दिल का क्या हाल हुआ होगा, यह तो आप अन्दाज लगा ही सकते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय तो यही है कि निर्लोभी साधु-सन्तो के यहाँ से कोई क्या चुराकर ले जा सकता है? जबकि उनके पास कुछ रहता ही नहीं।

जीवात्मा जब लोभ और लालच मे फस जाता है तब कही का नही रहता। आपने देखा होगा चूहा कुछ खाने के लालच मे पिंजरे मे घुसता है और पकडा जाता है। मछली पकडने वाले भी काँटे मे आटा लगाकर उसे जल म छोड देते है और मछली आटा खाने के लोभ म आकर यह नही देखती कि इसमे काँटा भी है। मराठी मे कहा भी है—

"आमिषाच्या आशें गल गिलीमासा,
फाटोनिया घसा मरण पावे।"

आमिष यानी खाने की आशा मे मछली खाद्य-वस्तु पर झपट्टा मारती है, पर काँटा उसके गले मे फँस जाता है और वह बाहर खीच ली जाती है। बताइये मछली क्यो मरी? खाने के लालच मे ही न! इसीलिए लोभ—लालच को त्यागने का विधान आगमो मे किया गया है। क्योंकि लोभ की कोई सीमा नही है—

इच्छा हु आगाससमा अणतिया

— उत्तराध्ययन सूत्र

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है।

लोभी व्यक्ति यह नही देखता कि मेरी आवश्यकताएँ कितना सचय चाहती है? सचय और आवश्यकताओ की कोई सीमा उसके सामने नही होती। वह तो केवल सग्रह करने और उसकी चौकीदारी करने का खयाल रखता है। परिणाम यह होता है कि अति-आसक्ति के कारण उसके कर्मों का पिटारा भारी होता जाता है।

कविता के दूसरे चरण म यही कहा गया है—

"कर्मचन्द्र जी काठा भया रूपचन्द्र जी सू प्यार,
धनराज जी भी बात चाहत सदा ही है॥"

जब कषायो म आत्मा फँसी रहती है तो कर्मों का दृढबन्धन होता है, किन्तु रूपचन्द्र जी की उपेक्षा करना भी तो सहज नही है। माल कमाने मे आप कितना प्रयत्न करते है? बे हिसाब! और नाम स्मरण करने मे? जरा भी नही! दु ख की बात है कि आपको यह ख्याल नही रहता कि भगवान का स्मरण आत्मा के साथ चलेगा और धन-माल सब यही रह जाएगा। किन्तु धनराज जी के सामने आपका

वश नही चलता । रुपया, पैसा, खेल, बाग, बगीचा, मोटर, बगला और अन्य अनेकानेक वस्तुएँ आप चाहते है । यह सही है कि आप ससारी हैं, आजीविका के बिना आपका काम नही चलता । किन्तु तनिक ज्ञानचन्द्र जी की बात भी तो आपको सुनना चाहिए !

"ज्ञानचन्द जी की बात सुने न चेतनराम,
आवे नही दयाचन्द्र, सदा सुखदाई है ।"

ज्ञान की बात चेतन सुनने को तैयार नही होता । हमे यह देखना है कि ज्ञान की बात है क्या ?

आवे नही दयाचन्द, सदा सुखदाई है—अर्थात् ज्ञान की बात है, दिल मे दया का होना । प्रत्येक प्राणी के हृदय मे दूसरो के दुख को देखकर करुणा का उदय होना चाहिए तथा उसे अपनी शक्ति और योग्यतानुसार अभावग्रस्त प्राणी की सहायता करनी चाहिए । जिस व्यक्ति के हृदय म दया की भावना नही होती, वह चाहे कितनी भी धर्म-क्रियाएँ क्यो न करे वे फलदायी नही बन पाती । इसके अलावा व्यापार आदि धनोपार्जन के कार्यों म मनुष्य को जो लाभ होता है उसकी अपेक्षा अनेक गुना लाभ दया-भाव से प्रेरित होकर किसी प्राणी की सहायता करने स होता है । कहा भी है—

व्याजे स्याद द्विगुण वित्त व्यवसाये चतुर्गुण ।
क्षेत्रे शतगुण प्रोक्त पात्रेऽनन्तगुण भवेत् ।।

—पैसा व्याज पर देने से सम्भवत दुगुना हो सकता है, व्यापार मे लगाने पर चौगुना, और खेत म बीज के रूप में बो देने पर सौगुना भी होता है ऐसा कहा जाता है । किन्तु अभावग्रस्त और सत्पात्र को दिया हुआ पैसा अनन्तगुना फल प्रदान करता है ।

शालिभद्र जी के विषय मे आप जानते ही होगे । उनके जीव ने सगम ग्वाले का जन्म मिलने के समय रो-रोकर खीर बनवाई थी, किन्तु उत्कृष्ट भावो के साथ उसे देने के कारण शालिभद्र के जन्म मे प्रतिदिन स्वर्ग से आती हुई तेतीस पेटियाँ प्राप्त की थी ।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोडिये, जब लग घट मे प्राण ।

दया-धर्म के विषय मे यही बात ज्ञानचन्द्र जी अर्थात् 'ज्ञान' 'चेतन' को समझाता है किन्तु चेतन अर्थात आत्मा उसे सुनने के लिए तैयार नही होती । फिर जनम-जनम मे सुख प्रदान करने वाली दया कैसे आए ? दया का महत्त्व बताते हुए तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पद्य के चतुर्थ चरण मे कवि श्री तिलोकऋषि जी महाराज कहते है—

"कहत है तिलोकरिख, मनाई लेहि नेमचन्द्र,
नही तो कालूराम आये विपति सवाई है ।"

कवि श्री तिलोकऋषि जी म०, जिन्होंने दस वर्ष की उम्र मे दीक्षा ली और छब्बीस वर्ष तक कठोर सयम का पालन किया। छब्बीस वर्ष मे उन्होंने असाधारण कार्य किया। साहित्य की रचना की, अनेक कविताओ का सृजन किया तथा सतत भ्रमण करके धर्म-प्रचार किया। अन्तिम चार वर्षों म तो महाराष्ट्र मे भ्रमण करके आपने इतना काम किया, जितना हम बारह वर्षों मे घूमकर भी नही कर सके। वे महान सन्त तिलोकऋषि जी म० कहते है—

"भाई! एक बात मेरी मानो! मनाई लहि नेमिचन्द्र, अर्थात् नियम, व्रत, त्याग प्रत्याख्यान आदि कुछ तो करो, जिससे आत्मा का कल्याण हो सके।

बन्धुओ, आप को जब त्याग-नियम लेने के लिए कहा जाता है तो आप कह देते है—"महाराज! बनता नही" पर याद रखो, एक दिन कालूराम जी (काल) आने वाले है। वे किसी को भी छोडने वाले नही। चाहे कोई डाक्टर हो, वकील हो, या इजीनियर। किसी भी साहब का कालचन्द्र जी को त्याग नही है। किसी ने सत्य कहा है—

डॉक्टर वैद्य बिचारे, लुकमान आदि हुए सारे,
सभी मौत से हार, बार जिस किसी पे आया है।
तू क्यो करता अभिमान, मौत अब आनेवाली है।

हिन्दुओ म धन्वतरी वैद्य और मुसलमानो म लुकमान हकीम। मैंने ऐसा भी सुना है कि ऐसे-ऐसे कुशल वैद्य हुए है जो राजघरानो की रानियो और राजमाताओ को साक्षात न देख सकने के कारण उनके हाथ मे एक डोरी पकडा देते थे और उसे दूसरे सिरे पर थाम कर नाडी-परीक्षा कर लेते थे। लेकिन उन्हे मौत से हारना पडा। काल की एक पुकार पर ही इस ससार को त्याग कर चल देना पडा।

इसी प्रकार प्रत्येक मानव को एक दिन इस ससार को छोड कर जाना पडेगा। यहाँ की एक भी वस्तु उसके साथ जाने वाली नही है। साथ जाएगा तो केवल शुभ और अशुभ कर्मों का गट्ठर ही। अशुभ कर्मों की यह गठरी विषयकषायो की तीव्रता से ही अधिकाधिक भारी होती है और आत्मा को पुन-पुन जन्म-मरण करने के लिए बाध्य करती है। ये ही वे कारण है, जिनके कारण मनुष्य मुक्ति की आकाक्षा रखते हुए भी मुक्त नही हो सकता, अनन्त सुख की प्राप्ति की अभिलाषा होते हुए भी उसे प्राप्त नही कर सकता तथा अनन्तकाल तक नाना प्रकार के दुखो का अनुभव करता रहता है। कहा भी है—

"कर्म-निबद्धो जीव परिभ्रमन् यातना भुक्ते।"

—सुबोध पद्माकर

—कर्म पाश म फँसा हुआ यह जीव जन्म मरण करता हुआ दुखो को भोगता है।

इसलिये, आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि जन्म-मरण के मूल का सिंचन करने वाले इन विषय-कषायो से अलग रहने का प्रयत्न किया जाय । इन्हे समूल नष्ट करने मे एकमात्र धर्म ही सहायक हो सकता है ।

कषाय-विष नाशक धर्म

धर्म से हमारा तात्पर्य बाह्य आडबर या दिखाव से नही है । पूजा-पाठ कर लेना, गगास्नान कर आना, तिलक-छापे लगा लेना या केवल मुख-वस्त्रिका बाँध कर अडतालीस मिनिट तक एक स्थान पर बैठ जाना ही धर्म नही है । वरन जीवन मे सद्गुणो, सद्वृत्तियो तथा अविकारी भावो का लाना ही धर्म है । दूसरे शब्दो मे जीवन का मर्यादित एव सुसस्कृत होना ही धर्म है । सच्चा धर्म कषाय-विष का नाश करते हुए जीवन के लिये परम रसायन सिद्ध होता है । सक्षिप्त म धर्म की परिभाषा है —

"वत्थु सहावो धम्मो ।"

—प्रत्येक वस्तु का जो सहज स्वभाव है वही धर्म है । यथा—जल का स्वभाव शीतल रहना, अग्नि का स्वभाव उष्णता बनाए रखना, आकाश का स्वभाव अवकाश देना और भूमि का स्वभाव भारवहन करना है । उसी प्रकार आत्मा का सच्चा और सहज स्वभाव है, शुद्ध, निष्कलक और निर्विकार होकर अनत-सौख्यप्रदान करन वाले लोक की ओर उठना तथा अपनी अनन्तशक्ति को जागृत करना ।

किन्तु इस अनन्त शक्तिशाली आत्मा को भी विषय कषाय कर्म-बन्धनो मे जकड लते है । आप सब देखत है और अनुभव भी करते है कि इन्द्रियो के द्वारा भोग-विलास क पदार्थों का उपभोग कर मन सतुष्ट होता है और ये भोगोपभोग कर्म-बधनो के कारण बनते है । किन्तु ये जड द्रव्य भी—सच्चिदानन्द आत्मा को इतना नही बाँध सकते, जितना मन के विकारी भाव बाँधत है । मन के भावो स ही आत्मा बँधती है और उन्ही से मुक्त भी होती है । इसीलिये कहा जाता है —

"मनसा कल्प्यते बन्धोमोक्षस्तेनैव कल्प्यते ।"

—विवेकचूडामणि

—जिस मन की शक्ति के द्वारा ससार का बधन किया जाता है, उसी मन की शक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है ।

अत मुक्ति के इच्छुक प्राणी को अपनी आकाक्षा पूर्ण करने के लिये इन्द्रियो पर तथा मन पर अकुश लगाना पडेगा । काम, क्रोध, मोह, लोभ, आसक्ति तथा लालसा आदि पर विजय प्राप्त कर अनासक्ति और निर्वेद मार्ग को अपनाना होगा । क्योकि जब तक मन पर विजय प्राप्त नही की जाएगी, कषायो के तूफानो को रोकना असभव होगा । प्राणी उसी अवस्था म मुक्त हो सकेगा जब कि उसकी आत्मा सासारिक वासनाओ और क्रियाकाडो को ही धर्म समझने वाली अज्ञानता से मुक्त रहेगी । मोक्ष किसी अन्य स्थान पर नही होता है वह स्वय आत्मा मे ही निहित होता है । एक श्लोक के द्वारा भी यही बताया गया है

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञान-हृदय-ग्रन्थि-नाशो मोक्ष इति स्मृत ॥　　—शिवगीता

—मोक्ष किसी नियत स्थान पर रखा हुआ नही है और न ही उसे खोजने के लिये किसी दूसरे गाँव जाना पडता है। हृदय की अज्ञान ग्रन्थि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है।

बधुओ, अब आप समझ गए होगे कि विषय और कषाय ही आत्मा के सहज स्वभाव और ज्ञान पर आवरण बन कर छाये हुए होते है और इन्हे हटा देने पर आत्मा अपने सहज स्वभाव को प्राप्त करती है तथा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके अजर-अमर शातिमय लोक मे अपना स्थान बनाती है। कषायो का परित्याग करने पर ही ससार को घटाने वाली प्रवृत्तियो का आविर्भाव होता है तथा कर्मो का आश्रव रुकता है। इसे ही धर्म नाम की सज्ञा दी जाती है। ऐसे धर्म का ही वीतराग महापुरुषो ने निरूपण किया है जिसे अपनाना तथा उसमे बताए गए विधि—निषेधो का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है। अगर वह ऐसा करने मे समर्थ हो जाता है तो ससार की कोई भी शक्ति उस शाश्वत सुख का अधिकारी बनने से नही रोक सकती ओऽम् शाति।

●

ऐसे पुत्र से क्या ? | ६

प्रत्येक व्यक्ति की अभिलाषा यही होती है कि उसे ससार के समस्त सुख उपलब्ध हो । प्रचुर मात्रा मे धन-सम्पत्ति हो, पत्नी सुलक्षणा हो, भाई स्नेहशील हो तथा पुत्र सुपुत्र हो । इस प्रकार की अनेक कामनाएँ उसके हृदय मे बनी रहती हैं । किन्तु अपनी कामनाओ की पूर्ति के लिये वह सही प्रयत्न नही करता । सुखो को चाहता है पर जिस रास्ते से सुख मिलते हैं उस रास्ते पर नही चलता । तब फिर सुख क्या यो ही मिल सकेगे ? हम तप करे नही, शील पाले नही, दान देवे नही और चाहे कि हमे सुख मिल जाय तो कैसे मिलेगा ? इसी प्रकार स्कूल मे भर्ती हो नही, घर पर अभ्यास करे नही और आकाक्षा रखे कि प्रिन्सिपल, हैडमास्टर, वकील या बैरिस्टर बन जाय तो क्या यह समव हो सकेगा ? कभी नही । रामचरित मानस मे कहा गया है —

करम प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।।

मनुष्य जैसा कम करता है उसे वैसा ही फल मिलता है । निबोली बोकर आम प्राप्त करना चाहे तो यह नही हो सकता । आम प्राप्त करने के लिये आम की गुठली ही जमीन मे डालनी पडेगी । इसी प्रकार जिस प्रकार का फल मानव चाहता है उसके अनुसार ही उसे बीज बोना पडगा । धन-प्राप्ति के लिये व्यापार, विद्वान् बनन के लिये ज्ञानाभ्यास और पुत्र को सुपुत्र बनाने के लिय उसमे सुसस्कारो का निक्षेप करना आवश्यक है ।

हमारी अभिलाषा

इस वर्ष खुशालपुरा श्री सघ ने हमारा चातुर्मास कराया है, इस सुसयोग के परिणामस्वरूप हमारे दिल मे भावना और तीव्र इच्छा है कि इस क्षेत्र मे बालकों के लिये पढाई की व्यवस्था हो । व्यावहारिक पढाई तो बच्चो की होती ही है पर धार्मिक

पढ़ाई भी होनी चाहिये। उन्हे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जो चरित्र को ऊँचा उठाकर आत्मा को शुद्ध करे। हमारे शास्त्रो मे कहा भी है —

"सा विद्या या विमुक्तये।"

—विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करे।

वह विद्या, विद्या नही है जो आत्मा को सर्वोच्च स्थिति की ओर न ले जाए। जो मुक्त न करे और उलटे कर्म-बन्धनो मे कसे वह विद्या कैसी ? मुक्ति के समीप न ले जाने वाली शिक्षा को शिक्षा के नाम पर दिया जाने वाला धोखा ही कहना चाहिये। मुक्ति की ओर ले जाने वाली शिक्षा नैतिकता एव धर्म पर आधारित होती है। और वह शिक्षा जो नैतिकता के आधार पर खडी न की गई हो, बालक को उन्नति की ओर कैसे ले जा सकती है ?

इसीलिये मेरी भावना है कि यहाँ पर बच्चो को सच्ची शिक्षा दिलाने का भी प्रबध हो। धार्मिक शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। अगर आपने अपने बालको को धार्मिक शिक्षण देकर सस्कारित नही किया तो वे आपकी प्रतिष्ठा, समाज की प्रतिष्ठा और धर्म की प्रतिष्ठा कैसे रख सकेगे ? आप अपने बच्चो मे सस्कार डालिये, उन्हे बताइये कि तुम्हे नीति पर चलना है, सच्चरित्र बनना है, व्यसनो से दूर रहना है, माता-पिता की तथा गुरु की आज्ञा मानना है, एव धर्म की रक्षा करना है।' ऐसे सस्कार डाले जाने पर ही तो आपके बालक सच्चे मनुष्य, सच्चे श्रावक तथा सच्चे महापुरुष बन सकेंगे।

होता क्या है ?

आज के माता-पिता को तनिक भी फुरसत नही मिलती कि वे अपने बच्चो को सुबह-शाम थोडा वक्त निकालकर सदशिक्षा दे, उन्हे उत्तम व्यवहार करने के तरीके बताएँ। और बिना घर उत्तम सस्कार डाले केवल स्कूली शिक्षा पर निर्भर रहने का परिणाम क्या होता है, यह आप जानते है। वहाँ की शिक्षा दुगुणो को जन्म देती है। स्कूल मे बालको को कहा जाता है—अण्डे खाओ ! मास, मछली, खाओ ! इससे ताकत आएगी आदि आदि।" ऐसा कहने वाले इस बात का ध्यान नही रखते कि मास-मछली खाने से शरीर मे बल-वृद्धि हो भी जाएगी तो मन और आत्मा का क्या होगा ? शरीर को तो कितना भी पुष्ट किया जाय, वह इसी जन्म मे एक दिन अग्नि मे भस्म कर दिया जाएगा पर आत्मा के ऊपर जिन निबिड कर्मो की तहे जम जाएँगी उनसे छुटकारा कितने जन्मो मे होगा ? शायद अनन्त जन्मो मे भी नही। इसके अलावा शरीर की स्वस्थता क्या मास, मछली और अण्डो पर ही निर्भर है ? जो व्यक्ति इन चीजो को खाना तो क्या देखना भी पसन्द नही करते, वे स्वस्थ नही रहते है क्या ? देखा यही जाता है कि मासाहारी व्यक्ति की अपेक्षा घी, दूध, दही तथा ऐसी ही अन्य चीजो का सेवन करने वाला शाकाहारी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ रहता है तथा दीर्घायु होता है। उसका मन, और

वाणी सभी आकर्षक और प्रिय होते हैं। महात्मा कबीर ने अपनी सीधीसाधी भाषा मे यही बात कही है—

जैसा अन्न-जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय॥

पद्य के शब्द बिलकुल सरल और साधारण है, किन्तु इनमे जो सत्य है वह निर्विवाद रूप से सही है। मासाहारी व्यक्ति केवल हिंसा और पाप का ही भागी नही बनता वरन् अतीव क्रोध और भोगलिप्सा का भी अधिकारी बनता है तथा असख्य कर्मो का उपार्जन कर लेता है।

पजाब मे सरक्यूलर निकाला गया था कि विद्यार्थियो को अण्डे खाने के लिए दिये जायें। सरकारी कानून बना कि बच्चो को अण्डे दो। पर लोगो ने उसका घोर विरोध किया और कहा कि जो खाते है उन्हे भले ही दिये जायें पर नही खाने वालो के लिए यह दबाव क्यो ? इस विषय मे लोगो की अगणित अर्जियाँ पहुँची तब वह सरक्यूलर रद्द किया गया।

मास नहीं पकाओगी तो मार्क कम मिलेंगे

हम जब हासी (पजाब) मे थे, हमने देखा, एक वकील जोकि जैन श्रावक थे, उनकी पुत्री स्कूल मे अध्ययन कर रही थी। स्कूल की प्रधानाध्यापिका ने लडकी से कहा—"तुम मास पकाना सीखो।"

लडकी ने उत्तर दिया—मैंने जिन्दगी मे मास देखा ही नही तो फिर पकाना कैसा ? मैं मास पकाने का काम नही कर सकती।

प्रधानाध्यापिका ने उसे भय दिखाया—"अगर माँस नही पकाओगी तो तुम्हे मार्क कम मिलेंगे।"

लडकी ने घर आकर अपने पिता से सारी बात बताई कि मास न पकाने पर बहनजी नम्बर कम देने को कह रही है। पिता वकील ठहरे, बोले—"अगर ऐसा है तो यह बात तुम अपनी मिस्ट्रेस से लिखवाकर ले आओ।"

लडकी ने स्कूल जाकर अपनी टीचर से कह दिया—"आप हमे यह बात लिखकर दीजिये उस पर हम विचार करेंगे।"

पर बहनजी लिखकर कैसे देती ? फँस जाती न ! बोली हम लिखकर नही देते, पर अपना सरक्यूलर यही है।

इस पर छात्रा ने कह दिया—"आप लिखकर नही देती तो मै भी मास नही पकाती।"

बी० ए० के बाद मे वही लडकी विदेश भी गई। और उच्च अध्ययन प्राप्त किया। यह उदाहरण देने से मेरा अभिप्राय यही है कि उस लडकी की दृढता और माता-पिता के डाले हुए उत्तम सस्कारो के कारण ही वह कठिनाई से बच सकी।

अन्यथा उसे यह निषिद्ध कार्य करना पडता और फिर अहिंसा-धर्म का पालन नही होता। आप सोचेंगे कि मांस पकाने मे उसे हिंसा का भागी क्यो बनना पडता ? इसका उत्तर यही है कि केवल प्राणिघात करना ही हिंसा नही है। हिन्दुओ के मान्यग्रन्थ मनुस्मृति मे हिंसा के आठ प्रकार बताये गये है। अर्थात् आठ प्रकार के कसाई कहे गये है।

कसाई कौन-कौन ?

अनुमता, विशसिता, निहता क्रय-विक्रयी।
सस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति अष्टम ॥

—मनुस्मृति

(१) **अनुमता**—जो अनुमोदन करे। जैसे—'यह जानवर काटने लायक है, इसका मांस बढिया होगा।' यद्यपि व्यक्ति ने किसी जानवर को मारा नही है, केवल अनुमोदन किया है। तब भी वह मनुस्मृति के अनुसार कसाई है।

(२) **विशसिता**—अलग-अलग टुकडे करना। खाया नही, पर टुकडो मे विभाजित किया, ऐसा व्यक्ति भी कसाई है।

(३) **निहता**—मारने वाला। व्यक्ति स्वय खाये चाहे नही, किन्तु जीवो को अगर मारता है तो कसाई कहलाता है।

(४) **क्रयी**—मांस खरीदने वाला भी कसाई है।

(५) **विक्रयी**—मांस बेचने वाला भी कसाई कहलाता है। अर्थात् मांस को बेचने और खरीदने वाले दोनो ही कसाई होते है।

(६) **सस्कर्ता**—मांस का सस्कार करने वाला व्यक्ति कसाई कहलाता है।

(७) **उपहर्ता**—मांस परोसने वाले को कसाई कहते है।

(८) **खादक**—मांस खाने वाला भी कसाई माना जाता है।

इस प्रकार मनुस्मृति मे आठ प्रकार के कसाई माने गए हैं।

मांसाहार सर्वथा निषिद्ध है

बधुओ, जहाँ मासाहार होता है वहाँ करुणा की भावना नही रहती, अहिंसा की रक्षा नही होती। आपको एक बात और ध्यान मे रखना चाहिए कि प्रत्येक धर्म मे दया, करुणा, क्षमा और परोपकार की भावना को धर्म का अग माना गया है। और दूसरे शब्दो मे हिंसा को हेय माना गया है। मुस्लिम जाति जिसे प्राय कसाई के नाम से ही पुकारते है, उनके धर्म-शास्त्र 'कुरान' मे भी लिखा है —

वल्लाहो ला मुहिब्बुल जालमीन।
अला इन्नजालमीन भी अजाबिन मुकीम ॥

अर्थात् खुदा जालियो से कभी प्रेम नही करता। याद रखो कि अत्याचारी व्यक्ति सदा के लिए कष्ट सहन करेंगे।

इसी प्रकार ईसाइयो के धर्मग्रथ इञ्जील मे कहा गया है —

'Thou shalt not kill"

—तू किमी का भी वध नही करेगा ।

इसी प्रकार 'भगवद् गीता' बौद्धग्रथ आदि सभी एक स्वर से हिंसा को वर्जित मानते है । और जैनधर्म का तो प्राण ही अहिंसा है । कहा भी है —

अहिंसा परमोधर्मस्तथाऽहिंसा परो दम ।
अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर फलम् ।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥

—अहिंसा परम धर्म, अहिंसा परम दम है । अहिंमा परम दान है, अहिंमा परम तप है, अहिंसा परम यज्ञ और उमका फल है तथा अहिंमा ही परम मित्र और परम सुख है ।

सक्षेप मे अहिंसा ही समस्त शुभ-क्रियाओ का एव समस्त सद्गुणो का मूल है । इसके अभाव म दया का पालन नही होता । गौतमकुलक नाम के ग्रन्थ मे, जिसम केवल बीस गाथाएँ है लिखा है —

"मसे पसत्तस्स दयाइ नासो ।"

—जहाँ मांस खाने की भावना होगी वहाँ दया का नाश है ।

बालको मे धार्मिक सस्कार किस प्रकार पनपे ?

यह विचार करने की बात है कि धार्मिक सस्कार किस प्रकार टिके रहे ? तथा हमारे बालको मे धम के य अकुर किस प्रकार पनपे ? घर मे माता-पिता को समय मिलता नही, स्कूलो मे धार्मिक शिक्षण दिया जाता नही और सतो के पाम आने मे बच्चो को शम आती है । फिर सस्कार कैसे डाले जा सकेंगे ?

इसीलिये मैं चाहता हूँ कि आपने हमारा चातुर्माम कराया है तो कम से कम धार्मिक शिक्षण के लिए जरूर व्यवस्था हो । धार्मिक शिक्षण नही होगा तो धर्म कैसे टिकेगा ? धर्म करने वाले हो तभी धर्म टिकता है । सस्कृत मे कहा गया है —

"न धर्मो धार्मिकै विना ।"

धर्मात्माओ के बिना धर्म नही रहता ।

अत अगर धर्म को टिकाना है तो अपने बच्चो को धर्म-सस्कारो से युक्त बनाओ । अन्यथा आप उनके हित-चिन्तक नही, वरन् अहितकारी साबित होगे । एक सुभाषित मे कहा है —

माता शत्रु पिता वैरी, येन बालो न पाठित ।
शोभते न सभामध्ये, हसमध्ये बकोयथा ॥

वह माता शत्रु और पिता वैरी है जिन्होने अपने बच्चो को पढाया नही। अर्थात् उनमे उत्तम सस्कार नही डाले। क्योकि अशिक्षित और असस्कारी बालक बड़े होने पर सभा सोसाइटियो मे हसो के बीच मे बगुलो के समान शोभाहीन मालूम देते हैं।

सच्चे अर्थों में माता-पिता

नवजात शिशु इस पृथ्वी पर जन्म लेते ही जिनके सम्पर्क मे आता है वे उसके माता-पिता ही होते है। माता-पिता जिस प्रकार अपने बच्चे को बनाना चाहते है वह वैसा ही बन जाता है। माता-पिता ही बालक को चोर डाकू या महापुरुष बना सकते है। पिता की सतर्कता और माता की लगन ही बालक के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण म सहायक बन सकती है। कोई भी पुत्र तब तक सुपुत्र नही बन सकता, जब तक उसके माता-पिता उसे सही मार्ग दर्शन न करे।

गाँधी जी की माता तो उनके युवावस्था प्राप्त होने तक भी पूर्ण सजग रही थीं। उन्होने गाँधीजी को विलायत भी तभी जाने दिया जब एक स्थानकवासी मुनिराज से मद्य-पान, माँस-भक्षण और परस्त्री-गमन का उन्हे त्याग करा दिया। ऐसी माताएँ ही अपने बच्चो का धार्मिक और सुसस्कारी बना सकती है तथा सुसस्कृत पुरुष ही अपने माता-पिता के गौरव को अक्षय रख सकते है।

विलायत नहीं जाऊँगा

श्री आशुतोष मुखर्जी जब कलकत्ता हाइकोर्ट के जज और कलकत्ता विश्व-विद्यालय के वाइस चासलर थे, उन्हे विलायत जाने का अवसर मिला। वे स्वय जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर अपनी माता से विदेश यात्रा के लिए आज्ञा लेने गए। किन्तु धार्मिक विचारो मे परिपूर्ण हृदयवाली उनकी माता ने उन्हे विदेश जाने की अनुमति नही दी। मातृ-भक्त मुखर्जी ने उसी क्षण विदेश जाने का विचार छोड दिया।

उस समय भारत के गवर्नर लार्ड कर्जन थे। उन्हे जब यह बात मालूम हुई तो उन्होने आशुतोष मुखर्जी को बुलाकर कहा—"आपको विलायत जाना चाहिए।"

मुखर्जी ने कहा—"सर! मेरी माता की इच्छा नही है।"

लार्ड कर्जन कुछ सत्ता पूर्ण स्वर से बोले—"जाकर अपनी माता से कहिये कि भारत के गवर्नर-जनरल आपको विलायत जाने की आज्ञा दे रहे है।"

मातृ-गौरव से दीप्त मुखर्जी ने उत्तर दिया—"मैं गवर्नर जनरल से निवेदन करता हूँ कि माता की आज्ञा का उल्लघन करके मैं किसी भी दूसरे की आज्ञा का पालन नही कर सकता। चाहे वह दूसरा व्यक्ति भारत का गवर्नर-जनरल ही क्यो न हो?"

बन्धुओ, ऐसे माता-पिता के भक्त और धार्मिक सस्कारो से ओत-प्रोत पुत्र अगर हो, तभी पुत्रो का होना सार्थक है अन्यथा यही कहना पडेगा कि —

कोऽर्थ पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् न धार्मिकः

—पचतत्र

अर्थात्-उस पुत्र के होने से क्या लाभ, जो न विद्वान ही हुआ और न धार्मिक ही बन सका।

किन्तु पुत्रो की विद्वत्ता और धर्महीनता का कारण वे स्वय नही होते, उनके माता-पिता होते है। आज के माँ-बाप बच्चो को सुसस्कारी बनाने के बजाय शैशवावस्था मे ही यह पूछते है "थारे केडी बीदणी लावाँ ?" और पुत्री हो तो—"थारे बींद केडो लावणो ?"

क्या ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछने वाले माता-पिता अपने बच्चो को कभी योग्य बना सकते है ? माता होनी चाहिए शकुन्तला जैसी, जिसने अपने पुत्र भरत को चार वर्ष की अवस्था मे ही शेर के दाँत गिनना सिखा दिया। माता होनी चाहिए जीजाबाई जैसी, जिसके बनाए गए पुत्र ने औरगजेब के छक्के छुडा दिये। माता होनी चाहिए शकराचार्य की माता जैसी, जिसने शकराचार्य को ज्ञान के शिखर पर पहुँचा दिया।

ऐसी माताएँ अपने पुत्रो का भला नही कर सकती जो बालक की शैशवावस्था मे यह कहकर खुश होती है कि 'अपने बाप को थप्पड मार !' और न वह पिता ही बालक का हितकारी बन सकता है जो बालक से अपनी माता के बाल खीचने को कहता है।

और बचपन से यह बाते सीखकर, बडा होने पर वही लडका जब नाना प्रकार के अभद्र व्यवहार करता है तो वे ही माँ-बाप कहते है—'हमारा लडका कपूत है।' अरे, लडका कपूत कैसे बना ? आपने ही तो उसे कपूत बनाया। इसीलिये उर्दू भाषा मे कहा गया है —

'हेत और प्यार में, कर देय जवा अपना पिसर—
इल्म मुतलक न सिखाए वो पिदर कुछ भी नहीं।
जिसने प्रभु से न करी प्रीत वो नर कुछ भी नहीं।'

जो पिता अपने बालक को ज्ञानाभ्यास न कराकर केवल लाड-प्यार मे ही बिगाड देता है, उसमे उत्तम सस्कार न डालकर केवल उम्र से जवान बना देता है। वह पिता, पिता नही है। उसी प्रकार, जिस प्रकार की ईश्वर से प्यार न करने वाला मनुष्य सच्चे मायने मे मनुष्य नही है।

शिशु जन्म से कुछ भी सीखकर नही आता। वह जो कुछ भी सीखता है, अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। माता-पिता तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को जैसा करते देखता है, वह भी वैसा ही करने लगता है। चोर का पुत्र चोर बनता है और पुजारी का पुजारी। इसलिए प्रत्येक पिता का कर्तव्य है कि वह स्वय सुसस्कारी,

आचारनिष्ठ और ज्ञानवान बने तथा अपनी सतान को भी वैसा ही बनाए। ताकि बडा होने पर वह विद्वानो की सभा मे बैठने पर शोभा पा सके।

गुण-दृष्टि और दोष-दृष्टि

हस श्वेत रग का होता है और बगुला भी। किन्तु दोनो की वृत्तियो मे महान अतर होता है। हस केवल मोती ही ग्रहण करता है। उसके समक्ष भले ही मोती और ककर मिला कर रख दिय जायँ, पर वह केवल मोती ही उठायेगा। दूध मे पानी मिलाकर रख देने पर भी वह सिर्फ दूध को ही ग्रहण करेगा।

शकालु व्यक्ति कहेगे, ऐसा कैसे हो सकता है ? पर वास्तव मे ऐसा ही होता है। हस की चोच मे ऐसी ही शक्ति होती है, ऐसा गुण होता है कि वह दूध अलग और पानी अलग कर देता है।

इसके अलावा आपने देखा होगा कि दूध देने वाली गायो के स्तनो के पास चीचड होते है। वे स्तन के पास रहकर भी खून चूसते है दूध नही। जोक भी शरीर पर चिपकी रहकर खराब खून चूसती है। यह सब क्यो ? इसलिये कि इन प्राणियो की वृत्ति ही ऐसी होती है।

इन उदाहरणो को देने का अभिप्राय यही है कि अगर आपके बालक अशिक्षित रहेगे और असस्कारी भी रह जाएगे तो उनकी वृत्तिया परिष्कृत नही हो सकेगी तथा उनकी दृष्टि, गुण-दृष्टि नही बन पाएगी। परिणाम यह होगा कि विद्वत्जनो के बीच मे उनकी उपस्थिति व्यर्थ साबित होगी तथा व किसी प्रकार का लाभ नही उठा पाएँगे। साथ ही अशोभनीय दिखाई देगे जिस प्रकार बगुले हँसो के मध्य के दिखाई देते है।

इसलिये बधुओ! अपने बालको को प्रारम्भ से ही सस्कारित करने का प्रयत्न करो। बच्चो को—'बह कैसी लानी ? और दूल्हा कैसा चाहिये ?' यह कहने के बजाय सिखाओ कि पिता आने पर खडे हो जाय, माता का आदर करे, प्रात उठते ही ईश-स्मरण करे, झूठ न बोले, चोरी न करे आदि-आदि चरित्र-निर्माण की बाते उन्हे सिखाओ! तभी वे बडे होने पर आपका, आपके कुल का तथा समाज का गौरव बढाएँगे और धर्म की रक्षा करेंगे। अन्यथा क्या होगा ? आपकी सतान बडी होकर आपको दोष देगी, गालियाँ देगी तथा भला-बुरा कहेगी कि हमे अशिक्षित और असस्कारी रख दिया।

मा से मिलना है

किसी शहर मे एक माता और पुत्र रहते थे। पुत्र छोटा था, पिता की मृत्यु हो चुकी थी। अत बच्चे के पालन-पोषण का भार माता पर ही आ गया। माता सस्कारहीन थी तथा उसमे सद्गुणो का अभाव था। बच्चे के भविष्य की चिन्ता उसे नही थी।

शैशवावस्था मे एक दिन वह किसी लडके की गेद चुरा लाया। माँ ने उसकी

इस छोटी-सी चीज पर नाराजी प्रकट नही की उलटे प्रसन्नता जाहिर की । बच्चे का उत्साह बढ गया और वह प्रतिदिन या जब भी मौका मिला, कुछ न कुछ किसी न किसी का उठा ही लाता । बिना मूल्य घर मे चीजे आना माँ के मन के लिये और भी खुशी का कारण बना ।

धीरे-धीरे बालक युवा हुआ और इतनी उम्र तक तो पक्का चोर भी बन गया । किन्तु पाप का घडा फूटे बिना नही रहता इसी नियम के अनुसार एक बार चोरी के साथ-साथ किसी की हत्या भी कर देने के जुर्म मे उसे फाँसी की सजा हो गई । जिस दिन फाँसी दी जाने वाली थी, अधिकारियो ने उससे उसकी अन्तिम इच्छा प्रकट करन के लिये कहा—

युवक ने कहा—"अपनी माँ से मिलना चाहता हूँ ।"

माँ को कैदी के समीप बुलाया गया । पर उस कैदी और फाँसी पाने के लिये तैयार युवक न क्या किया ? जानते हे आप ? हाथ तो उसके हथकडियो मे जकडे ही थे अत माँ के मुँह पर थूक दिया ।

आसपास खडे हुए व्यक्ति चकित हुए और इसका कारण पूछने लगे । युवक न उत्तर दिया—"मुझे इस स्थिति पर पहुँचाने वाली मेरी यह माँ ही है । अगर बचपन म चोरी करना प्रारम्भ करने पर यह मुझे प्रोत्साहन न देती और मना करती तो मैं आज फाँसी नही पाता ।" कहकर युवक ने मुँह मोड लिया ।

बधुओ, बचपन के सस्कारो का कभी-कभी ऐसा भयकर प्रभाव पडता है । इसलिये आवश्यक है कि बालको मे प्रारम्भ से ही उत्तम सस्कार डाले जायें । उनमे नीति और धर्म का बीजारोपण किया जाय । सरकारी स्कूलो और कॉलेजो के भरोसे रहकर आप अपने बालको को कभी आचारनिष्ठ और धर्मनिष्ठ नही बना सकते ।

आजकल क्या होता है ?

आजकल तो हम आये दिन सुनते ह और अखबारो मे पढते भी ह कि अमुक स्कूल म छात्रो ने अध्यापक को पीट दिया । अथवा अमुक कॉलेज के छात्र ने पिस्तौल से मार डालने की धमकी देकर अपने नबर बढवा लिये । ऐसी आधुनिक शिक्षा क्या छात्रो को महापुरुष बना सकती हे ? वहाँ से वे केवल अनुशासन-हीनता का ही पाठ पढकर निकलते है और उसका उपयोग आपके घर मे करते ह । बताइये, कितने पिता यहाँ पर ऐसे है जो अपने पुत्रो की शिक्षा से और उनके सद्व्यवहारो से सतुष्ट है ?

शिक्षा कैसी हो ?

शिक्षा का कार्य है, बालक म जो सद्गुण गुप्तरूप से विद्यमान होते है उन्हे प्रत्यक्ष करना । चरित्र निर्माण करना, तथा उसे सन्मार्ग बताना । शरीर तथा आत्मा मे अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न

करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य जीवन की परिस्थितियो का सामना करने की योग्यता प्राप्त करता है। आज स्कूलो और कालेजो म शिक्षा के नाम पर जो शिक्षा दी जाती है वह केवल पुस्तकीय ज्ञान होता है, और उसका उद्देश्य सासारिक सुखो के साधन जुटाना मात्र रहता है।

किन्तु हमारे आध्यात्मवादी देश मे सदा से ऐसा नही चला आ रहा है। प्राचीन काल मे यहाँ के गुरु जो शिक्षा देते थ वह केवल इहलौकिक सुख के लिये ही नही होती थी। वरन् ससार स मुक्त होने के लिये दी जाती थी। कहा भी है—

'सा विद्या या विमुक्तये'

—सच्ची विद्या वही है जो हम मुक्त करती है। अथात् जो विद्या नम्रता, मधुरता, परोपकार, सयम, सन्तोष आदि सदगुणो पर आधारित होती है तथा जिसमे धार्मिक विचारो का समावेश होता है वही विद्या मिथ्यात्व का परदा हटाकर ज्ञान-चक्षुओ को उघाडती है और आत्मा को जन्म-मरण के चक्र मे छुडाती है।

कहने का अथ यही है कि जब तक शिक्षा म धार्मिक विचारो का समावेश नही होगा, तब तक वह अपूण रहेगी। इसलिय माता पिता को अपने बालको मे बचपन से ही धार्मिक सस्कार डालने चाहिये, उनकी रुचि धर्म की ओर उन्मुख करनी चाहिए। चाहे वे घर पर नमोकार मत्र ही सीखे, चौबीस तीर्थकरो के नाम अथवा प्राथना स्तुति ही याद करें, किन्तु स्कूल म दाखिल होने स पहले ही उनमे कम से कम धर्म का बीजारोपण तो करना ही चाहिए तथा उनके हृदय मे माता पिता के प्रति, बडो के प्रति तथा अपने गुरु और शिक्षक के प्रति गहरी श्रद्धा और सम्मान की भावनाएँ जगा देनी चाहिए। तभी वह अपनी नम्रता और विनय के द्वारा जो शिक्षा प्राप्त करेगा उसका परिणाम शुभ होगा। अन्यथा अपनी उच्छृखलता और अविनीतता के कारण शिक्षक के साथ रहकर भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त नही कर सकेगा। कहा भी है —

जे य चडे मिए थद्धे,
दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झई से अविणीअप्पा,
कट्ठ सोअगय जहा॥

—दशवैकालिक सूत्र

—जो क्रोधी, अहकारी, कटुवादी, कपटी तथा अविनीत शिष्य होते है, वे जल मे पडे हुए काष्ठ के समान ससार-सागर म बह जाते है।

अर्थात्—असस्कारी और अविनीत शिष्य अपने शिक्षको के समीप रह कर भी सम्यक् ज्ञान ग्रहण नही कर पाते तथा उसके अभाव मे अपनी आत्मा को कलुषित और कषाय-युक्त बनाए रहकर अपने मानव-जीवन को सार्थक नही बना सकते। यानी कभी भी ससार-मुक्त नही हो सकते।

सच्चा विद्यार्थी वही है, जिसे विद्या ग्रहण की तीव्र और सच्ची भूख हो और जो विद्या-प्राप्ति के उद्देश्य मे तल्लीन होकर अन्य समस्त सासारिक सुखो को त्याग देता है। पान, बीडी, सिगरेट, चाय, सिनेमा और सैर-सपाटे का शौकीन छात्र कभी विद्या प्राप्त नही कर सकता। एक श्लोक मे यही बताया गया है—

सुखार्थिन कुतो विद्या, विद्यार्थिन कुत सुखम् !
सुखार्थी वा त्यजेद विद्या, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् !

—आचार्य चाणक्य

—सुखार्थी को विद्या कहाँ, विद्यार्थी को सुख कहाँ ? विद्यार्थी सुख को चाहे तो विद्या छोड दे और विद्या चाहे तो सुख त्याग दे।

क्या करना चाहिए ?

तो बन्धुओ, अगर आप चाहते है कि आपकी सतान, आपके पुत्र व पुत्रियाँ, सुयोग्य गुणवान्, विद्वान् और धार्मिक बन, तो आपको उनके जन्म के साथ ही सजग होना चाहिए। तथा अपने पितृत्व धर्म का निर्वाह करते हुए उन्हे बचपन मे ही उत्तम *सस्कारो से युक्त एव समस्त दुर्गुणो से बचाते हुए ज्ञान-प्राप्ति की ओर अग्रसर करना* चाहिए। उनमे नम्रता, विनयशीलता, निरभिमानता एव अनुशासन-प्रियता के भाव भरने चाहिए। ऐसे सद्गुणो से युक्त हृदय ही धर्म को ग्रहण करने के उपयुक्त होते है। किन्तु अत्यधिक व्यस्तता और सासारिक कार्यों मे निमग्न रहने के कारण आप स्वय अपने बालको पर पूरा ध्यान नही दे सकते है तथा उन्हे यथोचित धार्मिक शिक्षण देने मे असमर्थता का अनुभव करते है, तो आपको चाहिए कि धार्मिक शालाएँ खुलवाएँ और उनमे सुयोग्य अध्यापको को रखकर अपने बच्चो को धर्म की जानकारी कराएँ, ताकि वे धर्म के महत्त्व को समझे और अपने जीवन को धर्ममय बनाते हुए मानव-जन्म को सार्थक बनाने का प्रयत्न करे।

ससार के अन्य कार्यों मे आप हजारो और लाखो रुपये खर्च करते है। ब्याह-शादियो मे, सैर-सपाटो मे तथा अन्य नाना प्रकार के मनोरजक कार्यों मे पानी की तरह पैसा उडाते है। फिर अपने बालको के लिए, जिनसे आपके कुल की, समाज की और देश की शोभा बढती है, उसके लिए कुछ प्रयत्न क्यो नही करते है ?

याद रखिये

आपको यह नही भूलना चाहिए कि बालको को अच्छा खिलाकर, अच्छा पहनाकर और खूब लाड-प्यार से रखकर ही आप कर्त्तव्य को पूर्ण कर लेगे। आपका प्यार और कर्त्तव्य अगर इन बातो तक ही सीमित रहा तो बच्चो का जीवन वही हसो के बीच बगुले के समान हो जायगा और आपका पुत्र प्राप्त करना न करना बराबर हो जायगा। कवि 'गिरधर' ने भी कहा है—

बालक रखिये हटक मे, नहिं चढ़ाओ शीश,
नित प्रति लाड लड़ाय ते बिगरत बिस्वा-बीस।

बिगरत बिस्वा-बीस हाथ हुनर नहिं आवे,
शोभत सभा न बीच उच्च पद कबहुँ न पावे ।
कहे गिरधर कविराय सुनो हो वासी वरका,
कोटि जतन करि राख फेर नहिं सुधरै लरका ।

पद्य मे कहा है कि 'कोटि जतन करि राख' अर्थात् अपने बालको के लिये कदम-कदम पर सावधान रहो, केवल प्यार-दुलार मे ही उन्हे 'कोरा' मत रह जाने दो, उनकी आदतें बिगाडो मत, अन्यथा फिर पश्चाताप ही हाथ आएगा और आप अपने बालको के हितचिन्तक नही, वरन् अनिष्टकारक साबित होगे ।

अन्त मे पुन यही कहना है कि अगर आपको वास्तव मे ही अपने पुत्रो को 'पुत्र-रत्न' बनाना है तो उनके लिए धार्मिकशाला अवश्यमेव खोलो, उनमे उच्च सस्कार डालो, उन्हे ज्ञानवान, गुणवान और धार्मिक बनाओ । तभी आपका पुत्र प्राप्त करना सार्थक होगा और आपके पुत्र के लिए आप जैसे पिता का प्राप्त करना । धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने पर ही आपकी सन्तान आचारनिष्ठ बन सकेगी तथा अपने धर्म को देदीप्यमान करती हुई उसे सुरक्षित रख सकेगी ।

७

लेखा-जोखा

धमप्रेमी बन्धुओ ! शीलवनी माताओ एव बहिनो !!

आज के प्रवचन मे अभी-अभी मुनि श्री जी ने आपको बताया है कि भगवान *महावीर विचरते हुए आमलकप्पा नगर मे पधारे तथा नगर के राजा, राज्य परिवार* क व्यक्ति और वहाँ की सम्पूर्ण जनता वीर प्रभु के दर्शनार्थ उमड पडी।

सत महिमा

बन्धुओ विचारणीय बात यह है कि अवतारी पुरुषो के दर्शन और उपदेश-श्रवण से क्या लाभ है ? अवतारी एव सत-पुरुषो के दशन की महिमा का वर्णन शब्दो के द्वारा नही किया जा सकता। अर्थात् सन्त-दर्शन का महत्त्व अवर्णनीय है। प्रथम तो निर्मल हृदय रखने वाले व्यक्ति को सन्तो के दर्शन एव वदन से आत्मिक शाति का अनुभव होता है। दूसरे सत समागम का प्रथम चरण सत-दर्शन ही है। दर्शन के बिना समागम का अवसर नही मिल सकता। महानपुरुषो के समागम का महत्त्व बताते हुए कहा गया है —

'महत्सगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।'

—नारदभक्ति सूत्र

—महापुरुषो का सग दुर्लभ, अगम्य और कभी भी व्यर्थ न जाने वाला होता है।

सतो के समागम मे ही मनुष्य का बौद्धिक एव आत्मिक विकास होता है तथा अज्ञानान्धकार के नष्ट होने से सन्मार्ग का ज्ञान होता है। ज्ञानी एव उत्कट दशनाभिलाषी व्यक्ति को तो अगर किसी विशेष कारणवश नगर मे पधारे हुए मुनि का दर्शन प्राप्त न हो सक और उसके लिये उसे तीव्र और आन्तरिक पश्चात्ताप हो तो वह भी देव-गति के बंध का कारण बनता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को यथासभव सतो के दर्शन

एव प्रवचन-श्रवण का लाभ उठाना चाहिये। क्योकि किताबी शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षक तो आज प्रत्येक गाँव व नगर मे मिल जायेंगे किन्तु आत्म-स्वरूप की जानकारी कराने वाले दिव्य ज्ञान देने वाल सतजन विरले ही होते है तथा उनका समागम अत्यन्त कठिनाई मे प्राप्त होता है।

नफे का व्यापार

व्यापार शब्द आप लोगो के लिये नया नही है। इससे, होश सम्हालने से लेकर अब तक की आपकी गहरी पहचान है। आप दुकान खोलते है, व्यापार करते है और हजारो-लाखो के बारे न्यारे करते रहते है। कभी गहरा नफा और कभी गहरा घाटा, इसी चक्कर मे आप घूमते रहते है। किन्तु इसमे कभी सन्तुष्ट होते हुए दिखाई नही देते। आपके हृदय मे हमेशा उथल-पुथल मची रहती है। क्योकि आपका व्यापार डगमगाने वाला है, आपकी दुकान का माल क्षणभगुर है, नष्ट होने वाला है तथा अनेक प्रकार की कठिनाइयो मे डालने वाला है। इसलिए ज्ञानी पुरुष इसकी भर्त्सना करते हुए कहते है—

> **अहो महाकष्टमनर्थमूल,**
> **तदर्जने च प्रतिपालने च।**
> **प्राप्तेऽपि दुःख प्रगतेऽपि दुःख,**
> **धिग् धिग् धन कष्ट निकेतन तत्॥**

—अहो, यह धन महा कष्टदायी है। अनेक अनर्थों का मूल है। इसे प्राप्त करने म तथा इसकी रक्षा करने मे अनेक सकट सहने पडते है। धन आता है तब भी महादुख देता है और विलीन होता है तो भी महान कष्टदायी होता है। ऐसे कष्ट के भडार धन को बारम्बार धिक्कार है।

आत्मा का साथी धन

आत्मोन्नति के इच्छुक पुरुष ऐसे धन का व्यापार कभी नही करते। वे ऐसा माल भी कभी नही खरीदते, जो कि नष्ट हो जाने वाला हो। उनका सतत् प्रयत्न ऐसे ही माल का सग्रह करने के लिए होता है, जो उनके साथ चलने वाला हो। आपको आश्चर्य होगा यह सुनकर कि कोई माल आत्मा के साथ चलने वाला भी होता है? हाँ, यह अकाट्य सत्य है। ऐसा माल भी आपको मिल सकता है जो आत्मा के साथ चलेगा। पर वह आपके बाजारो मे नही मिलेगा। ऐसे अनमोल माल की दुकाने आपको विरली ही मिलेगी। किसी मुमुक्षु प्राणी ने एक ऐसी दुकान का संकेत दिया है और वहाँ से कभी नष्ट न होने वाला माल खरीदने की प्रेरणा दी है—

> **त्रिशलानदन की खुली दुकान जो,**
> **तुम माल खरीदो।**

त्रिशला नन्दन भगवान महावीर की दुकान खुली है। इस दुकान मे धोखा

नही है। यहाँ का माल नकली और नाशवान नही है। तथा इसमे कभी घाटा नही होता, नफा ही नफा रहता है। एक और भी आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारी इस दुकान का माल द्रव्य माल नही है फिर भी यह है, और इतना है, कि कभी कम नही होता। इसमे स चाहे जितना खरीदा जाय, चाहे जितना उठा लिया जाय, दुकान पूर्ववत् भरी रहती है।

आपकी दुकानो मे जबकि थोडा-सा भी माल रख दिया जाय, वहाँ की जगह भर जाती है और पदार्थों के बिकते ही दुकान खाली लगने लगती है। हमारी दुकान प्रत्येक समय और प्रत्येक काल मे भरपूर रहती है। ज्यो-ज्यो माल बिकता है, त्यो-त्यो उसके स्थान पर स्वय ही नया आता-जाता है। दृष्टिगोचर न होने पर भी हमारी दुकान का माल इस लोक मे तो यश, प्रतिष्ठा, सुख और सतोष प्रदान करता ही है, अपितु परलोक म भी आत्मा के साथ चलता है।

दो पहाड़े

बधुओ! आप ससारी लोगो के विषय म विशेष क्या कहा जाय? आपका जो पाठ है, पहाडा है या सबक है वह आठ के अक का है और भगवान की दुकान, जिसे हम चलाते है, उसका पहाडा नौ के अक का है। आप शायद समझे नही होगे। मै इन्हे ही समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। बताइये, आपका पहाडा पहले सुनाऊँ या हमारा?

हमारा नौ का अक है। नौ एकम नौ। सख्या वही नौ है। नौ दूनी अट्ठारह। अठारह कैसे लिखे जाते है? एक और आठ। अब इनको जोडो—एक और आठ-नौ। वही अक रहा। अब नौ ती सत्ताइस। दो और सात नौ। चार नौ छत्तीस। तीन और छ नौ। पाच नौ पैतालीस। चार और पाँच भी नौ ही हुए। छ नम् चौवन। पाँच और चार भी नौ होते है। सात नम त्रेसठ। छ और तीन नौ। आठ नवा बहत्तर। सात और दो नौ। नवे नवे इक्यासी। आठ और एक फिर नौ हो गये। तथा दस नौ नब्बे। यहाँ भी नौ ही है।

देखा आपने? कही पर भी घाटा या नुकसान नही हुआ। आत्मोन्नति किवा परमात्मा बनाने का पाठ नौ के अक के समान है। वस्तुत यहाँ पर अहिसा है, सत्य है, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह है तथा कषायो का अभाव है वहाँ नुकसान कैसा? नफा ही नफा तो दिखाई देता है। तथा वह भी सदा बढ़ता ही चला जाता है।

छब्बे बनने चले पर दुबे रह गये

अब आपका पहाडा सुन लीजिये। जिसमे घाटा ही घाटा है। कभी अगर एकदम नफा हो भी गया तो पुन गिरावट प्रारम्भ हो जाती है और व्यापार जहाँ का तहाँ रह जाता है। आपके पाठ का अक क्या है? आठ का। आठ एक आठ। आठ दूनी सोलह। सोलह कैसे लिखे गए है? एक और छ। जोडा तो सात हुए, एक कम हो गया। आठ की जगह सात रह गये। आप दिन-रात मेहनत करते है,

प्रयत्न करते रहते है बढ़ाने का, पर माल कम हो जाता है। वैसे आपको कहा जाय कि दस मिनिट माला फेरिये, तो कहते हे फुरसत नही मिलती, काम अधिक है। संतो के समागम और उपदेश श्रवण के लिए आपको समय नही रहता। फिर आप बढ़ेंगे कैसे ? घाटा ही तो होगा। जैसे कि आठ का पहाड़ा शुरू करते ही एक की कमी आ गई।

अब आगे चलिये। आठ तीन चौबीस। दो और चार छ। एक और घट गया। आप चाहते तो बढाना है पर ससार घटा देता है। आगे है आठ चौक बत्तीस। तीन और दो पांच बचे। इसके बाद आठ पजा चालीस, लीजिये पाँच से घटकर चार ही रह गए। क्या कहा जाय ? आप लोग धन कमाने म और उसकी सुरक्षा मे प्राणपण से लग रहते हैं किन्तु यह धन पानी के बुलबुले के समान नष्ट हो ही जाता है। इसीलिए कवि सुन्दरदास प्राणियो को बोध देने का प्रयत्न करते हुए कहते है—

माया जोरी जोरी नर, राखत यतन करी,
कहत है एक दिन, मेरे काम आई है।
तोहि न रहत कछु बेर न लगत सठ,
देखत ही देखत, बबूला सो बिलाई है।

अर्थात् प्राणी माया जोड-जोडकर बडे यत्न से उस भण्डार मे, तिजोरियो म या जमीन मे गाडकर रखता है और कहता है कि यह एक दिन मेरे काम आयेगी। किन्तु वह स्थिर नही रहती। देखते-देखते ही पानी के बुलबुले के समान ससार सागर मे विलीन हो जाती है।

इस धन के लिए आप अपनी जन्मदात्री माता का, जिसके ऋण से कभी भी उऋण नही हुआ जा सकता, छोड देते हो। विवाह म जीवन पर्यन्त साथ देने की प्रतिज्ञा करने पर भी अपनी स्नेहशीला पत्नी को तथा वर्षा तक तरसने के बाद प्राप्त हुए बाल-बच्चो को भी छोडकर परदेश चले जाते हो—

धन के कारण देश प्रवेशा,
धूप गिणे नहिं छाया रे।
करे नौकरी बहु नर-नारी,
जोडे माया रे • ।

अपनी जन्मभूमि छोडकर हजारो मील दूर आप देश-विदेश मे जाते हैं। वहाँ बाजारो मे भाग-दौड करते है। सर्दी गर्मी की परवाह किये बिना कडी मेहनत मे सलग्न रहते है। भूख-प्यास सताती है, किन्तु ग्राहको के विद्यमान रहने से इन्हे भूल जाते हैं। सोचते है—पानी कहाँ जाएगा ? ग्राहक से निपटना जरूरी है।

और अगर आपके पास व्यापार के लिए पूंजी नही होती तो दूसरो की नौकरी करते हो। अफसरो की भली-बुरी सुनते हो, पर धन की लालसा को नही छोडते।

हजार प्रयत्न करते हुए भी आप निराश नही होते । क्योकि आप आठ के अक मे रहते हैं । चाहे आपको व्यापार मे हानि हो जाय ? आज के लखपति आप, कल औरो के कर्जदार बन जायँ, पर लोभ नही छुटता । पुन अर्थ-प्राप्ति के लिए चौगुनी शक्ति से जुट जाते है पर परिणाम क्या होता है ? धन फिर मिलता है और फिर चला जाता है । जैसे—आठ छ अडतालीस । चार और आठ बारह । एकदम लौटरी ही निकल आई । ड्योढे हो गए । आपकी खुशी का पारावार ही नही रहा । किन्तु क्या यह स्थिति रोज रह सकती है ? नही, आठ सात छप्पन । पाँच और छ ग्यारह । एक घट गया । आठो आठे चौसठ । छ और चार दस । बारह से ग्यारह और ग्यारह से दस ही रह गए । पर अभी क्या हुआ ? आठ नम बहत्तर । सात और दो नौ । बारह से नौ पर आए । जैसे कपूर की टिकिया पडी-पडी उड जाती है, उसी तरह जब आपके पुण्य-कर्मों का उदय होता है, लक्ष्मी आपके पास रहती है और पुण्यवानी का अभाव होते ही उसके जाते देर नही लगती । और आठ दस अस्सी के समान आप वही के वही रह जाते है ।

शम एव पर ज्ञानम्

परमार्थ का अक नौ का है । यह सदा एक सा रहने वाला है । आत्मोन्नति के इच्छुक साधक को सम-रस मे रहना आवश्यक है, इसी के द्वारा वह अपनी आत्मा के मैल को उत्तरोत्तर धो सकता है । कहा भी है—

"योगारूढ शमादेव शुद्धयत्यन्तर्गतक्रिय ।"

—ज्ञानसार

—आभ्यन्तर क्रियापात्र योगी पुरुष भी शम व्रत से ही, यानि विकारो को जीतने से ही शुद्ध होते है ।

तथा इसके विपरीत जिन प्राणियो मे शम-भाव नही होता वे मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकार नही रखते—

"शमो हि न भवेद्येषाम् ते नरा पशुसन्निभा ।"

– तत्त्वामृत

जिन पुरुषो म शम-भाव का अभाव है, वे मनुष्य पशु के समान ही है ।

इसलिए प्रत्येक मानव को सम-भाव रखते हुए, अर्थात् निर्विकारी बनते हुए सुकृतरूपी धन को कमाने का प्रयत्न करना चाहिए । किसी कवि ने कहा भी है—

जब सुकृत धन को कमाऊँगा,
मै वही दिन धन्य मानूँगा ।

कवि की भावना है कि, मैं अपने उसी दिन को धन्य समझूँगा, जिस दिन सुकृत्य रूपी धन को कमा लूँगा ।

दुनियादारी का धन तो आप कितना ही क्यो न इकट्ठा कर लें, वह टिकने

वाला नही है । न तो वह चिरस्थायी रहता है और न ही आपकी आत्मा को ससार-मुक्त करने मे समर्थ हो सकता है । किन्तु सुकृत्य रूपी धन अगर आप कमा लेंगे तो वह आपका रहेगा और आपकी आत्मा को स्वाधीन बनाने मे सहायक होगा ।

मुक्ति-प्रदाता मनोरथ

प्रत्येक श्रावक को अपने हृदय मे निर्मल एव उच्च विचारो को स्थान देना चाहिए । अनेक प्रकार के उत्तम विचारो मे से मुख्य तीन है, जिन्हे हम श्रावक के तीन मनोरथो के नाम से पुकारते है । एक पद्य मे वे स्पष्ट किये जाते है—

"आरम्भ परिग्रह तजि करी, पच महाव्रत धार ।
अन्त समय आलोयणा, करू सथारो सार ।।

पद्य का अर्थ सरल और स्पष्ट है । आशा है आप समझ ही गए होगे । ये सुन्दर मनोरथ प्रत्येक श्रावक को अहर्निश अपने मन मे रखने चाहिए कि "मेरे जीवन मे वह मगलमय दिन कब आएगा, जब मैं समस्त पर पदार्थो पर से आसक्ति हटाकर पच-महाव्रतो को धारण करूँगा । अथात् मुनिवृत्ति को अगीकार करूँगा । तथा जीवन के अन्तिम समय म अपने गुरुदेव के समक्ष समस्त अपराधो, दोषो एव भूलो की आलोचना करके समाधिमरण को प्राप्त होऊँगा ।" य दिव्य मनोरथ मोक्ष रूपी महल मे प्रविष्ट होने के लिए सीढियो के समान है । दूसरे शब्दो मे गुणस्थानो की श्रेणी पर उत्तरोत्तर आरूढ होने के लिए परमावश्यक है ।

यह भावनाएँ है परमार्थ की । इनमे कही घाट या नुकसान का भय नही है । यह रोजगार पूर्ण रूप स नफे ही नफे का है । इसी की दुकान यहाँ कुशालपुरा मे खुली है । जिस नफे के व्यापार के लिए लोग तरसते है, एक दिन के लिए अगर ऐसा सयोग मिल जाय तो हर्ष से फूले नही समाते । वही सयोग आपको चार महीनो के लिए मिल गया है । क्या इसका लाभ आप उठाना चाहते है ? अभी तो —

"माल बिके छे थोडो जिण सू,
खर्च पूरो नहि चल्ले ।
आवेला कोई उत्तम प्राणी,
माल डालसी पल्ले ।

समझे आप ? सन्तो न यहाँ दुकान तो खोल दी है किन्तु बिक्री अभी जितनी होनी चाहिए, नही हो रही है । इस तरह कैसे काम चलेगा ? लगता है कि कभी कोई उत्तम पुरुष आएगा और वही यह माल खरीद कर ले जाएगा । सन्तो की दुकान मे कैसा माल होता है, इस विषय मे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने मराठी भाषा मे कहा है—

राम नाम हे चि माडिले दुकान,
आहे वानो वाण घ्यारे कोणी ।।१।।

—यह राम नाम की दुकान है और इसमे तरह-तरह के 'वाण' अर्थात् नमूने हैं ।

अद्भुत माल

जिस प्रकार आपकी दुकानो मे भिन्न भिन्न प्रकार के नमूने होते हैं, उसी प्रकार हमारी दुकान मे भी अनेक प्रकार के नमूने है । यथा—भगवान का नाम स्मरण करो, सत्सगति करो, भक्ति करो, दया पालो, सत्य बोलो, किसी का धन मत छीनो अथवा चुराओ मत, दृष्टि मे विकार मत आने दो, शराब मत पीओ, मांसाहार मत करो, शिकार मत खेलो, रात्रि-भोजन का त्याग करो, तप करो, व्रत ग्रहण करो । आदि-आदि अनेक प्रकार के नमूने हमारी दुकान मे है । इसके अलावा जो एक महान् विशेषता और भी है, वह सन्त तुकाराम जी ने दूसरे चरण मे बताई है—

नका करू कोणी घेतारे आलस,
वारितो तुम्हास फुकाचे हे ॥२॥

नका करो, अर्थात् मत करो । परमार्थ रूपी माल को लेने के लिए आलस्य मत करो । क्योकि इस दुकान की सबसे बडी महत्ता यह है कि इसका माल खरीदने म आपको पैसा खर्च नही करना पडता, कुछ भी देना नही होता ।

बिना मोल लिये ले जाओ !

आपकी दुनियादारी की दुकान मे तो कोई ग्राहक किसी वस्तु को खरीदता है तो आप उसी समय बदले मे पैसे ले लेते हैं । किन्तु हमारी दुकान से आप चाहे जितना माल ले जायँ, हम बदले मे कुछ भी नही लेते । क्या किसी सन्त को आपने अपनी चीजो के बदले मे कुछ मांगते देखा है ? नही, अगर सत बदले मे कुछ मांगने लग जायँ तो सारा मामला ही गडबड हो जाएगा । और वही हाल होगा—

गुरु लोभी चेला लालची,
दोनो खेले दाँव ।
दोनो डूबे बापडा,
बैठ पत्थर की नाव ।

यथा देव तथा पूजा

गुरु समझता है, यहाँ भरपूर दक्षिणा मिलेगी । दूसरे घरो मे पाँच रुपये मिलते है पर यहाँ सात का डौल दिखाई देता है । दूसरी ओर चेला विचार करता है कि गुरुजी के मेरे जैसे अनेक भक्त है । सभी दक्षिणा देंगे तो इनके पास वैसे ही बहुत हो जाएगा अत दो रुपये ही देना चाहिए ।

ऐसी हालत मे गुरु और चेला दोनो ही डूबे बिना रह सकते हैं क्या ? लोभ रूपी पत्थर की नाव मे बैठकर उनमे से एक भी ससार-सागर के किनारे पर नही पहुँच सकता । और यह कहावत अक्षरश सत्य साबित हो जाती है कि लालची गुरु

और चेला दोनो ही दाव खेलते है, किन्तु इस लोमरूप पत्थर की नाव मे बैठे हुए, किनारे पर पहुँचने के प्रयत्न मे बेचारे पार नही पहुँच पाते, डूब जाते हैं।

वस्तुत लोभ-वृत्ति प्रत्येक प्राणी के पतन का कारण बनती है, किसी की भी हित-साधना मे सहायक नही बन सकती। तभी कहा गया है —

"केषां हि नापदा हेतुरतिलोभान्धबुद्धिता ?"

अति लोभान्ध बुद्धि किनके लिए विपत्ति का कारण नही बनती ? अर्थात बिना किसी अपवाद के यह सभी के लिए आपत्तियाँ लाने वाली होती है।

इसीलिये सत तुकाराम जी कहते है कि परमार्थ की इस दुकान से माल खरीदो ! क्योकि यहाँ न माल बेचने वाले को पैसा लेना है, और न माल लेने वाले को देना ही है। क्रय और विक्रय, दोनो मे ही धन का काम नही है।

गुरु-दक्षिणा कैसी ?

पर हाँ, आप यह भी न समझे कि सत आपसे अपने माल के बदले मे किसी भी बात की अपेक्षा ही नही रखते। सन्त भी चाहते है, पर वह क्या वस्तु है ? केवल आपकी उत्तम भावनाएँ ! आपकी भावनाएँ दिन-प्रति दिन निर्मल और उच्च बनती जाएँ, सन्तो के लिए बस यही सतोष की बात होती है। उन्हे न वतन की आकाक्षा रहती है, और न ही गुरुदक्षिणा की। बिना कुछ लिए निस्वार्थ भाव से प्राणियो की कल्याण कामना रखते हुए वे ज्ञान दान देते है। जिस प्रकार मूर्तिकार पत्थर को हथौडे मार-मार कर प्रतिमा का रूप देता है उसी प्रकार सन्त अज्ञानी प्राणी को पुन-पुन चेतावनी देकर उसकी आत्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है।

पत्थर, प्रतिमा और पूजा

समझाने के लिए एक उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। एक मन्दिर मे बडी भव्य प्रतिमा थी। प्रतिदिन प्रात-साय सैकडो भक्त आकर उसके चरणो मे फल, फूल, नैवेद्य आदि चढाया करते थे तथा प्रतिमा के सामने ही खडे हुए एक खभे से टिककर बैठते और प्रार्थना किया करते थे। यह सब देखकर खभे को बडा दुख होता था। पर करता क्या ? क्रोध से जल-भुनकर रह जाता। आखिर एक दिन दोपहर को जब मन्दिर सुनसान था, खभा प्रतिमा से बोला—

"यह क्या बात है ? आखिर हम दोनो एक ही खान से तो निकले है। फिर भी सैकडो व्यक्ति आकर तुम्हारे चरणो मे मस्तक झुकाते है, चढावा चढाते हैं और तुम्हारी पूजा करते है। मेरी ओर कोई दृष्टिपात भी नही करता, उलटे मेरी ओर पीठ करके मुझसे टिककर बैठते है। यह मुझसे सहन नही होता।"

खभे की बात सुनकर प्रतिमा मुस्कराई और दयार्द्र होकर बोली—भाई ! तुम्हारा कथन सर्वथा सत्य है। हम दोनो का जन्म स्थान एक ही है और दोनों के शरीर का निर्माण भी एक सा ही हुआ है। किन्तु आज जो अन्तर तुम हमारे बीच

देख रहे हो तथा मेरी पूजा होती देखकर दुख का अनुभव कर रहे हो उसका कारण सिर्फ यही है कि मेरे हितैषी मूर्तिकार ने हथौड़े की असख्य चोटे मुझ पर की हैं। नाना प्रकार से मुझे तराशा है और मेरे एक-एक अग को टाँची मार-मारकर सुधारने का प्रयत्न किया है। मैंने वे सब चोटें हँसते हुए सहन की, कभी विरोध नहीं किया, एक आह तक जबान से नही निकाली। बस इसी का परिणाम है कि आज मैं पूजा के योग्य बनी हूँ।"

वस्तुत जिस प्रकार प्रतिमा मूर्तिकार के द्वारा गढी जाती है, ठीक उसी प्रकार मानव अपने गुरु के द्वारा गढा जाता है। और तभी वह अपनी आत्मा को शुद्ध बनाता हुआ एक दिन परमात्म-पद को भी प्राप्त कर जगतपूज्य बन सकता है। कहा भी है —

गुरु कारीगर सारिखा टाँची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा करे, पूजा लहै अपार॥

बन्धुओ, इसीलिये मैं बार-बार आपको चेतावनी देता हूँ, आग्रह करता हूँ कि इस पारमार्थिक दुकान से आप बिना कुछ मूल्य दिये अमूल्य वस्तुएँ अधिक से अधिक मात्रा मे ले। आपकी दुकानो की वस्तुएँ तो जीर्ण होने वाली है, सड़ने वाली है और नष्ट हो जाने वाली हैं। किन्तु हमारी दुकान म जो पारमार्थिक वस्तुएँ है, वे कभी खराब होन वाली नही है, नष्ट होने वाली या विकृत होने वाली नही है। अगर आप य वस्तुएँ अपने पल्ले मे बाँध लेगे तो आपका निश्चय ही कल्याण होगा।

भाग्यहीन को ना मिले

वैसे यह सही है कि भाग्य के बिना कोई भी व्यक्ति, चाहे वस्तु बिना मोल दिये ही मिल रही हो, प्राप्त नही कर सकता—

सचिता सारखे पडे त्याच्या हाता।
फारसे मागता तरी नये॥३॥

अर्थात् जितना भाग्य मे होगा उसके अनुसार ही माल पल्ले पडेगा। माँगने से भी अधिक मिलना सभव नही है।

आप सुनते है और पढते भी है कि तीर्थंकर महाराज वर्षीदान करते है। एक दिन म एक करोड व आठ लाख सोनैयो का दान किया जाता है। जिन तीर्थंकरो की सेवा मे देव रहते हो उन्हे क्या अभाव ? अनन्त पुण्यवानी के अधिकारी तीर्थंकर बिना भेद-भाव के दान करते ह किन्तु जिनके पल्ले मे पुण्य नहीं है, वे दान लेकर निकलते भी हैं तो वह उनके पास नही रहता। उनके कर्म ही उस लाभ से उन्हे वचित कर देते है। मराठी म कहावत है —

देव देतो आणि कर्म नेतो।

—देवता देता है, पर कर्म वापिस ले जाता है।

किन्तु इससे मानव को निराश नही होना चाहिये वरन् सतत् पुरुषार्थरत बने रहना चाहिये। पुरुषार्थी पुरुष धीरे-धीरे अपने भाग्य को भी बदल लेता है। दूसरे शब्दो मे—

एव पुरुषकारेण बिना दैव न सिद्ध्यति ।

बिना प्रयत्न और पुरुषार्थ के भाग्य फलता-फूलता नही है।

उद्योग पुरुष-लक्षणम

इसलिये बन्धुओ! भाग्य के भरोसे न बैठकर आपको सतत प्रयत्न करना है। बिना विलम्ब किये हमारी इस दुकान से प्रतिदिन कुछ न कुछ माल पल्ले बाँधना है। जितना भी अधिक आप इसे ग्रहण करेंगे, आपकी आत्मा को सुख व शाति का अनुभव होगा। निरन्तर प्रयत्न करने पर असभव भी सभव बन जाता है। आवश्यकता सिर्फ यही है कि मनुष्य मुसीबतो मे हार न माने तथा प्रत्येक बाधाओ से जूझता रहे। किसी कवि ने भी मानव को प्रेरणा दी है —

बात की बात में विश्वास बदल जाता है,
रात ही रात मे इतिहास बदल जाता है।
तू मुसीबतो से न घबरा अरे इन्सान!
धरा की क्या कहूँ आकाश बदल जाता है।

यह सब कैसे हो सकता है? मनुष्य के निरन्तर श्रम व पुरुषार्थ से। सच्ची लगन और दृढ आस्था से। आपको भी साहसपूर्वक आगे बढना है। आठ के अक से निकलकर नौ के अक मे प्रवेश करना है। तथा किस दुकान से माल लेने मे आपको हानि होती है और किस दुकान से माल क्रय करने मे लाभ हासिल होता है इसका लेखा-जोखा करते हुए स्वय ही निर्णय करना है कि कौनसी वस्तुएँ अर्थात् कौनसे साधन आपके साधना पथ को प्रशस्त बना सकते है? अगर आपका निर्णय हमारे पक्ष मे होता है, हमारी दुकान का माल आपको अपनी आत्मा के लिये हितकर मालूम होता है तो निश्चय ही आपकी आत्मा एक दिन परमात्मा-पद को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकती है। तथा अक्षय और अनन्त सुख की अधिकारिणी बन सकती है।

☆

८

बहुपुण्य केरा पुँज थी

शास्त्रीय वर्णन मे रायप्रसेणी सूत्र के अन्दर सूर्याभ देवता का वर्णन चल रहा है। सूर्याभ देवता की सेवा मे हजारो देव रहते है। एक देवता की कृपा जहाँ मुश्किल है, वहाँ हजारो देवता सेवा करे, इसका क्या कारण है? कारण है उनके पुण्य।

एक साहूकार के हाथ के नीचे पच्चीसो गुमास्ते काम करते हैं, तथा अन्य सैंकडो व्यक्ति भी काम मे रहते है। उस साहूकार के पास सैकडो व्यक्ति क्यो आते हैं? क्योंकि उसके पास पुण्यो का सचय है। करामात पुण्यवानी की होती है। इसके विषय मे कहा गया है—

वश्यतां नयति पूर्वभवात्त, पुण्यमेव भुवनानि किमन्यत् ?"

पुण्य के विषय मे अधिक क्या कहे? पूर्व-जन्म के सचित पुण्य ही तीनो लोक को वशवर्ती अथवा आज्ञानुवर्ती बना देते है।

पुण्य के प्रभाव से ही मानव-जन्म मिलता है, पुण्य के बल पर ही उच्च कुल मे जन्म और पाँचो इन्द्रियाँ परिपूर्ण मिलती है। अन्यथा तो हम देखते ही है—

मानव भव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते हैं,
विविध व्याधियो के वश होकर अगणित नर रोते हैं।
अगोपांग विकल हो अथवा पागल होकर अपना—
जीवन हाय बिताते, कब हो पूरा मन का सपना।

इस ससार मे पुण्यहीनो की कमी नही है। कोई आँखो से अन्धा है, कोई कानो से बहरा है, कोई जबान से गूँगा है और कोई हाथ या पैर से अपग है। मानव-जीवन पाकर भी अनेक प्रकार के दुख और व्याधियाँ पुण्य के अभाव मे ही सताती है। इसी से यह ज्ञान होता है कि महान पुण्य कर्मो के उदय से ही मनुष्य जीवन के साथ-साथ आर्य क्षेत्र, उच्चकुल, तथा परिपूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त हो सकती है। पुण्य के कारण ही ससार मे मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति और सन्त समागम भी मिलता है। जिसके द्वारा

मनुष्य अपनी बुद्धि और ज्ञान को परिष्कृत करके तथा विवेक को जागृत करके कर्मों की निर्जरा करता हुआ आत्मा के उत्थान का प्रयास कर सकता है।

प्रेरणा का स्रोत सदुपदेश

मानव की आत्म-चेतना की जागृति और विकास मे सदुपदेशो का महान प्रभाव होता है। उपदेश के द्वारा पतित से पतित और विमूढ आत्माओ मे भी आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो जाता है, ऐसे अनेक उदाहरण हम देखते है। भगवान महावीर के समय मे रोहिणेय नामक एक बडा भारी चोर था। उसका पिता मरते समय रोहिणेय से वचन ले गया था कि "महावीर का उपदेश कभी नही सुनना।" पिता जानता था कि एक बार भी अगर यह उपदेश सुन लेगा तो इस पाप मार्ग को छोड देगा।

रोहिणेय ने जीवन मे इस बात का पूरा ध्यान रखा। जिस स्थान पर भगवान ठहरते, वह उधर फटकता तक नही था। किन्तु एक बार विवश होकर उसे प्रभु के समवशरण के निकट से गुजरना पडा। भगवान का प्रवचन चल रहा था अत उसने अपने दोनो कानो मे अगुलियाँ डाल ली और भागने लगा।

सयोगवश उसी समय उसके पैर मे काँटा चुभ गया। ज्योही वह काटा निकालने के लिए झुका, भगवान के तीन वाक्य उसके कानो मे पड ही गये—"देवो की आँख टिमटिमाती नही, गले की फूलमाला कुम्हलाती नही तथा वे भूमि से ऊँचे रहते है।" उपदेश के ये वचन सुन लेने से रोहिणेय को दुख जरूर हुआ किन्तु वह इन बातो को भूला नही।

एक बार वह पकडा गया और उसे राजा श्रेणिक के सम्मुख लाया गया। पर बार-बार पूछने पर भी उसने अपराध स्वीकार नही किया। श्रेणिक का मन्त्री अभय-कुमार बडा चतुर था। उसने अपराध स्वीकार कराने के लिए प्रपच रचा। पहले तो रोहिणेय को क्षमा करके मुक्त कर दिया, फिर खब सत्कार सहित ऐसा भोजन कराया जिससे वह बेभान हो गया। तत्पश्चात् उसे दिव्य वेश पहना कर दिव्य सामग्री से सुसज्जित भवन मे सुला दिया। मूर्छा टूटने पर चोर ने अपने को मानो दिव्यलोक मे पाया। देखा कि अप्सराएँ नृत्य कर रही है तथा कह रही है—"महाभाग! अपने महान पुण्य के प्रभाव से आप देवलोक मे पधारे है कहिए पूर्वभव मे आपने क्या सुकृत किये थे?

रोहिणिया को वास्तव मे ही अपने देव बन जाने का भ्रम हुआ और वह पूर्वजन्म मे चोरी आदि की बाते कहने जा ही रहा था कि उसे भगवान महावीर के उपदेश की तीनो बातें स्मरण हो आई। देवताओ के लिए कही गई उन तीनो बातो मे से एक भी उसके सामने रहे हुए देवी देवताओ मे न मिलने से वह समझ गया कि यह देवलोक झूठा है। और यह सब अभयकुमार का जाल है। अत उसने चोरी की

बात सत्य कहने के बजाय दान-पुण्य आदि की बातें गढ़कर कह दी। परिणामस्वरूप उसे मुक्त कर दिया गया।

किन्तु इससे रोहिणिया का जीवन बदल गया। उसने सोचा—"प्रभु के मात्र तीन वाक्यो से ही मैं मृत्यु-दण्ड से बच गया। तीन वाक्य ही जब इतने कल्याणकारी है तो उनका सम्पूर्ण उपदेश कितना मगलमय और लाभकारी होगा।"

उसी समय रोहिणिया ने चोरी के अपने वश-परम्परागत पेशे को छोड दिया और भगवान महावीर की शरण म जाकर दीक्षित हो गया।

ऐसा होता है उपदेश का प्रभाव। उपदेश के द्वारा आत्मा जागृत हो जाती है।

चोर अगुलिमाल की आत्मा भी एक दिन इसी प्रकार जागृत हुई थी। उसने भगवान बुद्ध को घोर जगल मे स गुजरते हुए देखा तो कडककर कहा—"ठहर जा!"

बुद्धि ने शाति से उत्तर दिया—"मैं तो ठहरा हुआ ही हूँ भाई! तुम ठहर जाओ!"

अगुलिमाल यह देखकर चकराया कि साधु चलत-चलत कह रहा है—'मैं ठहरा हुआ हूँ!' और मैं जो एक स्थान पर खडा हूँ, कहता है ठहर जाओ।' अत्यन्त विस्मय मे पड जाने के कारण उसने बुद्ध मे उनके शब्दो का अर्थ पूछा।

बुद्ध ने शाति से उत्तर दिया—"बन्धु! मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि मैं तो अपनी आत्मा मे ठहरा हुआ हूँ। अर्थात् अपन आत्मगत शुभ भावो मे स्थित हूँ। और तुमसे भी यही कह रहा हूँ।'

भगवान बुद्ध की बात सुनकर प्रतिदिन अनको व्यक्तियो के खून से हाथ रगने वाले तथा उनकी अँगुलियो की माला बनाकर पहनने वाले क्रूर अगुलिमाल का हृदय परिवर्तित हो गया। और उसन अपना जघन्य पेशा छोडकर आत्म-कल्याण के मार्ग को अपना लिया।

सन्त-महात्मा इसी प्रकार अपन सदुपदेशो से अज्ञानी व्यक्तियो की आत्मा को जागृत करते हैं। लम्बे प्रमाद अथवा अज्ञान के कारण अगर उपदेशो का तात्कालिक प्रभाव नही भी पडता है तब भी उनका बीज शुभ विचारो के जल से निरन्तर अभिसिंचित होता हुआ एक-न-एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण कर ही लेता है।

यह सब होना है ससार से उदासीन सन्तो के उपदेशो से और सन्तो का समागम मिलता है अतुल पुण्य के उदय से। इसलिए अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाले प्राणी को सद्गुण की खोज करके पूर्ण श्रद्धा, अखड भक्ति और विनय के साथ ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। जीवन मे गुरु का स्थान अत्यन्त उच्च, महत्त्वपूर्ण और पूज्य है। हम अपने चर्म-चक्षुओ से इस ससार को तो देखते ही हैं, किन्तु जीवन और जगत का ज्ञान हमे जिन ज्ञान रूपी नेत्रो से होता है, उन ज्ञान-नेत्रो को खोलने वाले गुरु ही होते है। कहा भी है—

"अज्ञान - तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया,
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्री गुरुवे नम ।"

—अज्ञान के तिमिर से अन्ध बने हुए चक्षुओ को ज्ञानाञ्जन की शलाका से जो उन्मीलित कर देते हैं—वे गुरु सदैव नमस्कार के योग्य है ।

पुण्य और पाप की करामात

ससार म दो ही चीजे है । पुण्य और पाप । पुण्य का सचय होने से मनुष्य को प्रत्येक प्रकार के उत्तम सयोग मिलते है तथा पापो का उदय होने से उत्तम सयोग भी बदलकर दुखदायी बन जाते है । इस विषय म एक गुजराती कवि का कथन है—

जगत मां पुण्य थी चढ़ती, जगत मां पाप थी पडती ।
चहेते पुण्य थी मलतु, चहेते पाप थी टलतु ।।
जगत मां पुण्य थी लीला, जगत मां पाप थी खीला ।
बुद्धयब्धि पुण्य मा रहेवु सदा सुख शास्वत सहेवु ।।

कवि बुद्धिसागर जी महाराज का कथन है कि पल्ले म पुण्य है तो दिन व दिन चढती होती है और पाप का उदय होता है तो चढा भी गिर जाता है ।

यादव वश, जिस वश का नाम लेन मे भी लोग डरत थे, जिसम बलभद्र के अवतार बलराम जी और वासुदेव के अवतार श्रीकृष्ण जी हुए । जिस वश मे तीर्थंकर नेमिनाथ जी जैसे अवतारी पुरुष और रुक्मिणी तथा सत्यभामा जैसी महासतियाँ हुईं । क्या उस वश का पुण्य कम था ? नही, असीम पुण्य था उसके पल्ले मे । किन्तु जब पुण्यवानी क्षीण हो गई तो उसी कुल के लडके द्वैपायन ऋषि को सताने की तैयारी करन लगे । परिणाम यह हुआ कि अत म द्वारिका नष्ट हो गई ।

जिस द्वारिका नगरी का निर्माण देवताओ ने किया था, उसे ही पाप का उदय होने पर देवताओ के द्वारा जल जाना पडा । किसी ने कहा है —

"अत्युग्र पुण्यपापानां इहैवफलमश्नुते ।'

—तीव्रातितीव्र पुण्य एव पाप का फल यहाँ पर ही मिल जाया करता है ।

पुण्य के प्रभाव से हृदय की समस्त अभिलाषाएँ पूण होती है, बिगडते हुए काय बन जाते है । किन्तु पाप का उदय होने पर बनते हुए कार्य भी बिगड जाते है और कोई भी तमन्ना पूरी नही हो पाती । पुण्यवान को अनायास ही धन-वैभव तथा यश-कीर्ति प्राप्त होती है, किन्तु पुण्यहीन को अच्छे काय करने पर भी किसी न किसी बहाने निन्दा का पात्र बनना पडता है ।

कवि ने आगे कहा है "जगत मा पुण्य थी लीला, जगत मा पाप थी खीला ।" अर्थात् जिसके पास पुण्य का सचय है, वह जहाँ भी जाता है, लीला-लहर हो जाती है, उसे चारो ओर से आनन्द की प्राप्ति होती है । पर क्षीण पुण्यवाले प्राणी को, वह जहाँ भी जाय निंदा, अपयश, तिरस्कार एव कटु-वचनो के कीले चुभते है । उसके

लिए प्रत्येक मार्ग काँटो का बन जाता है। पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषिजी महाराज ने भी पुण्य और पाप के अन्तर को बडे सुन्दर ढग से बताया है। कहा है —

> **पुण्य ते आदर पाप अनादर,**
> **पाप जो पत्थर पुण्य जहाजो।**
> **पुण्य थी लोग नमे कर जोडने,**
> **ये घर आपका ऊचे विराजो।**
> **पाप उदे कहे काहे तू श्वान ज्यों-**
> **घर-घर डोलत नेक न लाजो ?**
> **पुण्य तिलोक मिले सुख सपति,**
> **पुण्य ही से मिले आदर ताजो।**

महाराज श्री ने पुण्य और पाप के अन्तर को स्पष्ट समझा दिया है। ज्ञानी, अनुभवी वैराग्य-सम्पन्न एव प्रौढ कवि के शब्दो म चमत्कारिक शक्ति है। आपके कथनानुसार पुण्य क्या है ?—इस विषय म कहा है कि कही भी जाने पर अगर तुम्हारा आदर व सम्मान होता है, तुम्हे देखकर लोग प्रसन्न हो उठते हैं, आनन्द का वातावरण चारो ओर फैल जाता है तो समझो कि यह सब तुम्हारे पुण्य का प्रताप है। अपने परिवार मे, इष्ट-मित्रो के बीच म, सघ, समुदाय और समाज मे अपने पुण्य के कारण ही तुम्हे इज्जत प्राप्त होती है।

इसके विपरीत कही पहुचने पर अगर कोई अनादर करे, वहाँ के व्यक्तियो के द्वारा उपेक्षा और असम्मान का भाव जाहिर किया जाए तो समझना चाहिए कि तुम्हारे पापो का उदय है। ऐसे समय मे अन्य की तो बात ही क्या है ? सगे भाइयो के द्वारा भी स्नेह प्राप्त नही होता। कभी-कभी तो जन्म देने वाली माता भी झिडक देती है—"चला जा यहाँ से ! खाने के लिए आ गया ? किस काम का है तू ? पत्थर होता तो नीव भरने मे काम आता।"

माता के द्वारा भी ऐसे शब्द क्यो सुनने पडते है ? सिर्फ इसलिए कि पोते मे पुण्य नही है। पापो का उदय है। पाप पत्थर के समान है जिनके कारण आत्मा ससार-सागर मे डूबी रहती है। और पुण्य जहाज के समान है, जिनका आधार लेकर भव-सागर को पार किया जा सकता है।

पद्य मे आगे और भी स्पष्टीकरण किया गया है कि पुण्य जिसके प्रबल होते हैं, वह जहाँ कही भी जाता है लोग हाथ-जोड तैयार मिलते हे। कभी जिन्दगी मे जिसे देखा नही, केवल नाम और गुण ही सुने उसके मिलने पर भी व्यक्ति सम्मान सहित नमस्कार करते है, उच्चासन प्रदान करते है तथा बात-बात मे 'आपकी कृपा है। आपकी दया से आनन्द है।' आदि-आदि प्रिय वाक्य कहकर अतिथि को प्रसन्न करते है।

किन्तु जिसके पास पुण्यो का अभाव होता है, उसके द्वार पर आ जाने पर

स्वागत-सत्कार तो दूर, मीठे दो शब्द मिलना भी दुर्लभ हो जाता है। उलटे सुनने को मिलता है—'क्यो इधर-उधर कुत्ते के नाईं भटकते हो ? लज्जा नही आती क्या ?

स्पष्ट है कि आदर-सम्मान यश-कीर्ति सभी पुण्य के योग से ही प्राप्त हो सकते है—

"यशः पुण्यैरवाप्यते।'

परिश्रम कम, लाभ अधिक

पुण्यवान पुरुष थोड़ा कार्य करके भी यश का उपार्जन अधिक कर लेता है। गिरधर कवि ने अपनी एक रचना में इसे उदाहरण सहित स्पष्ट किया है —

साई एकै गिरिधर्यो, गिरिधर गिरिधर होय,
हनुमान बहु गिरि धरे, गिरिधर कहे न कोय।
गिरिधर कहे न कोय हनु द्रोणागिरि लायो,
ताको किनका टूट पड़्यो सो कृष्ण उठायो।
कहे गिरधर कविराय, बडेन की बडी बडाई,
थोडे ही यश होय, यशी पुरुषन को साई।

श्रीकृष्ण ने एक बार कनिष्ठ अगुलि पर पर्वत उठाया तो ससार उन्हे गिरधारी कहने लगा और हनुमान अनेको बार पर्वत उठाकर भी गिरधारी नही कहला सके। आश्चर्य होता है कि बहुत बार पर्वत उठाने पर भी गिरिधारी की पदवी नही मिली और एक बार पहाड उठाकर भी गिरिधर कहला गए। इसका क्या कारण है ? केवल पुण्यवानी का सचय ही तो है। अन्यथा जिस द्रोणगिरि पर्वत को हनुमान ने उठाया और उसके गिरे हुए केवल एक टुकड़े को श्रीकृष्ण ने उठाया था वे कैसे गिरधर कहलाये ? पूरा पर्वत उठाने वाला गिरधर नही कहला सका और उसी का एक टुकडा धारण करने वाला गिरधर हो गया।

कवि का कथन है कि बडो की अर्थात पुण्यवानो की बडाई बहुत जल्दी हो जाती है। थोडा कार्य करके भी वे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते है। अत अब करना क्या है, यही हमारे लिए विचारणीय है।

जीवन का उद्देश्य

पुण्य और पाप के परिणामो को देखते हुए अब हमे यही चाहिए कि हम जीवन को गम्भीरता से समझते हुए अपने मानव-पर्याय को सफल बनाने का प्रयत्न करें। तथा अपना एक लक्ष्य बनाकर उस ओर चलने का प्रयास करे। यह तो आप समझ ही गए होंगे कि इस दु खमय ससार मे पुण्य के बिना कोई भी सुयोग और कोई भी उत्तम साधन नही मिलता, जिसके द्वारा हम आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल सकें। कहा भी गया है—

"पुण्य विना याति दुरन्त दु ख
ससारकान्तारमलभ्यपारम्।" —सुभाषित रत्न-सन्दोह

जो घोर एव विकट दुखो से परिपूर्ण है तथा जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे ससार रूप जगल से बिना पुण्य के छुटकारा नही हो सकता है।

इसलिये बधुओ, पुण्य-कर्मों की ओर ध्यान देते हुए आपको साधना-पथ पर बढना है। पुण्य-बल के कारण ही आपको जैनकुल, सत्त-समागम और शास्त्र-श्रवण का अवसर मिलता है। ऐसे उत्तम सयोग पाकर भी अगर यह मानव-जन्म सार्थक नही बनाया जा सके तो इससे अधिक पुण्य-हीनता और क्या होगी।

प्रश्न उठता है कि जीवन का ध्येय क्या होना चाहिए ? अगर हम ससार की वास्तविकता पर विचार करें तो यही उत्तर मिलता है कि जीवन का ध्येय इस जीवन से मुक्ति प्राप्त करना ही है। जीवन क्षणभगुर है। अभी है और क्षण भर बाद रहेगा या नही, यह कोई निश्चित नही कह सकता। अत प्रत्येक अवस्था मे मनुष्य को स्मरण रखना चाहिये—

उच्छ्वासो के मिस से प्रतिपल प्राण भागते जाते,
बादल की-सी छाया काया पाकर क्यो इठलाते ?
कौन सदा रख सका इन्हे फिर क्या मै ही रख लूंगा ?
पा, यम का सकेत तनिक सा मै प्रस्थान करूंगा।

ससार के बडे-बडे धनी मानी, ऐश्वर्यवान और कीर्तिमान पुरुष भी यम का दूत आने पर एक पल के लिए भी अपना जीवन अधिक नही रख सके। रावण जैसे प्रतापी, भीम और अर्जुन जैसे शूरवीर, सहस्रार्जुन सरीखे धरती को अपने हाथो पर तौलने वाले योद्धा, सभी काल-कवलित हो गए। तब फिर आज का मानव किस बात पर अहकार कर सकता है ? आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु नष्ट होने वाली है। अगर यह ज्ञान प्रत्येक मनुष्य कर लेता है तथा आत्मा के साथ क्या चलने वाला है, यह समझ लेता है तो उसका जीवन स्वय ही त्याग और साधना की ओर बढ चलता है।

हमारा भारतवर्ष, भरत-क्षेत्र प्रारम्भ से ही ऋषिमुनियो का और महापुरुषो का देश रहा है। उनका जीवन ससार के लिये आज भी आदर्श बना हुआ है। क्या कारण है इसका ? यही कि उनमे त्याग की भावना प्रधान थी। ससार के सभी सुख उपलब्ध होते हुए भी उन्होने सबको ठोकर मारकर आत्म-कल्याण को अपना उद्देश्य मान लिया।

भगवान महावीर राजकुमार थे। उनके पास कौन-सा सुख नही था ? समस्त भौतिक उपलब्धियाँ उन्हे प्राप्त थी। किन्तु उस समस्त वैभव और सुख को नफरत की ठोकर मारकर निर्ग्रन्थ मुनि बन गए।

बुद्ध भी भगवान महावीर के समान राजपुत्र थे। धन, धान्य, यौवन, राज्य और भी सुख के समस्त साधन उनके चारो ओर बिखरे हुए थे। किन्तु किसी भी

सासारिक वस्तु और सासारिक सबधो का मोह उन्हे बाँध नही सका । सबका त्याग करके वे भी मुक्ति की अभिलाषा लिये हुए कल्याण-मार्ग पर अग्रसर हो गए ।

ऐसा क्यो ? इसलिए कि उन्होने भली-भाँति जान लिया था—सासारिक पदार्थों से और भौतिक समृद्धि से कभी सच्चा सुख हासिल नही हो सकता । सग्रह और परिग्रह लोभ को बढाते है । सारे ससार की समृद्धि भी यदि एकत्र करली जाय, तब भी लोभी को सन्तोष नही होता । हमारे शास्त्र कहते है—

सुवण्ण रुवस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असखया ।
नरस्स लुद्धस्स ण तेहि किंचि,
इच्छा हु अगाससमा अणतिया ।

—उत्तराध्ययन सूत्र

यदि कैलाश पर्वत के समान सोने और चाँदी के असख्य पर्वत भी हो जायँ तो भी मनुष्य को सन्तोष नही होता । क्योकि इच्छा तो आकाश की तरह अनन्त है ।

इसीलिए हम उन महान आत्माओ की पूजा करते है जो इच्छाओ से रहित बने, और जिन्होने वीतराग होकर अपनी आत्मा का कल्याण किया । अपना सर्वस्व त्यागकर, और अन्त मे प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हमारे देश के अनेक महापुरुषो ने अपने प्राणो का बलिदान कर दिया । हमारा दर्शन और हमारी सस्कृति यही कहती है कि 'अगर तुम सच्चा सुख चाहते हो तो जो कुछ भी तुम्हारे पास है, सब अन्य को अर्पण करदो, आवश्यकता हो तो शरीर भी अर्पण कर दो ।

ऐसे आदर्श उपस्थित करने वाली अनेक आत्माएँ हमारे देश की धरती पर उत्पन्न होती रही है । दधिचि ने देवताओ की तथा सत्य और धर्म की रक्षा के लिये अपनी देह की हड्डियाँ ही वज्र बनाने के लिये दे डाली । राजा शिवि ने एक कबूतर की प्राणरक्षा के लिये अपने हाथ पैर काटते हुए, समस्त शरीर को ही तुलापर चढा दिया । महादानी कर्ण ने अपनी प्राणरक्षा के लिये अनिवार्य कवच और कुण्डल ब्राह्मण के रूप मे आए हुए इन्द्र को दे दिए । गाँधीजी को गोली मार दी गई, ईसामसीह को सूली पर चढाया गया और सुकरात को विष-पान कराया गया ।

देश और धर्म के लिए बलिदान होने वालो के नामो की गिनती नही की जा सकती । शरीर का भी त्याग कर त्याग का आदर्श उपस्थित करने वाली वे महान् आत्माएँ थी । आज भी ससार मे ऐसे महापुरुषो की कमी नही है जो भोग को छोडकर त्याग को अपनाते है ।

बधुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि अनन्त जन्मो के पुण्यो के परिणाम-स्वरूप हमे जो मानव-पर्याय मिली है, उसे अब व्यर्थ नही खोना है । अगर हम अपनी आत्मा के सहज-शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना चाहते है, तो हमे त्याग-मार्ग पर चलना होगा । अगर हमे उस अव्याबाध और अनन्त सुख की कामना है तो वह भोगो मे

लिप्त रहकर पाप-कर्मों का बन्धन करते हुए नही मिल सकता। अगर सासारिक भोगो को भोगते हुए ही आत्मा का कल्याण हो सकता होता, तो अनेक अवतारी महापुरुष और तीर्थंकर ससार से उदासीन होकर त्याग के पथ पर क्यो चलते ? कहा भी है—

होता यदि ससार सुखो का धाम त्याग क्यो करते,
तीर्थङ्कर चक्री क्यो जाकर वन में कहो विचरते ?
जाग जाग हे ज्योतिपुञ्ज ! अवसर बीता जाता है,
जो क्षण गया, गया सदैव को फिर न हाथ आता है।

बीता हुआ समय पुन लौटकर नही आता इसलिए कवि ने चेतन को चेतावनी दी है कि 'अब तू जाग जा !' कच्ची मिट्टी के घडे मे पानी अधिक समय तक नही ठहर सकता। तनिक से धक्के से ही घडा फूट जाता है। इसी प्रकार यह मानव शरीर है तथा आयुष्य इस तन-रूपी कच्चे घडे मे भरे हुए पानी के समान है, जो किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। अत इसके लिए अभिमान करना तथा इसी की सार-सम्भाल मे अपना अमूल्य समय नष्ट करना वृथा है। न तो यह यहीं पर स्थायी रहता है, और न आत्मा के साथ ही चलता है। ऊपर से सुन्दर मालूम होते हुए भी अन्दर से केवल अशुचि का भडार मात्र ही है। कवि सुन्दरदास जी ने शरीर की वास्तविकता का चित्र खीचते हुए, शरीर पर अत्यन्त ममत्व रखने वालो की भर्त्सना करते हुए कहा है—

जो शरीर माहि तू अनेक सुख मानी रह्यो,
ताही तू विचार या मे कौन बात भली है ?
मेद मज्जा मास रग-रग मे रगत भर्यो,
पेट हू पिटारी सी मे ठौर ठौर मली है।
हाडन सूं भर्यो मुख हाडन के नैन नाक,
हाथ पांव सोउ सब हाडन की नली है।
सुन्दर कहत याही देखी जन्म भूले कोई,
भीतर भडार भरी ऊपर तो कली है।

साराश यही है कि सप्त धातुओ से निर्मित यह शरीर ऊपर चमडे से मढा हुआ है, और सुन्दर नजर आता है किन्तु अन्दर तो इसम सिवाय अशुचि के कुछ भी नही है। इसलिए इसको पुष्ट करने और अहर्निश इसकी सार-सम्भाल करते हुए इसे जीवन का लक्ष्य मान लेना महा अज्ञान का लक्षण है। शरीर को धर्म-साधना का सहायक मात्र मानना चाहिये। कहा भी है—

'शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्।'

—धर्म की साधना करने के लिए शरीर ही माध्यम है।

जिस प्रकार मक्खन से घी निकालने के लिये उसे किसी पात्र मे डालकर ही आँच पर रखा जाता है, तथा छाछ को नष्ट करके शुद्ध घी बनाया जाता है। उसी

प्रकार तप की अग्नि पर शरीर-रूपी पात्र मे मिथ्यात्व एव कषाय आदि से अशुद्ध आत्मा को तपाया जाता है, ताकि वह विशुद्ध और निर्मल बन सके । शरीर के अभाव म यह सभव नही होता । एक बात और भी ध्यान मे रखने की है कि आत्मा को निर्दोष एव निष्कलुष बनाने के लिये एकमात्र मानव-शरीर ही उपयुक्त है । अर्थात् इस मानव-भव मे ही आत्मा को मुक्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है, अन्य किसी भी योनि म यह कार्य सभव नही होता । इसीलिये तो देवता भी मनुष्य-जन्म पाने के लिये तरसते है । कहा भी है -

जगत जलधि से पार उतरने को शरीर नौका है,
मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है ।

बधुओ । अगर हम शाश्वत सुख पाने की कामना है, तो इस मानव-जन्म का सदुपयोग करना होगा । यह ध्यान रखना होगा कि अनन्त पुण्य क सग्रह से जो मनुष्य पर्याय मिली है, इसका एक क्षण भी व्यर्थ न चला जाए । आप सत दर्शन करते है, सत-समागम करते हैं और उनके उपदेश भी सुनते हैं । किन्तु वे उपदेश आप सचाई मे हृदयगम भी करते हे या नही ? वे उपदेश आपको सत्पथ दिखाते है या नहीं ? इसका निर्णय आपको स्वय ही करना है ।

चौधरी ने महाभारत सुना

किसी गाव म एक महात्मा न महाभारत की कथा पढी । कथा समाप्त होन पर जब व गाँव से चलन लग तो वहाँ के चौधरी स पूछा—"क्यो भाई ! कथा म रस आया या नही ?"

चौधरी न हाथ जोडकर उत्तर दिया— 'बडा रस आया महाराज ! बडी अच्छी शिक्षा मिली । पर बहुत दर हो गई, आप अगर कुछ दिन पहले आकर यह कथा सुना देते तो बडा ही अच्छा रहता ।"

महात्मा जी ने तनिक आश्चर्य से कहा—"कथा सुनने म दर हुई तो क्या हुआ ? इस तो जब भी सुना जाय तभी लाभ है ।"

"नही भगवन्, अब क्या लाभ है मुझ ? मै तो कुछ महीन पहल जुए मे सब कुछ हार गया था । कुछ भी दाव पर लगाने को नही था । अगर उसस पहले आपने यहाँ कथा पढी होती तो मैं भी चौधराइन को युधिष्ठिर के समान दाव पर लगा देता । बताइये, अब वह लाभ मुझे कैसे मिल सकता है ?'

चौधरी जब यह बाते महात्मा जी से कह रहा था, चौधराइन उसके पास ही खडी थी । पति की बाते सुनकर वह क्रोधित हो उठी और बोली— महात्मा जी ! मुझे भी कथा सुनने मे देर हो गई । अगर आपने कुछ दिन पहले यह कथा बाँची होती तो मैं भी इस राक्षस के साथ क्यो जिन्दगी बर्बाद करती । द्रौपदी के जैसे और भी पति कर लेती तथा सती कहलाने लगती ।"

बेचारे महात्मा जी अपने कथा-वाचन का ऐसा सुन्दर परिणाम देखकर चुप-चाप वहाँ से चल दिये।

तो भाइयो ! आपको उपदेश इस प्रकार नही सुनने है। बल्कि उपदेशो के द्वारा अपनी आत्म-चेतना को जगाना है। जन्म-जन्मान्तरो से हृदय मे घर किये हुए अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह और माया आदि के पटलो को हटाना है। तभी हमारी पुण्य-वानी का लाभ हम उठा सकेंगे। पूर्वजन्मो मे जिन पुण्यो का हमने सचय किया, उनके परिणामस्वरूप तो इस जन्म मे जैसा कि मैंने अभी बताया था, आर्यक्षेत्र, उच्च कुल, जैन जाति तथा सत-समागम आदि अनेक सुन्दर सुयोग मिले हैं। किन्तु पुण्य की उस पूँजी को अगर हम इसी जन्म म समाप्त कर देंगे और बढायेंगे नही तो आगे काम कैसे चलेगा।

इसलिये, हमे पूर्ण दृढता, आस्था और विश्वास के साथ अपने धर्ममय जीवन को उत्तरोत्तर विकास की ओर ले जाना है ताकि अन्त मे, यह कहकर पश्चाताप न करना पडे कि —

बहु पुण्य केरा पुंज थी शुभ देह मानव नो मल्यो।
तो ये अरे भवचक्र नो आंटो नहीं एके टल्यो।

☆

९ | करमगति टारी नाँहि टरे

आज हमे देखना है कि कर्मों की गति कितनी विचित्र है तथा लाख प्रयत्न करने पर भी इसे टाला क्यो नही जा सकता ?

गहना कर्मणोगति

कर्म की गति अति ही गहन अर्थात अगम्य हुआ करती है। ससार म जितने भी प्राणी दिखाई देते है उनमे कोई सुखी है और कोई दुखी। यह सुख और दुख किसके प्रभाव से मिलता है ? उत्तर एक ही शब्द से दिया जा सकता है। यानी इसका कारण है एकमात्र 'कर्म'। जीव ने जैसे-जैसे कर्म किये है, वैसा-वैसा फल वह भोगता है। कहा भी है —

> **है ससार यहीं, अनादि से जीव यहीं दुख पाते।**
> **कर्म-मदारी जीव-वानरो को हा ! नाच नचाते।**

कर्म-रूपी मदारी वास्तव मे ही जीव-रूपी वानरो को नाना प्रकार से नचाया करता है। इसके खेल को कोई बद नहीं कर सकता तथा खेल म भाग लेने से इन्कार नही कर सकता। वशीकरण मन्त्र से बँधा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार मत्रवादी के इशारे पर गति करता रहता है, उसी प्रकार कर्म-रूप मदारी के इगित पर जीव कभी रोता और कभी हँसता रहता है। विद्वद्वर्य प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने कर्मों के चमत्कार को बडे सुन्दर शब्दो मे लिखा है —

> **देवराज स्वर्गीय सुखो को त्याग कीट होता है,**
> **विपुल राज्य से भूपति पल मे हाय ! हाथ धोता है।**
> **गोबर का कीडा स्वर्गों के दिव्य सौख्य पाता है,**
> **अपना ही शुभ-अशुभ कृत्य यह अजब रग लाता है।**

कर्मों का खेल वास्तव मे ऐसा ही होता है। जिस जीव ने जैसे कर्मों का बधन किया है उन्हे भोगे बिना उसे कदापि छुटकारा नही मिल सकता—

> **"अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्।"** —विक्रमचरित्र

—इस आत्मा ने शुभ अथवा अशुभ जैसे भी कर्म किये है, उन्ही के अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल इसे अवश्य भोगने पड़ेंगे।

जैसी भावना · वैसी सिद्धि

भावना एक ऐसी चीज है, जिसके द्वारा आप चाहें तो ऊँचाई की ओर अग्रसर हो सकते है तथा जिसके कारण ही नीचे की ओर भी उतरते चले जा सकते है। सस्कृत मे कहा भी है —

"याहशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताहशी।"

— जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

भगवान बुद्ध का कथन था कि मनुष्य जैसी भावना रखेगा वैसा ही बन जाएगा।

एकबार उनके पास दो व्यक्ति आए। एक ने कहा—"भगवन्! मेरे इस मित्र की अगले जन्म मे क्या गति होगी? यह कुत्ते जैसे कार्य और विचार किया करता है।"

दूसरा व्यक्ति बोला—"महात्मन्! मेरा यह दोस्त भी तो कम नही है। इसकी करतूते सब बिल्ली जैसी है। क्या यह अगले जन्म मे बिल्ली नही बन जाएगा?"

बुद्ध ने शाति से उत्तर दिया—'भाइयो! जैसे तुम्हारे सस्कार होगे वैसा ही फल मिलेगा। जो किसी को कुत्ता समझता है वह स्वय कुत्ता बनेगा और जो किसी को बिल्ली समझता है वह स्वय बिल्ली बनेगा।"

अभिप्राय यही है कि भावना से ही कर्म बध होता है —

Fancy may kill or cure

—भावना ही मार सकती है या जिला सकती है।

भवन बनाना या कुँआ खोदना ?

मनुष्य मकान बनाता है। एक-एक ईट करके एक मजिल, दूसरी मजिल, तीसरी और चौथी, इस प्रकार जितनी मजिले वह बनाता जाता है ऊँचा चढता जाता है। हम दिल्ली से आए है, वहाँ तीस-तीस या चालीस मजिल के भी मकान बन रहे है। इतना ऊँचा चढ़ना कैसे होगा? परिश्रम और मेहनत के द्वारा। साथ मे भावना भी काम करती है। ऊपर चढने की भावना होगी तभी व्यक्ति चढ़ेगा। बिना भावना के चढना नही हो सकता। आप चाहें कि भावना के बिना ही चालीस मजिल तक चढ जाएँ तो यह सभव नही है।

इसी प्रकार कुँआ खोदने वाला मजदूर भी कार्य करता है। उसके परिश्रम के साथ भी भावना काम करती है। वह जैसे-जैसे खोदता जाता है, नीचे उतरता जाता है।

इसी प्रकार जीवात्मा जिस तरह का काम करती है, उसी तरह का उसे फल

मिलता है। उत्तम कार्य करने वाले के शुभ-कर्मों का बंध होता है और उसके कारण शुभ फल की प्राप्ति होती है तथा निम्न कार्य करने वाले के अशुभ कर्मों का बंध होने से उन्हें अशुभ फल भोगने पड़ते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है।—

एगया देवलोएसु, णरएसु वि एगया।
एगया आसुरे काये, अहाकम्मेहिं गच्छई ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अपने कर्मों के अनुसार यह जीव कभी देवलोक में कभी नरक में और कभी असुरकाय में उत्पन्न होता है।

सारांश कहने का यही है कि कर्म-फल भोगे बिना छुटकारा किसी भी प्रकार से नहीं मिल सकता, चाहे व्यक्ति लाख कोशिश क्यों न करे। कर्मों के आगे तो बड़े-बड़े ज्योतिषी, ऋषि, मुनि आदि भी हार जाते हैं। तथा बड़े-बड़े पोथी, पत्रे व पंचाग व्यर्थ साबित हो जाते हैं। एक पद्य में यही बताया है —

करम गति टारी नाहिं टरे।
गुरु वशिष्ठ सम महामुनि ज्ञानी लिख लिख लगन धरे,
दशरथ मरण, हरण सीता को वन वन राम फिरे।
लख घोड़ा दस लाख पालकी, लख लख चँवर ढुरे।
हरिचन्द्र से दानी राजा, डोम घर नीर भरे ॥
करमगति टारी नाहिं टरे।

पद्य का अर्थ आप समझ ही गये होंगे। रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्रजी की पुण्यवानी में क्या कमी दिखाई देती थी ? राजकुल में जन्म, अतुल वैभव में पालन-पोषण, शिक्षा दीक्षा सभी उत्तम और फिर जनक जैसे विद्वान व ऐश्वर्यशाली राजा की पुत्री से पाणिग्रहण। कहीं कोई भी अभाव नहीं था। राज्याभिषेक के लिए गुरु वशिष्ठ ने उत्तमोत्तम मुहूर्त भी निकाल दिया। किन्तु हुआ क्या ? राज्य-प्राप्ति के स्थान पर वनवास करना पड़ा, पिता दशरथ की मृत्यु हुई सीता का हरण कर लिया गया और उसकी खोज में राम को भटकना पड़ा। यह सब कर्मों का ही खेल था।

कर्मगति की विचित्रता के कारण ही राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी और महादानी पुरुष को राज्य का त्याग कर मारे-मारे फिरना पड़ा। इतना ही नहीं, पत्नी और पुत्र से भी विलग होकर चाण्डाल के घर पर सेवकवृत्ति करनी पड़ी।

कर्म-विडम्बना यही कहलाती है। इसका शिकार व्यक्ति कोटि प्रयत्न करने पर भी इसके चंगुल से छुटकारा नहीं पा सकता। इसीलिए ज्ञानी पुरुष, सन्त, महात्मा एवं ऋषि-मुनि सभी एक स्वर में कहते हैं—कि अशुभ कर्मों के उपार्जन से बचो।

शुभ-कर्म और सिद्धि

मानव अगर अशुभ कर्मों से बचने का तथा शुभकर्मों की ओर बढने का प्रयत्न करता रहे तो एक दिन वह अवश्य आ सकता है कि सिद्धि उसके चरण चूमे। किन्तु इसके लिए सतत प्रयत्नशील रहना आवश्यक है। क्योकि सिद्धि हासिल करना खेल नही है। कई वर्ष ही नही—कई जन्मो के पश्चात भी अगर वह प्राप्त हो जाय तो समझना चाहिए कि सौदा सस्ता पडा। गीता मे कहा भी है—

अनेकजन्मससिद्धि

—कई जन्मो मे जाकर आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है।

सिद्धि की प्राप्ति के लिए अनेक जन्मो तक भी प्रयत्न करना पड सकता है तथा घोर से घोर उपसर्ग सहन करने का अवसर आ सकता है। किसी उर्दू भाषा के कवि ने कहा है—

तलाशे-यार मे जो ठोकरें खाया नहीं करते।
वे अपनी मजिले मकसूद को पाया नहीं करते॥

अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के प्रयत्न मे जो व्यक्ति कठिनाइयो को सहन नही करते, नाना प्रकार की बाधाओ और विघ्नो का मुकाबला नही करते, वे अपनी मजिल पर पहुँचने के उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकते।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिए कि वह शुभकर्मों के उपार्जन का प्रयत्न करे। शुभ-कर्म अत्यन्त कठिनाई से बँधते है जबकि अशुभ-कर्म अति शीघ्रता पूर्वक बँध जाते है। आपके मन मे प्रश्न उठेगा कि यह कैसे ? उसके उत्तर मे आप स्वय ही देख लीजिए! अगर झगडा करना हो किसी से भी, तो दो शब्द टेढे-मेढे बोल दो फौरन झगडा हो जायगा। किन्तु उस झगडे को मिटाने के लिए आपको भारी परिश्रम करना पडेगा। शुभ कर्मों के लिए बडा जोर लगाना पडता है।

ससार किस ओर है ?

इस समय सारा ससार अशुभ-कर्मो की ओर प्रवृत्त हो रहा है। राग, द्वेष, विषय वासना आदि की भावनाओ से अधा बनकर उन्मार्ग पर चल रहा है। मनुष्य को अधा बनाने मे कई दोष काम करते है। एक सस्कृत के कवि ने मुख्य रूप से छ प्रकार के अधो के विषय मे बताया है—

कामान्ध - कोपान्ध - मदान्धकाश्च,
लोभान्ध - मोहान्ध -भवान्धकाश्च।
भवति लोके किल षड्विधान्धा,
आन्त्यो हि भद्र लभते न शेषा।

अर्थात् इस जगत मे छ प्रकार के अंधे होते है। कामान्ध, क्रोधान्ध, मदान्ध मोहान्ध लोभान्ध और जन्मान्ध। शास्त्रकारो ने कहा है कि इन छहो मे से अन्तिम,

यानी जो जन्मांध होता है वह तो कभी सद्भाग्य से आत्म-कल्याण कर मोक्ष गति प्राप्त कर भी सकता है, किन्तु काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह मे जो अधे बने रहते हैं वे कभी भी कल्याण का मार्ग ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त करने मे समर्थ नही हो सकते। क्योंकि वे कर्म से अन्धे होते है और इसीलिए, अशुभ कर्मो के बध से बच नही सकते।

मनुष्य कामनाओ के वशीभूत होकर जन्म-जन्मान्तरो तक अनन्त-अनन्त पीडाएँ सहता है। कामनाओ का अथवा तृष्णाओ का जाल ऐसा भयानक होता है जो कि प्राणी को दुखो मे फँसाकर क्षत-विक्षत कर देता है तथा उस पर अशुभ-कर्मो का बोझ लादकर छोडता है।

कामभोगो की स्थिति

बौद्ध जातक मे एक लघुकथा आती है। मिथिला के महाराज निमि एक बार गवाक्ष मे खडे होकर नगर का दृश्यावलोकन कर रहे थे। उस समय उन्होने देखा कि एक चील मांस के पिड को मुँह मे दबाए आकाश मे मँडरा रही थी और अनेक अन्य पक्षी उस मांसपिड को लेने झपट रहे थे तथा चील को अपनी चोचो म घायल कर रहे थे।

सहसा घायल चील के मुँह मे मांस का टुकडा छूट गया और उसी समय दूसरे पक्षी ने उसे अपनी चोच म दबा लिया। अब सब पक्षी उस पर टूट पडे। दूसरे के भी घायल हो जाने पर तीसरे का नम्बर आया और उसकी भी वही स्थिति हुई।

यह दृश्य देखकर निमिराज की अन्त चेतना कह उठी—"ससारी काम भोगो की भी यही स्थिति है। जो भी उन्हे भोगने को आतुर होता है, वह पीडा एव यत्रणा मे सत्रस्त होकर दीन-हीन बन जाता है। जो इन्हे पकडे रहता है वह दुख पाता है और जो उसे छोड देता है सुख का अनुभव करता है।

सुख प्राप्त करने के लिए इन विषय-भोगो से बचते हुए सन्मार्ग पर चलना आवश्यक है। उन्मार्ग पर चलने से तकलीफ होगी, विघ्न-बाधाओ के काँटे लगेगे, कभी धराशायी भी होना पडेगा। किन्तु सुमार्ग पर अर्थात् सीधे रास्ते पर चलने से कोई तकलीफ नही होगी, और होगी भी तो मन की निर्मलता, साहस और उत्साह मे वह सहज और सुखमय महसूस होगी।

कर्मों का भुगतान केवल मानवो के लिए नहीं

बधुओ, आप यह मत समझ लेना कि कर्म केवल मनुष्यो को ही सताते है। कर्म तो प्रत्येक जीव के पीछे लगे रहते है। जोकि सुख भी देते है और दुख भी। एक ही जाति के घोडो मे से एक जो किसी राजा-रईस के यहाँ रहता है। आराम मे अपने स्थान पर बैठा दाना-पानी खाता है, मालिश करवाता है तथा केवल हवाखोरी के लिए ही ले जाया जाता है। उसे क्या काम करना पडता है? कुछ भी नहीं, क्वचित ही सवारी का अवसर आता है।

किन्तु किसी तांगे वाले के पास रहने वाला घोडा दिन भर और रात को भी, सवारियो को तथा उनके मनो वजन वाले सामान को ढोता रहता है। उसकी शक्ति मे भी अधिक बोझा उस पर लादा जाता है। भले ही पीठ पर घाव हो जायें, उसे विश्रांति नही मिलती। इसका कारण क्या है ? कर्मों का खेल ही तो है यह। एक घोडे की कैसी बुरी हालत और दूसरे घोडे की कैसी आरामदायक स्थिति ? मूल कारण इसका यही है कि रईस के यहाँ रहने वाले घोडे ने कुछ पुण्य का उपार्जन किया था और तांगे वाले के यहाँ रहने वाले ने अशुद्ध कर्मों का।

कर्मों की लीला के बारे मे क्या कहा जाय ? बम्बई के पास लोनावला नामक गाँव है। शाम के वक्त मैं उधर से जगल की ओर जाया करता था। वहाँ पर एक यूरोपियन का पाला हुआ कुत्ता था, जिसे प्रतिदिन एक आदमी हवाखोरी के लिए लाया करता था। एक दिन मैंने उससे इस विषय मे पूछा तो वह बोला—"मैं रोज इस कुत्ते को घुमाने लाता हूँ नहलाता हूँ, दूध पिलाता हूँ तथा इसकी सेवा किया करता हूँ। इसके लिए ही मुझे तनख्वाह मिलती है।"

अब आप ही विचार करिये, एक कुत्ते की सेवा मे आदमी नौकर रखा जाता है, उसे कारो मे बिठाकर ले जाया जाता है। किन्तु अन्य अनेक कुत्ते एक-एक टुकडा रोटी के लिए सौ सौ बार डण्डे खाते है, घर मे कदम रखते ही उसे मारकर भगा दिया जाता है। यह क्यो ? इसीलिए कि अपनी पुण्यवानी के बल पर एक कुत्ते ने सुखी जिन्दगी पाई। केवल करनी मे कुछ कसर रह जाने से ही पशु योनि प्राप्त हुई। अन्यथा तो जो सुख अनेको आदमियो को भी नही मिलते, वे सुख वह भोगता है। और दूसरा दर-दर फिरता है।

चाहे कुत्ता हो, घोडा हो, या अन्य कोई भी प्राणी हो, जिसके पल्ले मे पुण्य होता है, उसके लिए सुख होता है और जिसके पल्ले पुण्य नही होता उसे दुःख होता है। केवल मनुष्य या तिर्यंच के लिए ही यह बात नही है। देवताओ का भी यही हाल है। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है—

स हि गगनविहारी कल्मष-ध्वंसकारी,
दश शत करधारी ज्योतिषां मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगात् ग्रस्यते राहुणासौ,
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः।

देवताओ के पीछे भी कर्म लगा हुआ है। चन्द्र और सूर्य ये ज्योतिषी देवो के इन्द्र है। गगनविहारी चन्द्र कैसा है ? इतना ऊँचा, आकाश मे चलने वाला तथा अँधेरे की कालिमा को नष्ट करने की शक्ति रखने वाला। दश शत-कर अर्थात् हजार किरण रूपी हाथ रखने वाला। मनुष्य के दो हाथ होते है, उनके द्वारा ही वह अपने आपको गिरने पडने से बचा लेता है। और चन्द्रमा के पास तो हजार हाथ है पर अशुभ कर्मों के उदय होने पर उनमे से एक भी काम नही आता।

ज्योतिषी लोग चन्द्र-बल पहले देखते है। सूर्य, बृहस्पति, शुक्र, मगल, बुध आदि तो है ही, पर चन्द्र-बल का सबसे अधिक महत्व माना जाता है। संस्कृत मे चन्द्र को 'विधु' कहते है। पद्य मे बताए गये के अनुसार 'विधुरपि' यानी चन्द्र भी कर्मों के कारण राहु से ग्रसित हो जाता है। खगरास चन्द्रमा को ढक लेता है, छिपा देता है। सारे ससार को शाति प्रदान करने वाला, हजार किरणो वाला और ज्योतिषी मे अनन्य महत्व रखने वाला चन्द्र भी कर्मोदय के कारण ग्रसित होता है। इससे यह साबित हो जाता है कि ललाट पर लिखे गये लेख को मिटाने म कोई भी समर्थ नही होता।

एक बात और ध्यान मे रखने की है कि साहूकार किसी को ऋण देता है। किन्तु उस ऋण को जब कर्जदार लौटाता नही है तो वह पत्र भेजता है, आदमी भेजता है, कई बार तकाजा करवाता है। इसके बाद भी जब ऋणी रुपये नही लौटाता तब फिर नालिश का नबर आता है और उस पर भी रुपये न मिले तो ? कुडकी करवानी पडती है। प्राय कुडकी कब लाई जाती है ? जबकि विवाह शादी का कोई खास अवसर हो या ऐसा ही अन्य प्रसग हो जब लोक काफी सख्या म इकटठे हो।

सैकडो और हजारो की कुडकी उसी पर की जाती है जबकि किसी प्रकार भी उससे वसूल हो सकना सभव होता है। अर्थात् उसकी स्थिति अच्छी हो। किसी नगे भूखे को तो ऋण देने का भी सवाल नही होता और उस पर कुडकी करवाने से फिर लाभ ही क्या हो सकता है। तो सामने वाले की स्थिति अच्छी होने पर ही जिस प्रकार उस पर कुडकी की जाती है, उसी प्रकार चन्द्रमा को भी पचमी, सप्तमी या अष्टमी को ग्रहण नही लगता। ग्रहण लगता है, जब पूर्ण हो जाता है, उसमे पूरी शक्ति आ जाती है। कर्म भी एक प्रकार का साहूकार है जो पूरी तरह समर्थ होने पर अपना कर्ज वसूल करने के लिए आता है। बडे बडे अवतारी पुरुषो पर भी आपत्ति ऐसे ही समय मे आती है। हिन्दी कवि कहते है—

> रामचन्द्र थे बल भद्दर,
> अयोध्या राज जब पाया, कर्म ने आयके घेरा।
> फिरे वन वन मे दुख भारी। यह है कर्मों की गति न्यारी।
> किसी से नाहि टरे टारी,

मर्यादापुरुषोत्तम और बलभद्र के अवतार राम को जिस दिन राज्यतिलक होने वाला था, उसी दिन वनवास को जाना पडा। कर्मों की कृपा के कारण।

ऋषभदेव भगवान तीर्थंकर थे। किन्तु बारह महीने तक उन्हे भी अन्न और पानी नही मिल सका। जिनकी सेवा म देवता रहते हो, उन्हे भी महीनो अन्न-जल न मिले यह कितने आश्चर्य की बात है ? पर कर्मों के आगे आश्चय हो तो क्या और न हो तो भी क्या ?

मृत्यु से पूर्व लेना सम्भव नहीं

अशुभ कर्मों के उदय से सकट आते है किन्तु साहसी और दृढप्रतिज्ञ व्यक्ति उनसे हार नही खाते। जान पर खेलकर भी वे अपने धर्म और सत्य की रक्षा करते है। महासती चन्दनबाला की माता धारिणी देवी की क्या स्थिति थी ? उनके यहाँ क्या कमी थी ? किन्तु अशुभकर्मों के उदय से राज्य छूटा, राजमहल छोडकर भागना पडा और इतने से भी प्रारब्ध को सतोष नही हुआ, अत सारथी के मन मे उनके प्रति दुर्भावना उत्पन्न हुई। किन्तु उस पतिव्रता ने मर जाना कबूल कर लिया, धर्म छोडना नही। जीते जी अपना शरीर दूसरे के हाथ मे देना, वह मजूर नही कर सकती थी। कहा भी है कि पाँच वस्तुएँ उन्हे धारण करने वाले के जीवित रहते कोई नही ले सकता—

शूरा शस्त्र, कृपण धन, पतिव्रता को गात।
केसरी मूछ, भुजग मणि, मरिया लगसी हाथ।।

सच्चा शूरवीर जब तक जीवित रहता है, तब तक उसके हाथ से कोई शस्त्र नही ले सकता। मरने के पश्चात् ही वह उसके हाथ से छूटता है और अन्य के हाथो मे आ सकता है।

दूसरा है कृपण का 'धन'। कृपण न खाता है, न भोग करता है, न दान देता है, केवल धन को सचित करके ही रखना जाता है। ठीक भी है। स्वत उपभोग न करने वाला दूसरो को अपने जीते जी दे भी कैसे सकता है ? सगे लडके को भी वह तिजोरी की चाबी नही देता। उसका भी विश्वास नही करता। यह नही सोचता कि आखिर वह कब तक सर्प बनकर अपने धन पर बैठा रहेगा ? आखिर तो उसे जाना ही पडेगा न ! उसका लडका आज नही तो कल सारे धन का मालिक हो जाएगा। पर फिर भी जीवित रहते तो वह दे ही नही सकता अपना धन, चाहे सूर्य पूर्व से पश्चिम मे ऊगने लग जाय। अगर कोई याचक उसके द्वार पर आ जाय तब तो उसे ऐसा लगता है जैसे यमदूत ही द्वार पर आकर खडा हो गया है। ऐसे लोगो को बोध देने के लिए कहा भी जाता है—

साईं समय न चूकिये यथाशक्ति सनमान,
को जाने को आई है, तेरी पौरि प्रमान।
तेरी पौरि प्रमान समय असमय तकि आवे,
ता को तू जिय खोलि हृदय भरि कठ लगावें।
कह गिरधर कविराय, सबै या मे सधि आई,
सीतल जल फलफूल समय जनि चूको साईं।

पद्य का साराश यही है कि द्वार पर आए हुए याचक को भी निराश मत लौटाओ, उसका तिरस्कार और अपमान मत करो। कौन जाने याचक अथवा अतिथि के रूप मे कौन सन्त-महात्मा अथवा भगवान स्वय ही तुम्हारे द्वार पर आ जाएँ।

इसलिये और कुछ अधिक न बन सके तो शीतल जल और फल-फूल से ही उसका स्वागत करो। ऐसा कवि ने काव्य में कहा है। पर, कजूस व्यक्ति इस बात का कहाँ ध्यान रखता है? वह तो धन को ही सर्वस्व और अपना भगवान समझता है। तथा जब तक जीवित रहता है, 'चमडी जाए पर दमडी न जाए' वाली कहावत को चरितार्थ करता रहता है।

पद्य में तीसरी चीज पतिव्रता के शील की आती है। शीलवती स्त्री के सतीत्व को भी उसके जीवित रहते हुए कोई भग नहीं कर सकता। महारानी धारिणी ने शील की रक्षा के लिए अपनी जबान खींचकर चन्द मिनिटों में प्राण-त्याग दिये थे। चित्तौड की महारानी पद्मिनी ने अलाउद्दीन के आतंक और कुदृष्टि के कारण जौहरव्रत अपना लिया था। उसके साथ ही अन्य चौदह हजार रानियों ने भी अग्नि-स्नान कर लिया किन्तु अपने शरीरों को अन्य का स्पर्श नहीं होने दिया। तभी तो नारी जाति के लिए कहा जाता है —

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।

वास्तव में ही स्त्री पुरुष की सबसे महान शक्ति के रूप में होती है। उसके बल पर ही वह अनेकानेक संकटों का सामना करता हुआ अपने उद्देश्य की ओर बढता है। और तो क्या, मुझे यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती कि मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाने वाली एकमात्र नारी ही है। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन भी है —

"Man have sight, women have insight."

— विक्टर ह्यूगो

— मनुष्य को दृष्टि प्राप्त होती है पर नारी को दिव्यदृष्टि।

अपनी इस दिव्यदृष्टि के कारण ही वह छाया की तरह पुरुष की जीवन संगिनी बनकर रहती है तथा समय-समय पर उसे पतन के मार्ग पर जाने से रोकती है। पुत्री, बहन, पत्नी तथा माता के रूप में वह अपनी चहुँमुखी प्रतिभा से मनुष्य का मार्गदर्शन करती है। त्याग, उदारता, प्रेम सहिष्णुता, सेवा, वीरता और बलिदान का आदर्श उपस्थित करके अपने उत्तमोत्तम गुणों से ससार को अभिभूत करती है। ऐसी महिमामयी नारी के धर्म को उसके प्राण रहते कौन नष्ट कर सकता है?

पद्य में आगे उल्लेख है केसरीसिंह की मूँछ के बाल का। वनराज सिंह की मूँछ के बाल को उसके जीते जी कोई उखाडने की हिम्मत नहीं कर सकता और मणिधारी सर्प के मस्तक की मणि भी बिना उसके निष्प्राण हुए कोई छीन नहीं सकता। यद्यपि उस मणि को प्राप्त करने की मनुष्य में कितनी उत्कट अभिलाषा होती है। सर्प के काटने पर जिसको फेरते ही विष समूल नष्ट हो जाता है, ऐसी

प्रतिभाशाली वस्तु को कौन लेना नही चाहेगा ? पर मिले कैसे ? विषधर भुजग की बाबी मे हाथ डालने की हिम्मत किसकी हो सकती है ?

हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम !

हाँ तो मैं कह यह रहा था कि प्रत्येक प्राणी को अपूर्व दृढता और साहस से अशुभ-कर्मो के उदय होने पर उनका मुकाबला करते हुए शुभ-कर्मों का उपार्जन करना चाहिए। प्राय देखा यही है कि थोडी कठिनाइयो और सकटो का आगमन होते ही मनुष्य जीवन से निराश हो जाता है। अत्यधिक आर्तध्यान के कारण उसकी हिम्मत और साहस नष्ट हो जाते है। आशा की कोई भी किरण उसे दिखाई नही देती। यह अज्ञानता का लक्षण है। उसे यह नही भूलना चाहिये कि अशुभ-कर्मों का उदयकाल समाप्त हो जाने पर पुन शुभ-कर्मों का भी उदय होता है। अगर पल्ले मे वे है तो। इसलिए अशुभ के उदय होने पर प्राणी को आर्तध्यान न करते हुए अपने मन को बोध देना चाहिए —

चेतन रे तू ध्यान आरत काँई ध्यावै !
सुख न रह्यो तो दुख किम रहसी ?
इम कहि चित गुजरावे।
साहूकार शिरोमणि सोही,
हर्ष से कर्ज चुकावे । चेतन रे तू

जैसा कि पद्य म कहा गया है अशुभ-कर्म एक कर्ज के समान है, जिन्हे चुकाना अवश्य पडता है, किन्तु चूक जाने पर आत्मा का बोझ हलका हो जाता है। अत उस कर्ज को चुकाते समय ज्ञानी पुरुष को आर्तध्यान नही करना चाहिए। अन्यथा पुराना ऋण चुकते-चुकते नया फिर सिर पर हो जाएगा। जो महामानव उपसर्गों और परिषहो मे समभाव रखते हुए कर्मों की निर्जरा करते जाते है, वे ही मुक्ति-धाम के अधिकारी बन सकते है। विद्वान प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने बडे सरल और सुन्दर ढग से यही बात समझाई है —

उपसर्ग और परिषह है ऋण का देना।
बदला लेकर क्यों नया कर्ज फिर लेना।
है मानव-जीवन सफल उसी नरवर का।
जिसने सोखा जल सकल कर्म सागर का ॥
उपसर्गो को उपकारक जिनने माना।
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना ॥
पहले जो बाँधे कर्म स्व-फल देते है।
फल देकर फिर वे तुरत दूर होते हैं ॥
है द्विविध निर्जरा जिनवर ने बतलाई।
पहली सकाम निष्काम दूसरी भाई !

पद्य में कितने सुन्दर और सत्य भाव है कि बाँधे हुए कर्म अपना फल देकर तुरन्त अलग हो जाते है अतः उनमे न घबराते हुए सम-भाव रखकर निष्काम निर्जरा करनी चाहिये।

अभी अभी मैंने बताया ही है कि कर्मों से घबराना कैसा ? वह तो देवताओ का भी नही छोडते फिर मनुष्यो की बिसात ही क्या है ? आज हम मर्यादापुरुषोत्तम राम, भगवान ऋषभदेव सती चन्दनबाला आदि का नाम क्यो ले रहे है ? इसलिये कि उन्होने अपने कर्मों का कर्ज हँसते-हँसते चुकाया था। उनके कारण आर्तध्यान या रौद्र-ध्यान करके नये कर्मों का किंचित मात्र भी बन्धन नही किया था।

शुभ कर्मों का उपार्जन कैसे हो ?

बन्धुओ, अभी मैंने आपसे कहा है कि अशुभकर्मों का ऋण हँसते हुए सम-भाव से चुकाओ तथा साथ-साथ शुभकर्मों के उपार्जन का प्रयास करते रहो। अब संक्षेप मे हमे यह देखना है कि शुभ-कर्मों का उपार्जन कैसे हो सकता है ?

शुभकर्मो का उपार्जन करने के लिए जीवन को धर्ममय बनाना आवश्यक है। तथा धर्ममय जीवन का प्रारम्भ दान से होता है। दान धर्म का प्रवेश द्वार है। इसमे प्रवेश किये बिना मुक्ति रूपी महल मे नही पहुँचा जा सकता। तीर्थंकर संयम ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक दान देते है। दान से हृदय उदार और निर्मल बनता है जो कि चारित्रिक गुणो का विकास करने के इच्छुक साधक के लिए आवश्यक है। दान के रूप मे जो दिया जाता है वह वस्तुतः शुभ कर्मो के रूप मे दूसरी ओर संचित होता जाता है। आपके अन्य व्यापारो मे तो हानि की भी संभावना रहती है किन्तु दान देकर जो पुण्य कमाया जाता है उसकी कभी हानि नही होती। इसलिये मुक्त-हस्त से जितना और जैसे भी बन सके दान देने की भावना प्रत्येक मानव मे होनी चाहिये। दान के समान अन्य कोई भी कार्य संसार मे नही है। जैसा कि कहा जाता है —

'पृथिव्यां प्रवरं हि दानं ॥'

—इस पृथ्वी पर दान ही सर्वोत्तम कर्म है।

दूसरा कार्य है 'सेवा'। इस अमूल्य मानव-भव को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति अपने समय को सार्थक नही करता, अपना समय अन्य प्राणियो की सेवा मे नही लगाता वह वास्तव मे ही भाग्यहीन कहा जा सकता है। सेवा और वैयावृत्य करने से आत्मा निर्मल बनती है तथा अनेकानेक पुण्य कर्मों का संचय होता है।

आने का उपयुक्त समय

वासवदत्ता मथुरा की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी और अनुपम सुन्दरी थी। एक दिन उसने अपने गवाक्ष से एक सुन्दर युवा भिक्षु को भिक्षा पात्र लिए उधर से गुजरते देखा। नर्तकी उसे देखकर मोहित हो गई और शीघ्रतापूर्वक सीढ़ियो से उतर कर नीचे आई।

नीचे आकर उसने पुकारा—"भन्ते !"

भिक्षु ने धीर गति से समीप आकर अपना भिक्षा पात्र नर्तकी के आगे बढ़ा दिया।

नर्तकी बोली—"आप ऊपर पधारे ! मेरा भवन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और स्वय मैं आपकी हूँ। स्वीकार करे।"

"मैं तुम्हारे पास फिर आऊँगा।"

"कब ?" नर्तकी ने अधीरता से पूछा।

"उपयुक्त समय होने पर।" कहकर भिक्षु चल दिया।

कुछ समय बाद अपने दुराचार से भयकर रोग का शिकार वासवदत्ता मार्ग पर निराश्रित पड़ी थी। शरीर पर फटे चीथडे थे और उस पर हुए असख्य घावो से दुर्गन्ध निकल रही थी।

एकाएक वही भिक्षु उधर से निकला और वासवदत्ता के समीप आकर बोला—"भद्रे ! मैं आ गया हूँ।"

"कौन ? भिक्षु उपगुप्त ?' तुम अब आए हो ? मेरे पास अब क्या रखा है ? यौवन, सौन्दर्य और धन, सभी कुछ तो नष्ट हो गया।" नर्तकी ने बडी कठिनाई से उसकी ओर देखते हुए कहा।

"मेरे आने का समय तो अभी हुआ है।" कहते हुए भिक्षु उपगुप्त ने नर्तकी के घावो को धोना प्रारम्भ कर दिया।

इसे ही वैयावृत्य कहते है। ससार के किसी भी महापुरुष के जीवन को हम देखे, तो पाएँगे कि उनके जीवन मे पर-सेवा एक मुख्य कर्तव्य बना हुआ रहा है। निस्वार्थ सेवा का व्रत जो व्यक्ति अगीकार करते है वे आत्मकल्याण तो करते ही है, साथ ही ससार के सन्मुख शुभ-कर्मो के उपार्जन का अनूठा आदर्श भी उपस्थित कर जाते है।

इस प्रकार दान एव सेवा आदि के द्वारा जहाँ शुभ-कर्मों का बध होता है, वहाँ शील, तप और भावना के द्वारा कर्मो की निर्जरा भी होती जाती है। जिस जीवन मे इन सब गुणो का समावेश होता है वही जीवन कर्ममय जीवन कहलाता है। और जब जीवन कर्ममय बन जाता है तो प्राणी पापो मे स्वत ही भयभीत होने लगता है।

पुण्य जीवन का विकास करता हुआ उसे मोक्ष-प्राप्ति की दिशा मे अग्रसर करता है तथा पाप इसके विपरीत जीवन को अध पतन की ओर उन्मुख करता है, अनन्त सुख से दूर ले जाता है। पुण्य का परिणाम सुख है और पाप का परिणाम है दुख। कहा भी है —

सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णा फला हवति।
दुचिण्णा कम्मा, दुचिण्णा फला हवति॥

—शुभ कर्म का फल शुभ है। और अशुभ कर्म का फल अशुभ है।

अशुभ-कर्मों के बंध से अपने आपको बचाने के लिए आवश्यक है कि मन में पाप भावना को न आने दिया जाय। किन्तु छद्मस्थ होने के कारण पाप भावना का मन में आना और पापों का हो जाना भी असंभव नहीं है। अतः कोई भी पाप हो जाने पर उसका अविलम्ब निराकरण कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त कर, हलके बनो !

बंधुओ, पाप चाहे छोटा हो या बड़ा, उसे स्वच्छ मन से प्रकट कर देना चाहिए। पुण्य और पाप दोनों में यह खासियत है कि इन्हें जितना भी छिपाया जाय, उतने ही बढ़ते हैं और जितना भी प्रकाशित किया जाय, उतना ही इनका नाश होता है। इसलिए पुण्य को प्रकाशित नहीं करना चाहिए, तथा पाप को छिपाना नहीं चाहिए।

पाप के बोझ को आप चाहे जितने समय तक अपने ऊपर लादे रहें, अंत में तो इसका फल भुगतना ही पड़ता है। तब फिर क्यों न इस भार से शीघ्र छुटकारा पा लिया जाय? आप जानते हैं कि पापों से छुटकारा कैसे मिलता है? प्रायश्चित्त से। अगर मनुष्य सच्चे मन से अपने पापों के लिए प्रायश्चित्त करे तो उसके पाप धुल सकते हैं। पर वह प्रायश्चित्त सर्वान्तःकरण से होना चाहिए। क्योंकि पाप प्रायश्चित्त से नष्ट होते हैं, प्रायश्चित्त के दिखावे से नहीं। लोग व्रत, उपवास तथा अन्य अनेक प्रकार के धर्माचरणों का दिखावा करते हैं। किन्तु उनसे पापों का नाश नहीं होता। उनकी भक्ति बगुला भक्ति कहलाती है। जैसे —

> **इक बगुला बैठा तीर, ध्यान वाको नीर में,**
> **लोग कहें वाको चित्त, बस्यो रघुवीर में।**
> **वाको चित्त मछलियाँ मांय जीव की घात है,**
> **पण हाँ, वाजिन्द दगाबाज को नहीं मिले रघुनाथ है।**

वास्तव में, यह दृढ़ सत्य है कि ढोंगी व्यक्ति कितना भी पूजा-पाठ, व्रत, सामायिक, जप, तप और भक्ति का दिखावा करे, उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी प्रकार प्रायश्चित्त के आडम्बर से पापों का नाश नहीं होता। उससे लाभ के बदले हानि ही होती है। पापों का नाश करने के लिए तो मनुष्य को अनेक जन्मों तक भी प्रायश्चित्त करना पड़ सकता है और तब कहीं उसके पाप नष्ट हो सकते हैं। पर दिखावा करने वाला व्यक्ति एक जन्म में ही और वह भी दिखावटी प्रायश्चित्त करे तो भला उसके पाप कैसे नष्ट होंगे?

इसलिए बंधुओ! चाहे प्रायश्चित्त किया जाय या धर्म-क्रियाएँ, सच्चे मन और पूर्ण निष्ठा से की जानी चाहिए। तभी अशुभ कर्मों का नाश और शुभ कर्मों का उपार्जन हो सकता है। और आत्मा को सच्चे सुख और संतोष की अनुभूति हो

सकती है। समय हो चुका है किन्तु अन्त मे मैं आपसे एक और आवश्यक बात कहना चाहता हू।

सोने को हो या लोहे की, फिर भी बेड़ी

आप अनुमव कर सकते है कि किसी मी प्राणी के पैरो मे चाहे लोहे की बेडियाँ बनाकर पहनाई जायँ या सोन की उसे एकसी तकलीफ होगी, एकसा ही बन्धन महसूस होगा। पाप और पुण्य मी इसी प्रकार लोहे की और सोने की बेडियो के समान है और ये दोनो ही मनुष्य को मुक्ति-धाम म जान से रोकती हैं।

आप यह सुनकर चक्कर म पड जाएँगे कि अमी-अमी तो गुरुदेव अशुम-कर्मों म बचते हुए शुम-कर्मों के उपार्जन का राग आलाप रहे थे और अब यह फरमाने लगे ! कि अशुम और शुम दोनो ही बन्धन रूप है।

यह सत्य है बन्धुओ, वास्तविकता यही है कि आत्मा को मुक्तावस्था प्राप्त करान के लिये तो इन दोनो ही बधनो का त्याग करना होगा। अशुम से बचने के लिय शुम आवश्यक है किन्तु मुक्त होने के लिए शुम मी त्याज्य है। उदाहरणस्वरूप पैर मे लगे हुए एक छोटे मे अशुम-कर्म रूपी कॉंटे को शुम कर्म रूपी दूसरे तीक्ष्ण काटे से निकालना पडता है किन्तु पैर म लगा हुआ काटा निकल जाने के पश्चात् उस दूसरे काटे को मी राहगीर पकड नही रहता, अविलम्ब फेंक देता है और अपनी राह पर बढ जाता है। अथवा —

अत्यन्त गहरी और चौडे पाट की नदी को पार करने के लिये यात्री नाव का सहारा लेता है और उसका सहायता मे अगले किनारे पर पहुँच जाता है। किन्तु उसके पश्चात् क्या वह उस नाव म बैठा ही रहता है ? नही, किनारा आते ही कूदकर अपन गन्तव्य की ओर चल दता है। इस उदाहरण से मी अशुम और शुम के विषय म समझना चाहिए। पाप रूपी नदी को पुण्य रूपी नाव से पार तो कर लिया, किन्तु उस पुण्य रूपी नाव को मी पकडे नही रहा जा सकता। अपने घर अर्थात् आत्मा के असली स्थान मुक्ति-महल मे पहुचने के लिये तो नाव को ही छोडना मी होगा। श्री मगवती सूत्र मे भी कहा है —

"पुण्य पापक्षयो मोक्ष"

—पुण्य और पाप दोनो का ही क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अर्थात् दोनो का क्षय होना ही मोक्ष है।

आशा है आप वास्तविकता को समझ गए होगे। पर यह समझकर कि पुण्य का उपार्जन मी मुक्ति मे बाधक है, शुम कर्मों के उपाजन का प्रयत्न नही छोडेगे। अन्यथा अशुम-कर्मों का बोझ आपकी आत्मा से उतरना कठिन ही नही, वरन् असमव हो जाएगा। हमे मानव-जन्म मिला है, जिसके लिए देवता मी तरसते है। इस जन्म को हमे व्यथ नही खोना है। यह नही भूलना है कि जीवन एक तीर के समान है जो छोड देने के बाद पुन वापिस नही आता। किसी शायर ने कहा मी है

जिन्दगी एक तीर है जाने न पाए रायगाँ ।
पहले निशाना देख लो बाद मे खेंचो कमाँ ।।

जीवन तभी सफल हो सकता है, जब कि इस जन्म-मरण के भयानक चक्र से छूट कर अक्षय सुख और असीम शाति का प्राप्त कर लिया जाय। अगर मानव इस ओर नहीं चला तो जीवन व्यर्थ चला जाएगा। प्रत्येक मुमुक्षु को जीवन के एक-एक पल का सदुपयोग करना चाहिये। कर्म-गति की विचित्रता को समझते हुए साहस और सम-भाव से प्रत्येक स्थिति का सामना करना चाहिए। साथ ही जो भूल हो गई हो उनके लिए शुद्ध भाव से प्रायश्चित्त करके शेष जीवन मे दृढ सकल्प सहित मुक्ति की साधना म सलग्न हो जाना चाहिय। तभी मानव-पर्याय का मिलना सार्थक हो सकेगा और अव्याबाध सुख की प्राप्ति का हमारा उद्देश्य पूर्ण होगा। ☆

१०

जाणो पेले रे पार

हमारे महापुरुषो ने ससार को सागर माना है। जन्म-जन्मान्तरो से आत्मा इस सागर मे डूबती उतराती चली आ रही है। अत मुमुक्षु प्राणी इसे पार करने का, इसके अगले किनारे पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। साधारणतया नदी और तालाब आदि को पार करने के लिये यात्री जिस प्रकार नाव का सहारा लेता है, उसी प्रकार ससार-सागर को पार करने की इच्छा रखने वाला साधक धर्म रूपी जहाज का आश्रय ग्रहण करता है। किन्तु अगर उसकी पुण्यवानी प्रबल हो तभी उसका जहाज भव-सागर के तूफानो और भवरो का सामना करता हुआ आगे बढ सकता है।

पुण्यवानी का साथ कब तक ?

दो दिन से हमारे यहाँ पुण्य-दशा का वर्णन चल रहा है। पुण्य के बल पर मनुष्य को किस प्रकार शुभ-सयोग और सभी प्रकार के उत्तमोत्तम साधन उपलब्ध हो जाते है तथा वह गलत कार्य जो करे तो सही हो जाता है, यही सब हमने समझा था। किन्तु अब हमे यह देखना है कि पुण्य का साथ रहता कब तक है ? तब तक ही, जब तक कि उनका उदय हो। पुण्य बल क्षीण होने पर हरिश्चन्द्र जैसे राजा को भी चाडाल के घर सेवक बनना पडा और अयोध्या के उत्तराधिकारी राम को वन-वन भटकना पडा। कहने का अभिप्राय यह कि, पुन्य-दशा स्थायी नही होती। उसके समाप्त होते ही सभी सुयोग, सभी साधन और सक्षेप मे सभी सासारिक सुख पानी के बुलबुले के समान विलीन हो जाते है। पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने एक भजन मे पुण्य-दशा का वर्णन बडे ही सरल और सुन्दर ढग से किया है। उन्होंने कहा है —

"बाजीगर ज्यो बाज मचावे वे आई,
डुम डुम को सुन शब्द ललक जुड आई।

> होय तमाशो बन्द सभी भग जावे,
> बाजीगर निज ठाम अकेलो आवे।
> सुन सुगणा रे तुम धर्म-ध्यान नित करलो,
> तुम त्यागो पच प्रमाद भवोदधि तरलो !

महाराज श्री ने पुण्य-बल को एक बाजीगर के दृष्टान्त से समझाया है। किसी भी नगर म बाजीगर आता है और अपनी कला दिखाने से पहले डमरु बजाता है। डम-डम का शब्द सुनकर मनुष्यो की भीड इकट्ठी हो जाती है और बडी रुचि से बाजीगर का खेल देखती है।

किन्तु उसका खेल, अथवा तमाशा जब खत्म हो जाता है, मिनिटो मे जनता तितर-बितर हो जाती है। एक भी व्यक्ति वहाँ दिखाई नही देता और बाजीगर जिस प्रकार अकेला आता है उसी प्रकार अकेला अपने स्थान पर लौटता है।

इसी प्रकार, जब तक पुण्य मनुष्य के पास होते है तब तक सभी उससे अपनत्व दिखाते है और उसका साथ देते है। किन्तु पुण्य-बल समाप्त होते ही कोई बात नही पूछता और कोई भी सहायक नही बनता। यह बात केवल इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियो के लिये ही नही है। देवताओ के लिये भी है। भगवत् गीता मे स्पष्ट उल्लेख है —

"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।"

जब देवताओ के पुण्य क्षीण हो जाते है तो उनको भी अपने समस्त सुखो का त्याग करके मृत्यु लोक मे आना पडता है। सारी सुख-सामग्री और अतुल ऐश्वर्य का त्याग करना पडता है। इसीलिये महापुरुष हमे चेतावनी देते है कि जब देवताओ को भी पुण्य-बल क्षीण होने पर अपनी रिद्धि-सिद्धि को छोडना होता है तो फिर मनुष्यो की तो बिसात ही क्या है? उनके साथ पुण्य कब तक रहेगा?

किं कर्तव्यम्

पुण्योदय होने पर समस्त प्रकार के सुखो का अनुभव हो, और उसके अभाव मे विपदाओ के पर्वत मस्तक पर टूट पडने को हो तो ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिये यह श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज अपने पद्य म आगे बताते है —

> सुन सुगुणा रे तुम धर्म-ध्यान नित करलो !
> तुम त्यागो पच प्रमाद भवोदधि तर लो !

कितनी सत्य, स्पष्ट और सुन्दर सीख है? कहा है —हे गुणज्ञ बन्धु! तुम पाचो प्रमादो का त्याग करो और धर्म का आराधन करते रहो। इससे तुम्हारी आत्मा पाप और पुण्य, दोनो से ऊपर उठ जाएगी। पापो के परिणामस्वरूप होने वाले दु खो और यातनाओ का भय नही रहेगा तथा पुण्य-बल के क्षीण होने की फिक्र नही होगी। पाँच प्रमादो का परित्याग करके धर्म-रूपी जहाज का आश्रय लेकर तुम भवो-

दधि को पार कर लोगे, उस किनारे पर पहुँच जाओगे ! प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने भी शाश्वत सुख प्रदान करने वाले धर्म की स्तुति करते हुए कहा है —

तीर्थेश चक्री अवलब लेके,
ससार से हैं तरते सदा ही ।
आराधना को मुनिराज तेरी,
आगार को त्याग अरण्य जाते ।

जो जीव ससार समुद्र मध्य,
हैं डूबते, पार उन्हें लगाता ।
त्राता नहीं और समर्थ कोई,
आनन्द का धाम सदा तुही है !

इस प्रकार ससार मे केवल धर्म ही ऐसा आधार अथवा आश्रय है जिसकी सहायता से मुमुक्षु प्राणी जन्म-मरण के नाग-पाश से अपनी आत्मा को मुक्त कर सकता है तथा शाश्वत सुख को प्राप्त करने मे समर्थ बनता है । इसलिये धर्म को ग्रहण करना, अर्थात् जीवन को धर्म मय बनाना ही मनुष्य का प्रथम और अनिवार्य कर्तव्य है ।

त्यागो पच प्रमाद

धर्माराधन करना आत्मार्थी के लिये आवश्यक है, यह तो आपने समझ ही लिया । किन्तु उसका आराधन कैसे किया जाय ? अब यह जानना है । पूज्यपाद कवि श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज ने इसे भी अपने पद्य मे समझाया है । वह इस प्रकार कि धर्माराधन के लिये सवप्रथम पच प्रमादो का त्याग किया जाय । पाँच प्रमाद कौन-कौन से है ? यह एक श्लोक के द्वारा बताए गये है —

"मज्ज विसय कसाया, निद्दा विकहा य पचमी भणिया ।
एए पच पमाया, जीव पाडति ससारे ।"

—मद, (अहकार) विषय, कषाय, निद्रा तथा विकथा, ये पाचो प्रमाद जीव को ससार मे भटकाते है ।

अहकार

अहकार की भावना मानव के जीवन को पतन की ओर ले जाती है । जब तक मनुष्य के हृदय मे यह बनी रहती है, तब तक वह कोटि प्रयत्न करने पर भी आत्मोन्नति नही कर सकता । जीवन की सम्पूर्ण साधना को गर्व मिट्टी मे मिला देता है । आत्मा के उत्थान मे जो बाधक कारण होते हैं, उनमे सबसे मुख्य कारण अभिमान ही है ।

बाहुबलि के विषय मे आप जानते ही है कि घोर तपस्या करने पर भी उन्हे केवल एक ही कारण से केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो सकी थी । कौन-सा था वह

कारण ? एक था मात्र 'अभिमान'। अभिमान का सूक्ष्म सा अंश ही उनके और कैवल्य के बीच मे महाकाय पवन बनकर खडा हो गया। उसका त्याग करते ही उन्हे ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

शास्त्रकारो ने अहकार को आठ फनवाले विषधर भुजग के समान बतलाया है। अर्थात् अभिमान आठ प्रकार का होता है। जाति का, लाभ का, कुल का ऐश्वर्य का, बल का, रूप का, तप का तथा ज्ञान का अहकार मनुष्य करता है। ये सभी अथवा इनमे से कोई भी एक मद मनुष्य को ज्ञानहीन और विवेक-शून्य बनाकर छोडता है।

जाति के मद ने चिरकाल से ही विनाश का ताण्डव नृत्य किया है। हमारा इतिहास बताता है कि जाति के मद मे अन्ध होकर अगणित हिन्दू और मुसलमानो ने एक दूसरे को इस धरती पर से उठाया है, मौत के घाट उतारा है।

ऐश्वर्य और लाभ का मद भी मानव का कितना हृदयहीन बना देता है, यह हमारे महायुद्धो मे स्पष्ट हो गया है जोकि इस पृथ्वी पर हुए है। ऐसे भयकर नर-सहार को तो एक आदमखोर व्यक्ति भी घृणा से देखता है।

इतने मनुष्यो को खाया कैसे होगा ?

एक विद्वान प्रोफेसर मौलिनोस्की को अफ्रीका के एक नरभक्षी से मुलाकात हो गई।

बेचारा अपढ और आधुनिक सभ्यता तथा रीति-रिवाजो से अनजान आदमखोर प्रोफेसर साहब से पूछ बैठा—

"क्यो जी ! पिछले महायुद्ध की एक बात मैं अभी तक नहीं समझ पाया। तुम लोगो ने इतने आदमी युद्ध मे एक साथ मार डाले, पर उन सबको खाया कैसे होगा ?"

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—'उन्हे खाने के लिए थोड ही मारा था ?"

सुनकर आदमखोर बडा चकित हुआ। साथ ही अत्यन्त घृणा से बोला—"जगखोर आदमी आदमखोर से किस कदर बदतर होता है कि बिला वजह आदमियो को मारता है।"

आशा है इस उदाहरण से आप समझ गए होगे कि मनुष्यो को मारकर खा जाने वाला नरभक्षी व्यक्ति भी बिना वजह आदमियो के नर-सहार को कितना खराब और घृणित मानता है। किन्तु शक्ति के मद मे चूर व्यक्ति इतनी-सी बात को भी नही समझ पाता।

धन का लोभ और उसे प्राप्त कर लेने पर अहकार की वृद्धि के कारण मानव को उचित अनुचित का भान नही रहता। किन्तु उसके अहकार मे कितना सत्य है यह वह नही समझ पाता। इसे समझाने के लिए एक और उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

कितने प्राणियों का पालन-पोषण करता हूँ

वीर शिवाजी सामन्तगढ का किला बनवा रहे थे। एक दिन वे अपने गुरु 'समर्थ' के साथ उसका निरीक्षण करने आये।

वहाँ पर अनेकों मजदूरो को काम करते हुए देखकर शिवाजी के मन मे अहकार का भाव आया कि मैं कितने प्राणियो का पालन करता हूँ। सद्‌गुरु समर्थ शिष्य की इस भावना को समझ गये और बोले—"वाह शिवा! तुम्हारे कारण कितने जीवो का पालन हो रहा है।"

शिवाजी गुरु के व्यग को नही समझे और अपने आपको धन्य मानकर कह उठे—"यह सब आपके आशीर्वाद का ही फल है।"

इतने मे ही पास मे पडी एक शिला को देखकर गुरु समर्थ बोले—"यह बीच मे क्यो पडी है?"

"रास्ता बन जाने पर तुडवा दिया जाएगा।" उत्तर मिला।

श्री समर्थ ने कहा—"नही, इस काम को भी अभी करवा लो! कोई भी कार्य जो रह जाता है फिर हो ही नही पाता।"

तुरन्त ही कारीगर बुलाए गए और शिला तोडी जाने लगी। उसके टूटने पर सबने देखा कि शिला के अन्दर पानी से भरा हुआ एक गड्ढा निकला जिसमे एक जीवित मेढक बैठा हुआ था।

उसे देखकर सद्‌गुरु बोले "वाह शिवा! धन्य हो तुम! इस शिला मे पानी रखकर तुमने इस मेढ़क के पालन का भी प्रबन्ध कर रखा है।"

गुरु के शब्द सुनते ही शिवाजी को अपने अहकार का भान हो गया। उन्होने उसी क्षण गुरुजी के चरणो मे मस्तक झुकाकर अपने दोष के लिए क्षमा याचना की।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव गर्व किस बात का करता है? धन-वैभव, सौन्दर्य, शक्ति आदि सब क्या उसके साथ सदा रहने वाले है? नही, केवल पुण्योदय है तब तक ही तो। फिर इन अस्थायी चीजो का अहकार किसलिए? कहा भी गया है—

न मृत्युर्निहतो जीव! गर्वम् कुर्वन् न लज्जसे?

—पार्श्वनाथ चरित्र

—अरे आत्मन्! मृत्यु का विनाश नही हुआ, ऐसी स्थिति मे परलोक का विचार नही करके अहकार करते हुए तुझे लज्जा का अनुभव क्यो नही होता?

विषय

इन्द्रियों के विषय भी प्रमाद हैं। विषय-चिंतन मनुष्य के पतन और विनाश का कारण है। जब तक मनुष्य केवल विषयो का ही स्मरण करता है, तब तक उसके लिए आत्म-उत्थान की आशा करना व्यर्थ है। यदि वह अपने जीवन को पुण्यमय,

शातिमय और उत्तम बनाना चाहता है तो उसे विषय-विकार का त्याग करना चाहिए जब तक हृदय मे विषय-विकार रूपी अशुद्धता है मानव आत्म-कल्याण का पथ ग्रहण नही कर सकता।

विषयो मे तीव्र आकर्षण होता है जो व्यक्ति को अपनी ओर खीचकर पतन की ओर उन्मुख कर देता है। इन्द्रिय-सुख भोगासक्त व्यक्ति को सच्चे सुख ही प्रतीत होते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि वे सुख नही, केवल सुखाभास ही है। मनुष्य की चित्तवृत्ति जब तक उनमे रमण करती रहती है, वह शुद्धता की ओर नही बढ सकती। आत्म-स्वरूप का चितन नही कर सकती तथा आत्मा को ससार मुक्त कराने के अपने ध्येय मे सफल नही हो सकती। मनुष्य जब तक विषय-विकारो मे आसक्त रहता है, यह भूल जाता है कि ससार के क्षणिक सुख उसे चिरकाल तक घोर दुख देगे तथा दुर्गति का कारण बनेंगे--

"सल्ल कामा विस कामा कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा अकामा जति दुग्गई॥'

शब्द-रूप रसादि के भोग शल्यरूप है विष है। आशीविष के समान है। इनकी अभिलाषा करने वालो को अनिच्छा से दुगति मे जाना पडता है।

इसीलिए महापुरुष जो ससार से मुक्त होने के लिए व्याकुल रहते है। विषय-विकारो का विषधर सर्प के समान समझकर दूर भागने की चेष्टा करते हैं।

शुभ मगल सावधान!

नारायण नामक एक बालक बचपन से ही ससार से विरक्त सा रहता था। उसका अधिक समय भजन, पूजन, ज्ञान ध्यान एव तप मे बीतता था। नारायण की माँ अपने पुत्र का ब्याह कर पुत्र-वधू का मुह देखने के लिये उतावली थी। अत बारह वर्ष की अवस्था मे ही उसने पुत्र का ब्याह रचा दिया।

किशोर नारायण बडी धूम-धाम और बाजे-गाजे के साथ बरात के साथ रवाना हुआ। तथा विवाह के लिए अपने श्वसुर-गृह के द्वार पर पहुँचा।

जिस समय विवाह-मण्डप मे मगलाष्टक शुरू हुए, ब्राह्मणों ने कहा—शुभ मगल, सावधान।'

नारायण ने मन ही मन इसका अर्थ लगाया—'संसार की दुखदायिनी बेडी तुम्हारे पैरो मे पडने वाली है अत सावधान हो जाओ।'

नारायण तत्काल उठकर वहाँ से भाग गया। वही नारायण वर्षों की कठोर तपस्या के बल पर पहले 'रामदास' कहलाया और फिर 'समर्थ' बन गया। सद्गुरु 'समर्थ' जो शिवाजी के गुरु थे।

इस प्रकार महान् आत्माएँ विषयो से दूर भागती है तथा उनसे विमुख होकर

अपनी आत्मा के कल्याण मे जुट जाती है। विषयों से विमुख होना ही आत्मोन्नति तथा आत्म-शुद्धि का प्रथम चरण कहलाता है। कहा भी है—

विषयेष्वति संरागो मानसो मल उच्यते।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्य समुदाहृतम्॥

विषयो मे अत्यन्त राग ही मन का मैल है और विषयो से वैराग्य होने को ही निर्मलता कहते है।

कषाय

तीसरा प्रमाद कषाय को माना गया है। कषायो के द्वारा आत्मा का जितना अहित होता है, उतना अन्य किसी भी शत्रु के द्वारा नही होता। कषाय कर्म-बन्ध के सबसे प्रबल कारण हैं और यही आत्मा को समस्त योनियो मे भटकाते है। जिनकी आत्माओ मे कषायो की अग्नि धधकती रहती है, अर्थात् कषायो के कारण जिनकी आत्मा मलिन है उन आत्माओ मे सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र का आविर्भाव नही होता। कषायो की तीव्रता के कारण ही आत्मा अधःपतन की गहरी खाई मे गिरती जाती है तथा आत्मोत्थान की कल्पना कभी साकार नही बन पाती। मन मे कषायो के प्रवेश करते ही अन्य समस्त सद्गुण एक-एक करके बाहर निकल जाते है। क्योकि दुर्गुणो का तथा सद्गुणो का कभी मेल नही होता। शास्त्रो मे बताया भी है—

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेई लोभो सव्व-विणासणो॥

—दशवैकालिक सूत्र

—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ तो हृदय के समस्त सद्गुणो को ही नष्ट कर देता है।

क्रोध का आवेश तो अल्प-समय के लिए होता है, किन्तु उससे वैर का जब जन्म हो जाता है तो वह बहुत लम्बे समय तक और कभी-कभी तो जीवन के अन्त तक रहता है। इसके अलावा भी हमारा इतिहास साक्षी है कि वैर अनेक जन्मो तक भी शान्त नहीं होता। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव मे भगवान महावीर के जीव ने शय्यापालक के कानो मे गरम-गरम शीशा डलवाया था। परिणामस्वरूप उसी जीव ने गोपालक के रूप मे भगवान महावीर के कानो म कीलें ठोके।

इसी प्रकार कमठ सन्यासी दस भवो तक निरन्तर भगवान पार्श्वनाथ को उपसर्ग देता रहा। महात्मा गाँधी ने भी क्रोध की भर्त्सना करते हुए एक स्थान पर लिखा है —

"क्रोध वह प्रचड अग्नि है, जिसे मनुष्य अगर वश मे नही कर लेता तो स्वय को जला डालता है। और वश मे कर लेने पर उसे बुझा देता है।"

मैं स्वीकार नहीं करता

एक ब्राह्मण गौतम बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु बन गया । उसका एक सबधी इससे अत्यन्त कुपित हुआ और आकर बुद्ध को गालियाँ देने लगा । बहुत देर तक गालियाँ देने के पश्चात् जब वह थककर चुप हो गया तो तथागत ने पूछा—

"क्यो भाई ! तुम्हारे यहाँ अतिथि आते है कभी ?"

"क्यो नही आते ?" उत्तर मिला ।

"तुम उनका आदर-सत्कार करते हो ?"

"अतिथि का सत्कार कौन मूर्ख नही करता ?"

"मान लो, तुम्हारी दी हुई वस्तुएँ अतिथि स्वीकार न करे तो कहाँ जायेगी ?"

मन्नाया हुआ व्यक्ति बोला—"जायेगी कहाँ ? अतिथि नही लेगा तो क्या मेरे ही पास रहेगी ।"

"तो भाई ! तुम्हारी दी हुई गालियाँ मैं स्वीकार नही करता ।" बुद्ध ने परम शांति से कहा ।

ब्राह्मण तथागत की यह बात सुनकर अत्यन्त लज्जित हुआ और चुपचाप वहाँ से चला गया ।

महापुरुष इसी प्रकार क्रोध की आग से अपने आपको तथा दूसरो को भी जलने से बचा लेते है । अन्यथा साधारण व्यक्ति तो अपना सर्वनाश कर ही लेता है । गीता म भी बताया गया है —

क्रोधाद भवति समोह समोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

—क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रात हो जाती है, स्मृति भ्रांति से बुद्धि का नाश हो जाता है, और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वय नष्ट हो जाता है ।

निद्रा

तीसरा प्रमाद अधिक निद्रा लेना है । वह भी मानव के लिये त्याज्य है । अधिक निद्रा लेने का परिणाम है धर्माराधन, ज्ञान-ध्यान आदि मे कमी होना । स्वाभाविक ही है कि जो व्यक्ति प्रात काल मे देर तक सोता रहेगा वह ब्राह्ममुहूर्त मे किये जाने वाले स्वाध्याय, ध्यान, प्रार्थना तथा पठन-पाठन आदि से वचित रहेगा । यद्यपि यह सत्य है कि —

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्य सुख-निस्पृहचेतस ।
निद्रा सतोषतृप्तस्य स्वकाल नातिवर्तते ।।

—जो मनुष्य सदाचारी है, विषय-भोग से निस्पृह है, उसको समय पर निद्रा आए बिना नही रहती ।

किन्तु दिन भर के शक्ति-क्षय की पूर्ति तथा नवीन स्फूर्ति-ग्रहण के उद्देश्य की पूर्ति के अलावा जो व्यक्ति अधिक समय तक सोता है वह नाना प्रकार के शारीरिक व मानसिक विकारो का शिकार बनता है। किसी ने ठीक ही कहा है —

"निद्रा व्याधिग्रस्त की माता, भोगो की प्रियतमा और आलस्य की कन्या है।"

कबीर ने भी अपने एक पद्य मे बडे सुन्दर ढग से बताया है कि किसे सोना चाहिये और किसे जागना चाहिये ? उन्होने कहा है —

सोता साध जगाइये, करे नाम का जाप।
यह तीनो सोते भले, साकत, सिंह औ सांप॥

वास्तव मे ही विषधर प्राणी अधिक समय तक सोते रहें तो अच्छा, किन्तु सत, महात्मा और साधक को तो अल्प-निद्रा लेकर ही जाग उठना चाहिये। ताकि वे अपने समय का सदुपयोग कर सके तथा शांतचित्त मे धर्माराधन कर सकें।

प्रमाद मनुष्य के जीवन का सबसे बडा शत्रु है। जो व्यक्ति इसका शिकार हो जाता है वह जीवन म कदापि उन्नति नही कर सकता। नींद इसका प्रथम लक्षण है। यजुर्वेद मे कहा है —

भूत्यै जागरणम अभूत्यै स्वप्नम्।

—जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है तथा सोना दरिद्रता का मूल है।

अत प्रत्येक मुमुक्षु को प्रमाद के द्वारा होने वाली हानियो को समझकर इस दोष से अपने आपको दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

विकथा

पाँचवा प्रमाद है विकथा करना। जिन बातो म कोई सार नहीं होता ऐसी ब सिर-पैर की तथा इधर-उधर की बाते करके व्यर्थ मे ही कर्मों का बन्धन करना मनुष्य की अज्ञानता का लक्षण है।

कुछ व्यक्तियो की आदत होती है कि वे बिना प्रयोजन के ही स्त्रियो के सौन्दर्य, स्वभाव, चाल-ढाल आदि के बारे म, देश और विदेश की भूतकाल या वर्तमानकाल की घटनाओं के विषय म, राज्य की अथवा सरकार की व्यवस्था, नियमादि के विषय मे तथा यह सब न होने पर और कुछ नही तो सरस और नीरस भोजन-सामग्री आदि के विषय मे ही प्रलाप किया करते है। ऐसी निरर्थक बाते करते समय वे भूल जाते है कि इससे कर्म-बन्धन तो होता ही है, साथ ही उनका बहुत सा अमूल्य समय भी व्यर्थ चला जाता है।

बन्धुओ, यह मत भूलो कि कहे हुए शब्द और बीता हुआ समय, ये पुन लौट-कर नही आ सकते। समय को तो ससार मे सबसे शक्तिशाली अर्थात् परमात्मा से भी अधिक बलशाली माना जाता है। क्योकि भक्ति साधना और पूजा आदि से भगवान को बुलाया जा सकता है पर बीते हुए समय को तो कोटि-प्रयत्न करके भी वापिस

नही लौटाया जा सकता। भगवान महावीर ने इसीलिये गौतम स्वामी से बार-बार कहा —

'समय गोयम ! मा पमायए'

—हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भगवान की यह चेतावनी केवल गौतम स्वामी के लिये ही नही थी। मनुष्य मात्र के लिए है कि अपने जीवन के अनमोल क्षणो को बर्बाद न करके उन्हे आत्मोत्थान मे लगाओ। अन्यथा समय किसी की परवाह न करते हुए चलता चला जाएगा और हमे ही अन्त मे पश्चात्ताप करना पडेगा कि कैसे सुनहरे समय को हमने विकथाओ मे बर्बाद कर दिया। पश्चात्ताप ग्रस्त किसी व्यक्ति के उद्गार भी है।

इस पहर जो भी मिला फिर वो उस पहर न मिला।
यानी जो शाम मिला था वो फिर सहर न मिला।'

इसलिये भाइयो ! अहकार, विषय, कषाय, निद्रा एव विकथा रूप प्रमाद को हमे अपने जीवन से निकालना है। क्योकि इनके होते हुए हम कभी भी आत्मोत्थान के अपने ध्येय मे सफल नही हो सकते।

सतों का सत्प्रयत्न

बधुओ, सत-महात्माओ की बडी कृपा है कि वे अपने समीप आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सत्पथ बताते है। उनका उपदेश, उनकी सहज मे की हुई बातचीत तथा उनका जीवन ही मानव के लिये प्रेरणाप्रद बन जाता है। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सत तुकाराम जी कहते है —

काय सागु आता, सताचे उपकार,
भग निरतर जागा बीती ॥१॥
काय द्यावे त्यासी व्हावे उतराई
ठेविती हा पायीं जीव थोडा ॥२॥

सतो के उपकार का मैं क्या वर्णन करूँ ? मैं मोहरूपी नीद मे पडा हूँ पर वे निरन्तर मुझे जगाते है। कहते है— सोते-सोते तो अनन्त जन्म बीत गए। न जाने कितनी बार जन्म और मरण को प्राप्त हुए हो, पर अब न जाने कितने पुण्यो के सयोग से मानव-पर्याय मिली है, बुद्धि और विवेक प्राप्त हुआ है, सतो के समागम का अवसर मिल सका है, अगर इतने शुभ सयोग मिलने पर भी तुम नही जागे तो फिर कब जागोगे ?

हिन्दी भाषा के अन्य कवि ने भी कहा है —

'इस मोह नींद मे तुम्हे, सोना न चाहिये !
सोना न चाहिये तुम्हे, सोना न चाहिये !
जाना है, तुम्हें दूर, विकट पथ अकेला,
रास्ते मे कांटे शूल को बोना न चाहिये।

कवि ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि इस मोह-रूपी निद्रा मे अब तुम्हे सोना नही चाहिये। तुम्हारा लक्ष्य-स्थान जो कि 'मोक्ष-धाम' है बहुत ही दूर है, और पथ बडा बीहड है। इसे पार करना ही प्रथम तो बडा कठिन है और अगर तुमने अपने कुकृत्यो द्वारा अशुभ कर्म-रूपी काँटे और भी इसमे बिखेर दिए तो फिर यह किस प्रकार तय किया जा सकेगा ?

हमे भी साधु बनाएंगे क्या ?

बधुओ, प्रवचन सुनते-सुनते और सत-महात्माओ की चेतावनियो से घबराकर कोई भाई यही कह देगा कि 'महाराज आपने तो सिर मे राख मल ली और साधु हो गए, अब हमे भी यही करने को कह रहे है क्या ? हम भी साधु बन जाएँ अगर सभी साधु बन गए तो फिर भिक्षा कौन देगा ?

उत्तर मे हमारा यही कहना है कि आपको भिक्षाचरी की चिन्ता करने की आवश्यकता नही है। साधु बनना इतना सहज नही है कि प्रत्येक साधु बन सके —

शैले-शैले न माणिक्य, मौक्तिक न गजे-गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दन न वने-वने ॥

प्रत्यक पर्वत पर माणिक्य नही होता और प्रत्येक हाथी के मस्तक मे मोती नहीं निकलता, सर्वत्र साधु नही मिलते और सब वनो मे चन्दन नही होता।

कहने का अभिप्राय यही है कि ऐसे व्यक्ति विरले ही होते है जो अपनी विषय-वासनाओ पर विजय प्राप्त कर लेते है, भोग-विलास जिन्हे सर्वनाश के समान दिखाई देता है और सासारिक सुख मृत्युवत भयकर लगते है। इन्द्रिय-जनित सुख की कामनाओ के ऐसे विजेता ही ससार से विरक्त होकर साधु-वृत्ति को अपना सकते हैं।

आत्म-साधना के मार्ग पर वीर और दृढता से सम्पन्न व्यक्ति ही चल सकते हैं। कायर व्यक्तियो के कदम इस पथ पर नही बढते। हमारे शास्त्रो मे कहा भी है —

जहा दुक्ख भरेउ जे, होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्ख करेउ जे, कीवेण समणत्तण ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १६-४१

जिस प्रकार कपडे की थैली को हवा स भरना कठिन है, उसी प्रकार कायरता से सयम पालना कठिन है।

कहने को तो आप लोग कह देते है कि—साधु जीवन बडे आनन्द का है। न पैसा कमाने के लिये परिश्रम करना पडता है और न ही अन्य कोई फिक्र रहती है। स्वादिष्ट भोजन और आवश्यकतानुसार वस्त्र आदि सभी चीजें इच्छा होते ही प्राप्त की जा सकती हैं। ऊपर से लोग आ-आकर चरणो मे मस्तक झुकाते हैं।

मेरे भाई ! अगर ऐसा ही है, अर्थात् साधु-जीवन इतना आनन्दमय है तो फिर देरी किस बात की ? आ जाओ, और बनो साधु ! पर क्या सभव है ऐसा ?

आज अगर जोर देकर कहूँ कि सबको साधु बनना है तो शायद कल यहाँ पर एक भी श्रोता दिखाई नही देगा। हम सत ही अकेले होगे।

ससार असार है

एक सत के पास चार व्यक्ति आए। सत ने उनसे अपने-अपने अनुभवो के विषय मे पूछा—

एक व्यक्ति बोला—"महाराज! ससार का प्रत्येक व्यक्ति मक्कार है। और किसी न किसी तरह से अपना स्वार्थ-सिद्ध करने मे ही लगा हुआ है।"

दूसरा बोला—"क्या बताऊँ! आज दुनिया मे इतनी अप्रामाणिकता बढ गई है कि किसी का भी विश्वास नही किया जा सकता।"

अब तीसरे का नम्बर आया। उसने कहा—"ससार मे सब सबधी मतलब के सगे है। जहाँ स्वार्थ-सिद्ध होने की सभावना नही होती, कोई बात भी नही पूछता।"

तीसरे की बात समाप्त होते ही चौथा बोल पडा—"भगवन्! इस ससार मे सुख-शाति तो कही है ही नही, चारो तरफ दुख, दरिद्रता और चिन्ताओ का ही साम्राज्य है।"

सत ने चारो व्यक्तियो की बाते शाति से सुनी और फिर कहा—"अगर ससार ऐसा है तो भाई, तुम सब सन्यास ही क्यो नही ले लेते हो? ऐसी दुनिया मे रहने से क्या है? ।" पर सत आगे क्या कहते है यह सुनने के लिये चारो म से एक भी व्यक्ति वहाँ नही था।

तो बधुओ! आप सबका यही हाल है। आप ससार को दुखमय और साधु-जीवन को सुखमय कहते हो, किन्तु अगर इस सुखमय जीवन को अपनाने का आपसे कह दिया जाय तो बगले झाँकने लग जाते हो। साधु-जीवन वास्तव मे तो लोहे के चने चबाने जैसा है, यह ऐसी कसौटी है, जिस पर साधक के सयम, साहस, धैर्य, सहनशीलता, शाति और सतोष आदि की सच्ची परख होती है।

अधिक क्या कहा जाय? सत-जीवन सयम का मूर्त रूप है। मन और इन्द्रियो पर सयम रखने के साथ ही साधु को अपने हाथो तथा पैरो पर भी सयम रखना पडता है। शास्त्रो म कहा भी है—'हत्थसजए, पायसजए'। सत-जीवन की प्रत्येक क्रिया सयम को लक्ष्य मे रखकर ही की जाती है। वे जिस प्रकार त्याग, तपस्या, साधना आदि सयम को लक्ष्य मे रखकर करते है, उसी प्रकार उनका आहार करना, बोलना, मौन रखना और चलना-फिरना भी सयम की रक्षा करते हुए ही किया जाता है। और यह सब साधारण मनुष्यो के बल-बूते का काम नही है।

इसलिए, हम आपको साधु ही बन जाने के लिये नही कहते। हम यह कहते है कि—चाहे आप गृहस्थाश्रम म रहो, पर जल मे कमलवत रहो। ससार मे आसक्त

मत रहो। आत्मा से असली स्वरूप को मत भूलो। अपने विवेक और श्रद्धा को जागृत और दृढ़ रखो। ईश-स्मरण करो।

अभी तो लोगों को नाम-स्मरण करने को कहा जाय तो बहाने बनाते है कि—'काम बहुत रहता है, समय ही नही मिलता।' जब दस मिनट आत्मचिंतन करने की भी आपको फुरसत नही मिलती तो साधु बनकर सारा जीवन ही साधना और भक्ति मे बिताना क्या आपके लिये सभव है? नही, पर ऐसे काम क्योकर चलेगा? इस तरह तो अनेक जन्म बीत गय और यह मानव-जीवन भी बीता जा रहा है। तथा इस प्रकार आत्मा जन्म और मरण के चक्र मे पिसती जा रही है। आत्मा का गतव्यस्थान यह ससार नही है, वरन् मोक्ष-धाम है जोकि कवि के शब्दो मे 'बहुत दूर' है।

मजिल दूर है

आप कोस दो कोस जाते है तब भी साथ म रुपये-पैसे, खाद्य-सामग्री, पहनने क वस्त्र और वर्षाऋतु हो तो बरसाती और छाते वगैरह लेकर चलते है। शीत-ऋतु म ऊनी कोट, स्वेटर और रजाई-गद्दे भी साथ मे बाँधते है। किन्तु आत्मा को कहाँ जाना है? इसकी मजिल कहाँ है? इसका ध्यान है आपको? और फिर रास्ता इसका कैसा है? एक मारवाडी भजन मे कहा भी है —

उलट नदी के मार्ग चालणो, जाणो पेले रे पार।
आगल नहीं है हाट बाणिया, सबल लीजो रे लार।
भूलो मन भवरा कांई भमे, भमियो दिवस ने रात।
माया रो लोभी प्राणियो, मरने दुर्गति जात।
भूलो मन।

बात वही की वही है, चाहे हिन्दी मे कही जाय, मराठी मे कही जाय, सस्कृत म कही जाय अथवा मारवाडी मे कह दी जाय। जीवात्मा अनन्त काल से मोह-माया मे फसा है, और प्रमाद का नीद मे सोया हुआ है। उसे जगाने का ही यह प्रयत्न है। जो व्यक्ति मोह मे अन्धा हो जाता है वह, जो काम करना चाहिये, उसे नही करता और जिस काम को नही करना चाहिये वह कर बैठता है। ऐसा करने से उसके उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो सकती है?

और फिर आत्मा को ससार-मुक्त करन का उद्देश्य तथा उसके लिये किया जान वाला प्रयत्न तो अत्यन्त कठिन है। कठिन ही नही, अगर यह भी कहा जाय कि पानी के प्रवाह के सामने चलना है, तो भी अतिशयोक्ति नही है। आप जानते ही है, जब सामने की हवा होती है आपको पैदल चलने मे या साइकिल पर चलने मे भी बडी कठिनाई महसूस होती है। तब फिर उमडती हुई तेज प्रवाह वाली नदी के सामने चलना तो कितना कठिन और असम्भव-प्राय ही हो जाता है। इस पर भी चलना

कवल दो-चार कदम ही नही, वरन् अगले किनारे और कवि के शब्दो मे पेले पार पहुचना है।

आगल नहीं है हाट वाणिया सम्बल लीजो रे लार !

कितनी माव-मरी बात है। मुक्ति-पथ के पथिक को कवि केवल मार्ग की कठिनाइयाँ ही नही बता रहा है। वह यह मी बता रहा है कि इस लम्बी मजिल वाले बीहड माग मे कही दुकान या हाट नही है जिस पर तुम्हारे थकान से चूर हुए शरीर को विश्राम और कुछ उदरपूर्ति के लिये सामान मिल जाय। अत तुम पहले ही चतुराई पूर्वक रास्ते के लिय सम्बल ले लो। अर्थात् खर्ची अपने साथ ले चलो।

वह खर्ची क्या है ? शुभ-कर्मों का सचय, पुण्यो का उपार्जन। शुभ कर्मों का सम्बल ग्रहण करके ही मुमुक्ष साधना-पथ को तय कर सकता है अर्थात् शुभ-कर्म करने पर ही मनुष्य मुक्ति रूपी शुभ फल को प्राप्त कर सकता है। महाभारत म कहा गया है —

शुभेन कर्मणा सौख्य, दु ख पापेन कर्मणा।
कृत फलति सर्वत्र, नाकृत भुज्यते क्वचित् ।।

— वेदव्यास

--शुभ-कम करने से सुख और पाप-कर्म करने मे दुख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सवत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्म का फल कही नही भोगा जाता।

इसलिय बधुओ ! पुण्यो का उपार्जन करो, वही तुम्हारे साथ जायेगा। भक्ति करो वह साथ जाएगी, सेवा करो साथ जाएगी, नाम-स्मरण साथ जाएगा। आप देश, जाति और धर्म की सेवा करो, सघ की सेवा करो। धन सम्पत्ति, शारीरिक सुख, मान-बडाई आदि की आकाक्षा न रखते हुए अहकार से रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धन के द्वारा सम्पूण प्राणियो के हित म रत होकर उन्हे सुख पहुचाने की चेष्टा करना सच्ची सेवा कहलाती है। सेवा ही वास्तविक सन्यास है। सन्यासी अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है किन्तु सेवा-व्रतधारी पुरुष परमार्थ की वेदी पर बलि दे देता है। सेवा किये विना कोई मानव महामानव नही बन सकता। सेवा के परिणामस्वरूप ही अनेकानेक पुण्यो का उपार्जन होता है, जो कि मुक्ति-रूपी मजिल के यात्री का सबल बनता है।

इस मजिल के राही को तीन कठिनाइयो से मुकाबला करना पडता है। प्रथम है मजिल की अत्यधिक दूरी, दूसरी रास्ते की विकटता, और तीसरी एकाकी होना। आपको थोडा-सा भी रास्ता तय करना हो तो सहयात्री की इच्छा करते हैं। क्योकि साथी होने से माग सुगमता से कट जाता है और कठिन मार्ग पर पर्वत आदि की ऊँचाई पर सभी एक-दूसरे के सहायक भी बन जाते है। पर मुक्ति की ओर जाने

वाले दुस्तर पथ पर अकेले ही चलना पडता है, न कोई साथी ही उस समय काम आता है और न रास्ते मे कोई अन्य सुविधा ही प्राप्त हो सकती है।

इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए हमे साथ मे खर्ची तो रखनी ही है, इस बात का भी पूरा खयाल रखना है कि कही हमारे कुकृत्यो से पथ मे शूल न बिखर जायँ। चोरी करना, झूठ बोलना, मदिरापान करना, माँस-भक्षण करना तथा झठी गवाही और झूठे कलक आदि लगाना ही मार्ग मे शूल बिखेरना है। अत इनमे प्रत्येक व्यक्ति को बचना आवश्यक है।

साधु भूखा भाव का

सत तुकाराम जी कहते है—'मुझे सतो ने जगाया, मुझ पर महान उपकार किया। उसके लिये मैं उन्हे क्या दू।'

सतो के लिये सोना, चाँदी और रुपया-पैसा मिट्टी के समान है। उन्होने तो इन सबको पहल ही छोड दिया है और जिस चीज को छोड दिया उसकी वे स्वप्न म भी आकाक्षा नही करते। उनकी सबसे बडी शक्ति त्याग है। त्याग का महत्त्व अवर्णनीय है। त्याग के बिना मुक्ति की अभिलाषा कभी पूण नही हो सकती। आज तक कर्म से, धन से, अथवा सतान से किसी व्यक्ति ने अमृत-रूप मोक्ष प्राप्त नही किया है। उसे अगर किसी ने प्राप्त किया तो एकमात्र त्याग से ही। कहा भी है—

द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥

बन्धन और मोक्ष के दो ही आश्रय है—ममता और ममता-शून्यता। ममता से प्राणी बन्धन मे पडता है और ममता रहित होने पर मुक्त हो जाता है।

आशा है आप समझ ही गये होगे। श्लोक का भावार्थ यही है कि मनुष्य जब तक सासारिक पदार्थों तथा सासारिक सबधो मे ममता रखता है अर्थात् आसक्ति रखता है, तब तक वह ससार मे मुक्त हो जाता है।

सत ऐसे ही त्यागी होते है तथा दूसरो को भी त्याग का उपदेश देते है। वे भौतिक पदार्थों के समान क्रोध, मान, माया तथा लोभादि विकारो को भी त्याज्य मानते है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती को अनूप शहर मे किसी व्यक्ति ने पान मे विष दे दिया। जब लोगो को यह ज्ञात हुआ तो उनमे क्रोध की आग भडक उठी। उन्होने अपराधी को पकडकर वहाँ के तहसीलदार सैय्यद मुहम्मद, जो कि स्वामी जी के भक्त थे, उनके समक्ष उपस्थित किया।

तहसीलदार ने स्वामी जी से पूछा, "आप बताइये, इसे कौनसा कठोरतम दण्ड दिया जाय?"

स्वामी दयानन्द जी कुछ गम्भीर होकर बोले—"इसे छोड दो, मैं ससार के प्राणियो को कैद कराने नही, मुक्त कराने आया हूँ।"

क्रोध व बदले की भावना के त्याग का कितना सुन्दर उदाहरण है ? आधुनिक काल मे कितन व्यक्ति ऐसे मिलते है ? आज तो ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाता है। धन पैस के मामले मे मनुष्य एक दूसरे के खून का प्यासा बन जाता है। थोड़े से पैसो के लोभ मे पडकर भी मनुष्य किसी के जीवन दीप को बुझाने के लिए तैयार हो जाता है। ऐस व्यक्तियो से पूछने की इच्छा होती है—

नाग-सी फुफकार लेकर आप आये हैं,
दीप के निर्वाण का सन्देश लाये हैं।
पर बुझाने से प्रथम यह तो कहो अब तक—
आपने कितने बुझे दीपक जलाये है ?

बधुओ, किसी का बुरा करना सरल है, कठिन है किसी का भला करना। आपको सतो के उपदेश से अपनी आत्मा को निर्मल और विकार रहित बनाने का प्रयत्न करना है। यही सत आपसे चाहते है। वे आपके धन माल के भूखे नही है, वे भूखे ह भाव के। उन्ह कोई भी और चढावा नही चाहिए। केवल आपकी शुद्ध भावना चाहिय।

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाय।

आपकी भावना को देखकर ही हमे सतोष होता है। सच्ची भक्ति से तो भगवान भी वश म हो जाते ह तो सतो को प्रसन्न करना क्या बडी बात है ?

भगवान कहाँ रहते है ?

एक बार श्रीकृष्ण से किसी भक्त ने पूछ लिया—भगवन् ! आप कहाँ रहते है ? कैसा प्रश्न पूछा, सीधा हा। वास्तव मे इस कला मे तो आप लोग बहुत होशियार होत है ! तो एक भक्त न कृष्ण से उनके निवासस्थान के विषय मे पूछा। और श्रीकृष्ण न उत्तर दिया—

'मद् भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि भारत !'

अर्थात् मेरे भक्त लोग जहाँ मुझे याद करते है, मैं वही रहता हूँ।

भगवान पूजा मे !

एक बार नारदऋषि घूमते-घामते द्वारिका मे आ पहुचे। कृष्ण भगवान को खोजते हुए वे सीधे महल के अन्दर तक चले गए। क्योकि उनके लिये कही भी आने-जाने म कोई रोक-टोक नही थी। पर महल के अन्दर भी जब कृष्ण उन्हे दिखाई नही दिय तो उन्होन रुक्मिणी स पूछ लिया—"नटवर कहाँ है ?"

रुक्मिणी ने उत्तर दिया—"पूजा कर रहे है।"

सुनकर नारदजी चकित हुए। सोचने लगे—'त्रिभुवन के सत, साधु, ऋषि, मुनि, सिद्ध, योगी, त्यागी और भोगी सभी जिसे भगवान मानकर पूजते है, वे खुद किनकी पूजा करते है ?'

उत्सुकता के मारे वे कृष्ण के पूजा घर मे ही जा धमके पर वहाँ जाकर उन्होंने क्या देखा ? यही कि कृष्ण भगवान अपने भक्तो की मूर्तियो के सम्मुख ध्यानावस्थित बैठे हुए हैं ।

ऐसा होता है सच्ची भक्ति का प्रभाव । जो कि भगवान को भी अपने सामने झुका लेता है ।

सत आपसे कुछ नही चाहते, वे केवल आपके हृदय की शुद्धता और निर्मलता चाहते है, भक्तो का भगवान के लिये प्रेम चाहते है । इसीलिये वे आपके विवेक को जगाते है, आपकी आत्मा जो अनन्त काल से प्रमाद रूपी नीद मे सोई पडी हैं, उसे प्रबुद्ध करना चाहते हैं । प शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने भी मुक्ति-मार्ग के पथिक को बार-बार चेतावनी दी है —

ओ मुक्ति-मार्ग के पथिक ! न गाफिल होना-
मजिल तक पहुँचे बिना न पथ मे सोना ।
चेतन-गुण चोरेगी प्रमाद की सेना,
सोने का भारी मूल्य पडेगा देना ।
दस्यु प्रमाद ने गहरी ताक लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी !

कितनी सुन्दर शिक्षा है ! सहज और सीधी भाषा मे लिखी गई इन बातो को समझाने की आवश्यकता नही है, आप समझ ही गए होगे कि मुमुक्षु अगर मजिल तक पहुँचने से पहले ही बेखबर होकर सो गया तो प्रमाद-रूपी लुटेरा जो ताक लगाए बैठा है, आत्मा के चैतन्य-गुण को चुरा लेगा और इस प्रकार प्राणी को उस निद्रा का बडा भारी मूल्य देना पड जायगा ।

इसलिये आत्मार्थी बधुओ ! आपको सजग होकर अपनी मजिल की ओर बढना है, तथा अनत-काल से जिस भव-सागर मे आत्मा गोते लगा रही है, उसे पार कर अगले किनारे पर पहुँचना है । मारवाडी कवि की आत्मा जिस प्रकार व्याकुलता-पूर्वक कह रही है—

जाणो पेले रे पार ।

इसी प्रकार की छटपटाहट आपको भी इस भव-सागर से पार होने के लिये रखनी है तभी आप परमात्म-पद की प्राप्ति कर सकेंगे । ईश-प्राप्ति कैसे हो सकती है एक उदाहरण से भी यह स्पष्ट हो जाता है ।

प्रभु-प्राप्ति का उपाय

एक साधक ने अपने गुरु से कहा—भगवन् ! मुझे साधना करते-करते इतना समय हो गया पर अभी तक ईश-प्राप्ति नही हुई । कृपया इसका सही उपाय बताइये ! गुरु उस समय मौन रहे, कुछ नही बोले ।

एक दिन वे दोनों ही नदी में स्नान करने के लिये गए। जब शिष्य ने पानी में डुबकी लगाई, गुरु ने उसे ऊपर से धर दबाया। शिष्य बहुत छटपटाया और बाहर निकलने पर बोला—गुरुदेव ! ऐसा क्यों किया आपने ?

मुसकराते हुए गुरु बोले—यह बताने के लिये कि जैसी छटपटाहट और आतुरता तुम्हें पानी से निकलने की थी, वैसी ही विकलता जब इस भव-सागर से बाहर निकलकर प्रभु से मिलने के लिये होगी तब प्रभु-प्राप्ति हो सकेगी।

शिष्य की आँखें खुल गईं। और अतीव श्रद्धा से उसने अपने गुरु को नमस्कार किया।

संत इसी प्रकार साधकों को बोध देते हैं। नाना प्रकार से समझाते हैं कि प्रमाद को त्यागो, विकार रहित बनो, संसार में रहकर भी इसमें लिप्त मत होओ, सुकृत करो, सेवा और सहिष्णुता को अपनाओ, तथा सद्गुणों का संचय कर पुण्योपार्जन करो। यही तुम्हारे मुक्ति-पथ का पाथेय बनेगा। यह वह खर्ची होगी, जिसका संबल लेकर तुम अपने गंतव्य तक पहुँच सकोगे।

संतों के उपदेश का यही महत्त्व और विशेषता है। अगर मानव उसे हृदयंगम कर ले, अपनी बुद्धि द्वारा उसे ग्रहण कर सके तो निश्चय ही आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ सकता है। दूसरे शब्दों में उपदेश अमृत-तुल्य है। अगर उसका सही उपयोग किया जाय तो वह अज्ञान मोह, माया और प्रमाद के गहन अन्धकार में भटकती हुई आत्मा को उसमें निकाल कर ज्ञान के अद्वितीय ज्योतिर्मय लोक में ले आता है। ज्ञान का महत्त्व अवर्णनीय है। कहा भी है —

"ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते।"

—भगवद्गीता

—ज्ञान रूप दिव्य अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

इसलिये बंधुओ ! अगर अपने कर्मों का क्षय करते हुए आपको मुक्ति मंजिल प्राप्त करनी है, तो अपने ज्ञान और विवेक को जागृत करो, आत्मशक्ति को बढ़ाओ और सत समागम से अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर दृढ़ श्रद्धा एवं साहसपूर्वक साधना-पथ पर बढ़ो ! मंजिल स्वयं आपके निकट आकर रहेगी।

११

यादृशी भावना यस्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

श्री रायप्रसेनी सूत्र मे सूर्याभ देवता अमलकप्पा नगर मे विराजते हुए भगवान महावीर प्रभु की तरफ अवधिज्ञान से देखते हुए उनके दर्शन कर रहे है। दर्शन करना, शुभ भावना लाना पुण्योपार्जन का मार्ग है।

भाव का महत्त्व

भाव का महत्त्व ससार मे बहुत अधिक माना जाता है। आप व्यवसायी हैं। किसी भी चीज का भाव आते ही 'दो-पैसे' कमाने की धुनि मे लग जाते है। भाव आए बिना असली और ऊँचे माल की भी कीमत नही होती, किन्तु भाव आजाए तो रद्दी से रद्दी माल भी मँहगे दामो पर निकल जाता है।

मैं प्राय व्यापारी लोगो से सुनता हूँ, कपास का व्यापार करने वाले कहते हैं—भाव आ जाने पर चाहे लाल पत्ती हो या काली पत्ती, कोई नही देखता। आप अच्छी तरह जानते होगे कि काली पत्ती क्या, और लाल पत्ती क्या ? काली पत्ती का भाव कम रहता है और लाल पत्ती जिसमे कोई दोष नही होता, भाव अधिक रहता है यही न ? मैं जानता नही केवल आप लोगो से सुनता हूँ। तो काली पत्ती, लाल पत्ती जैसी कब चलती है ? भाव आ जाने पर।

सुना है, अहमदनगर मे एक बडी किराने की दुकान है—खूबचन्द्र मुलतानचन्द्र की। उनकी दुकान मे एक बार एक थैला ऐसा आ गया, जिसमे सडी सुपारियाँ थी। ध्यान मे रखिये ! एक थैला सडी सुपारियो का माल के साथ आ गया। दुकान के मालिको ने उसे देखा और सोचा—यह सडी हैं, नही चलेंगी। उसे एक ओर रख दिया।

किन्तु कुछ दिनो बाद सुपारी का भाव आ गया और वह सडी सुपारी भी अच्छे भाव मे चली गई। इससे मालूम होता है कि भाव का बडा महत्त्व है। भाव ही नुकसान देता है और भाव ही नफा कराता है।

भाव और आत्मा

जिस प्रकार बाह्यपदार्थों के नफे और नुकसान का सबध भाव से है, उसी प्रकार आत्मा के नफे और नुकसान का सबध भी भाव से ही है। भाव आने पर आप जिस प्रकार बाह्य पदार्थों से धन कमा लेते है, ठीक उसी प्रकार शुभ-भाव आने पर आत्मा भी पुण्योपार्जन कर लेती है, अर्थात् पुण्य कमा लेती है।

पारमार्थिक दृष्टि से दान, शील और तप, यह माल है। यह माल पास मे रहेगा, और अगर भावना आ गई अर्थात् भाव आ गया तो फिर बेडा पार ही समझो। कहा भी है —

"दान-शील-तप सद्युद् भावेन भजते फलम् ॥"

—मुक्ति मुक्तावली

—भावना पूवक किया जाने वाला दान, शील और तप ही अपना श्रेष्ठ फल प्रदान करता है।

बिना भावना के किसी ने दान दिया, शील पाला और तप भी किया, तो भी वह उसमे कोई लाभ हासिल नही कर सकता। क्योकि भावना के बिना ये सब कार्य केवल दिखावा बन कर रह जाते है।

स्वर्ग और नर्क

किसी नगर मे एक वैरागी रहता था। उसके पडौस मे एक वेश्या का मकान था। दोनो के बीच मे केवल एक दीवार का ही अन्तर था। गणिका अपने शरीर का व्यापार करती थी, और वैरागी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए लोगो को दान, शील तथा तपादि का महत्त्व समझाते हुए उन्हे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता था। दोनो के व्यावहारिक जीवन म रात और दिन का अन्तर था।

किन्तु वेश्या यद्यपि शरीर का व्यापार करती थी पर उसकी भावना मे यह था कि मैं कितना घृणित कार्य करती हूँ, और यह वैरागी धन्य है जो ऐसे हीन कार्यों से अलिप्त रहकर धर्म-साधना कर रहा है तथा लोगो को भी सत्पथ दिखा रहा है। वह धर्म की प्रतिमूर्ति उस वैरागी के दर्शन की भी आकाक्षा रखती थी।

दूसरी ओर वैरागी ब्रह्मचर्य तप की आराधना करता, जनता को धर्म का महत्त्व समझाता तथा अनेक धर्म-क्रियाएँ करता हुआ भी गणिका के जीवन को सुखमय मानता था। तथा छुप-छुप कर उसके रूप-रग व साज-सज्जा को निहारा करता था।

एक दिन मौका पाकर उसने वेश्या को पुकारा। वेश्या प्रसन्न हुई कि आज मुझे ऐसे धर्मात्मा पुरुष से बात करने का सुअवसर मिला। तब तुरन्त उसके समीप आ खडी हुई।

वैरागी का मन मलिन था और वह उसके सौन्दर्य से अपने नेत्रों को तृप्त करना चाहता था। किन्तु प्रत्यक्ष मे उसने गणिका को समझाया—"यद्यपि तुम

शरीर का व्यापार करती हो, पर तुम्हें ईश्वर का भी ध्यान रखना चाहिये । अपने पास आने वाले को स्पष्ट समझा देना चाहिये कि तुम पैसे की भूखी हो । जब तक पैसा मिलेगा उससे सम्बन्ध रखोगी और पैसे के समाप्त होते ही धक्के देकर निकाल दोगी । साथ ही अपने पैसे को सत्कार्य मे लगाओ और मन को ईश्वर की भक्ति मे तन्मय करो ।"

वैरागी की जबान से इन उपदेशो को सुनकर वेश्या अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने अपने आपको बदल लिया । उस समय के बाद से ही उसने अपने पास आने वालो को समझाना प्रारम्भ किया—"भाई ! यहाँ क्यो आते हो ? अपनी पत्नी के अलावा किसी भी अन्य स्त्री का ससर्ग करना पाप है, आदि आदि ।" अपने प्रयत्न के परिणामस्वरूप उस गणिका ने अनेक व्यक्तियो के चरित्र को सुधारा और अन्त समय मे शुभ भावना की परिणति होने के कारण स्वर्ग प्राप्त किया ।

किन्तु वैरागी, जो कि धर्म क्रियाएँ और धर्मोपदेश करता था, ब्रह्मचर्य का पालन करता था, अपनी मलिन भावनाओ के कारण नरक मे गया ।

यह चमत्कार था भावनाओ का । भावनाओ के कारण ही दोनों के कार्य-कलाप भिन्न होने पर गति भी भिन्न हुई । उनकी गतियाँ उनकी क्रियाओ के अनुसार नही, वरन् भावनाओ के अनुसार हुई थी । भावनाओ की शक्ति कितनी जबर्दस्त होती है इस विषय मे हमारे शास्त्र कहते है—

"य सप्तमीं क्षणार्धेन नयेद्वा मोक्षमेव च ।"

—योगसार

—मनोबल अथवा भावनाएँ इतनी प्रबल होती है कि जिस आधे क्षण मे भावनाओ की निकृष्टता के कारण सातवी नरक का बध पड सकता है, उसी आधे क्षण मे कर्मों का सर्वनाश करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है ।

केवल भावनाएँ ही काफी नहीं हैं क्या ?

बन्धुओ ! अनेक व्यक्ति कहते हैं तथा आपके मन मे भी ऐसे विचार आ सकते है कि अगर भावना मे इतनी शक्ति है तो दान देने, शील पालने और तप करने मे क्या लाभ है ? केवल भावना ही काफी नही है क्या ? भावना से हो तो सब कुछ सिद्ध हो सकता है ।

ऐसी बात नही है । दान-शील और तप के साथ-साथ ही भावनाएँ अत्युत्तम होनी चाहिए । दान, शील और तप ये तीन प्रकार के माल हैं । यह माल अगर आपके पास रहा तो कभी भाव के आते ही आप निहाल हो जाएँगे । आप मेरी बात समझ तो रहे हैं न ? आपकी ही भाषा है यह ! वैसे भाव-ताव की बात आप जरा जल्दी समझते हैं इसीलिए मैं आपको आपकी भाषा मे समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।

तो मेरे, कहने का आशय है कि दुकान मे अगर माल होता है तभी भाव आने पर लाभ उठाया जा सकता है। अगर वह आपके पास नहीं रहा तो फिर भाव आया भी तो किस काम का ? सोने का भाव बढा, पर अगर सोना है ही नही तो सोने का भाव आया हुआ किस काम का ? जिस वस्तु का भाव आता है, वह वस्तु आपके पास हो तभी तो भाव से लाभ उठाया जा सकता है।

दान, शील और तप का भावना सहित आराधन करने से तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन होता है। तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन करने मे बीस बाते कारण होती हैं। वे सभी बाते 'ज्ञाताधर्म कथासूत्र' के मल्लिनाथ भगवान विषयक अध्ययन मे बताई गई है। उन बीस कारणो मे दान, शील और तप भी आते है। यही वह अमूल्य माल है जो भाव के आते ही नफा देता है। दोनो ही एक-दूसरे के लिए आवश्यक है, क्योंकि माल हो और भाव न हो, या भाव हो और माल न हो तो किसी भी एक से कुछ लाभ उठाया नही जा सकता।

भावना की शक्ति

भावना की शक्ति बडी जबर्दस्त होती है। आप दान देंगे, शील पालेंगे तथा तप भी करेंगे, किन्तु हृदय मे भावना नही होगी तो ये सब कार्य ऊपरी और दिखावे के बन जायेंगे। तथा इन कार्यों मे कोई ताकत नही रहेगी।

आप जानते ही है कि माता अपने बालक को दूध पिलाती है, उस दूध मे जितनी शक्ति होती है, उतनी ऊपरी दूध मे नही होती। ऊपर के दूध और माता के दूध मे बडा अन्तर होता है। वह क्यो ? इसलिए कि माता का दूध भावनापूर्वक पिलाया जाता है, उसके हृदय मे अपने बालक के लिए असीम प्यार होता है, वात्सल्य की भावना होती है इसीलिए दूध बच्चे के लिए अमृत बन जाता है।

दूसरा दृष्टान्त आप पानी का ले सकते है। वर्षा के पानी मे जो ताकत है वह कुए और तालाब के पानी मे नही। वर्षा का पानी खेतो मे गिर जाय तो किसान भाई कहते है कि फिर महीने भर पानी की आवश्यकता नही रहती, अगर न भी बरसे तो। क्योंकि वर्षा का पानी महीने भर तक टिक जाता है। उसमे बहुत सरसाई रहती है। कुए का पानी बहुत चले तो सात दिन तक चल सकता है। तत्पश्चात् तो पानी देना ही पडता है, ऐसा मैं सुनता हूँ। पानी तो सभी है। कुए का भी, तालाब का भी और वर्षा का भी पानी, पानी ही होता है। पर उनमे अन्तर कितना है ?

ऐसा ही अन्तर भावनापूर्वक दान, शील और तप का आराधन करने मे, तथा इन्हीं क्रियाओ को भावना रहित केवल दिखावे के तौर पर करने मे है। मुस्लिम मजहब मे भी कहा है—

नमाज तुम हम सभी जो पढ़ते,
मगर है इतना फर्क जो धरते।

कोई खिलो से कोई खिलाने,
खुदा की बातें खुदा ही जाने।
खुदा की कुदरत को कौन जाने ?
खुदा की बातें खुदा ही जाने।

जिस प्रकार हमारे यहाँ सामायिक है, प्रतिक्रमण है, वैष्णव समाज मे सध्या-वदन आदि है इसी प्रकार मुस्लिम समाज मे नमाज है। भावना सब जगह एक सी है। सभी भगवान की ओर लौ लगाते है। फर्क केवल भाषा मे है, भाव मे नही।

नमाज पढ़ने वाले कहते है—'ऐ खुदा! मैं गुनहगार हूँ, मेरे गुनाह माफ करो।' सध्या करने वाले भावना भाते है—"मेरे दिल के व्यवहार मे जो भी हिंसा हुई है, मेरे द्वारा किसी प्राणी का दिल दुखाया गया है तो भगवन् मुझे क्षमा करो!" हम लोग प्रतिक्रमण मे 'मिच्छामि-दुक्कड' लेते है, वह भी अपराधो की माफी मागना ही है। बस, नाम सब अलग रखते है। कोई अपनी प्रार्थना को प्रार्थना कहता है, कोई सध्या और कोई नमाज, पर यह प्रयत्न पापो से छूटने के लिए ही है। सच्चे हृदय मे और अन्त करण की सम्पूर्ण भावना से प्रार्थना करने वाला व्यक्ति दिखावा नही करता वह अपने इष्ट के लिए उद्यत रहता है। चाहे वह हिन्दू हो, ईसाई हो, वैष्णव हो या मुसलमान हो।

मै यहूदी, हिन्दू, और मुसलमान भी हूँ।

मुहम्मद सैयद एक बडे पहुँचे हुए फकीर थे। सम्पूर्ण परिग्रह का उन्होने त्याग कर दिया था और केवल खुदा की इबादत मे ही अपना समय व्यतीत करते थे। वे सदा एक भजन गाया करते थे, जिसका भाव था—

"मैं सच्चे सन्त भक्त फुरकन का शिष्य हूँ। मैं यहूदी भी हूँ, हिन्दू भी हूँ और मुसलमान भी हूँ। मन्दिर और मसजिद मे लोग एक ही परमात्मा की उपासना करते है। जो काबे मे सगे—असवद है वही दैर मे बुत है।"

सैयद की इन बातो के कारण अनेक व्यक्ति उसके दोस्त थे और अनेक दुश्मन। दाराशिकोह इनका भक्त था, किन्तु औरगजेब कट्टर दुश्मन। औरगजेब दारा का भी शत्रु था। अत वह सैयद साहब से चिढ़ता था। एक बार उसने इन्हे पकडवा मगाया। धर्मान्ध मुल्ला जो कि औरगजेब के पक्षपाती थे, उन्होने सैयद साहब को धर्म-द्रोही घोषित कर दिया तथा सूली की सजा सुनादी।

किन्तु सच्चे सत मुहम्मद सैयद अपनी सजा की बात सुनकर आनन्द मे उछल पडे और असीम उल्लास के साथ सूली पर चढ़ते हुए बोले—"ओह! आज का दिन मेरे लिये बडे सौभाग्य का है। जो शरीर अपने खुदा से मिलने मे अब तक बाधक था, वह इस सूली की बदौलत छूट रहा है। मेरे दोस्त! आज तू सूली के रूप मे आया है। परन्तु किसी भी रूप मे क्यो न आए, मैं तुझे पहचानता हूँ।"

सच्चे भक्त ऐसे ही होते है। वे प्रार्थना मे अन्तर नहीं मानते, चाहे वह किसी

भी भाषा मे क्यों न हो, वे भगवान मे अन्तर नही मानते चाहे उनका नाम कुछ भी हो। वे कहते है —

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी।
निजपद रमे राम सो कहिये, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री।

कितना सुन्दर पद्य है ? कवि आनन्दघन जी कहते है—अपने इष्ट को चाहे राम कहो, रहीम कहो, कृष्ण, महादेव, पार्श्वनाथ या ब्रह्मा कहो, कोई अन्तर नही है। आत्म-स्वरूप मे रमण करे, वह राम है, रहीम अर्थात् प्राणियो पर दया करे वह रहमान है, कर्मों को काटने का प्रयत्न करे वह कृष्ण है, ससार मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करे वह महादेव, आत्म-रूप को स्पर्श करे वह पार्श्वनाथ, और आत्मा की ही पहचान करे वह ब्रह्म है। अर्थात् आत्मा ही भगवत्-स्वरूप, चैतन्यमय और कर्म रहित है चाहे वह किसी भी नामधारी देह मे क्यो न रहे और उसे किसी भी नाम से क्यो न पुकारा जाय।

आवश्यकता केवल यही है कि ईश-चिन्तन, भजन, प्रार्थना, पूजा, सेवा, परोपकार, दान, शील-पालन, तथा तपादि क्रियाएँ अन्त करण की निर्मल भावनाओ के साथ की जाय। महाराज क्या कहेगे ? इसलिये नही, या समाज के व्यक्ति क्या कहेगे ? इसलिये भी नही। महाराज या समाज की दृष्टि मे धर्मात्मा दिखाई देने की भावना से जो किया जाएगा वह दिखावा होगा, उसका कोई मूल्य नही होगा, किन्तु अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए दिखावे मे बचते हुए जो व्यक्ति भावना-पूर्वक थोड़ा भी कुछ करेगा उससे भी वह अधिक लाभ उठा सकेगा।

जूठे बेरों ने मुक्ति दिलाई

आप सब जानते ही होगे कि रामचन्द्र जी जब सीता की खोज मे वन-वन भटक रहे थे, सयोगवशात् एक दिन शबरी के यहा जा पहुचे। शबरी भीलनी थी। भगवान को देखकर उसकी खुशी का पार न रहा। तथा बावली-सी होकर वह राम के आतिथ्य का प्रयत्न करने लगी। पर आतिथ्य करने के लिये वहाँ क्या था ? केवल बेरों की एक टोकरी, कुटिया मे रखी थी। हर्षातिरेक मे वह उसी को उठा लाई। और—

प्रभु के निकट ही बैठकर वह भीलनी भोली भली,
देने लगी बर बेर चुन-चुन प्रेम-अमृत की डली।
भिलनी खिलाने लग गयी, भगवान खाने लग गए।
इस योग से भव-रोग सारे भीलनी के भग गए।

लेती प्रथम चख बेर मीठा, राम को देती तभी ।
'लक्ष्मण ! रसीले बेर यह' भगवान यों कहते अभी ।

भक्ति के आवेश मे शबरी को यह भी भान न रहा कि मैं अपने जूठे बेर भगवान को खिला रही हूँ। बेर जूठे थे, किन्तु भावना कितनी उत्कृष्ट थी ? उस भावना के परिणामस्वरूप ही उसके कर्मों का नाश हुआ। भगवान को लगाया हुआ जूठे बेरो का भोग ही उसके भव रोगो के नाश का हेतु बन गया—ऐसा रामायण मे बताया गया है।

यह चमत्कार है भावना का ! निस्वार्थ भाव से किये गए नगण्य से आतिथ्य के द्वारा ही शबरी ने असीम लाभ हासिल किया। कर्म इसी प्रकार फल की आकाक्षा रखे बिना ही किया जाना चाहिये। कहा भी है—

तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष ॥

—भगवत्गीता

—फल की इच्छा छोडकर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करो। जो फल की अभिलाषा छोडकर कर्म करते हैं उन्हे अवश्य मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

निस्वार्थ भाव से किए गए कर्म ही शुभ-फल प्रदान करते है। इसलिये बधुओ, अपना कर्तव्य करते रहो। उसका फल क्या मिलेगा इसकी कल्पना मत करो ! तुम्हारे पास सोना है तो उसकी कीमत भाव आते ही अवश्य आएगी। वह निरर्थक नहीं जा सकता। आवश्यकता है तप, त्याग आदि समस्त शुभ—आचरणो को फल रहित और अनासक्त भाव से करने की।

नास्ति त्याग-सम सुखम्

त्याग के जैसा जीवन मे और कोई सुख नही है। वस्तुओ का सयोग होने पर भी स्व-इच्छा से उन्हे त्याग देना, उनसे मुँह मोड लेना ही सच्चा त्याग कहलाता है तथा अपूर्व सुख का कारण बनता है। वस्तु के प्राप्त न होने पर, उसके विनष्ट हो जाने पर अपने आपको उनका छोडने वाला या त्यागी समझ लेना गलत है। त्याग उसे कहत ह, जब इच्छा पूर्वक प्राप्त पदार्थों को छोडा जाय। किसी मजबूरी से पदार्थों का छूट जाना, त्याग करना नही कहलाता।

उदाहरण स्वरूप, एक व्यक्ति अशुभ-कर्म के उदय से बीमार पडा है। बीमारी के कारण उसने आठ दिन तक कुछ खाया-पिया नही तो क्या उसकी 'अठाई' हो गई ? क्या आप उसके आठ दिन के न खाने को आठ दिन की तपस्या मान लेंगे ? नही।

वास्तविकता तो यह है कि उस व्यक्ति की खाने की इच्छा थी पर खाया नहीं गया, इसलिए उसने नही खाया। त्याग करने की इच्छा से उसने खाना नहीं छोड़ा। अत वह तप नहीं कहला सकता। तप किसे कहते हैं ?

इच्छा निरोधस्तप —तत्त्वार्थसूत्र

इच्छा का त्याग करना ही तपस्या है।

व्यक्ति के शरीर मे किसी प्रकार की बीमारी नही है, घर मे किसी वस्तु का अभाव नही है, क्लेश का कोई कारण नही है। ऐसी स्थिति मे इच्छा पूर्वक उपवास करना तप है। वह तप नही है कि जिस दिन खाने के लिए नही मिला, रोजा रख लिया।

हमारी माताएँ और बहिने आए दिन झगड पडती है, कभी अपनी सास से, कभी बहू से और कभी जिठानी या देवरानी से। फिर क्या होता है? पूरे दिन का, या कभी-कभी तो दो-दो, तीन-तीन दिन का भी अनाहार। पर क्या वह तेले की तपस्या म आ सकता है? क्रोध से भूखा रहना या बीमारी मे भूखा रहना तप नही है, त्याग भी नही है। इच्छापूर्वक भोजन का त्याग करके उस समय को चिंतन-मनन म बिताना तथा धर्माचरण करना ही सच्ची तपस्या कहला सकती है। तथा त्याग की श्रेणी मे उसे लिया जा सकता है। ऐसे त्याग से ही आत्मा विशुद्ध और निष्कलंक बन सकती है। कहा भी है —

"त्याग एव हि सर्वेषा मोक्षसाधनमुत्तमम्"

—माल्लवीयश्रुति

समस्त प्राणियो के मुक्ति का उत्तम साधन प्राप्त-भोगो का त्याग कर देना ही है।

पृथिव्या प्रवर हि दानम्

त्याग के समान ही दान की भी महत्ता है। सच्चा दान भी वही कहलाता है जो इच्छा से दिया जाता है। समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये दिया जाने वाला पैसा, किसी अन्य को नीचा दिखाने के लिए दिया जाने वाला धन या व्यापार के सिल-सिले म दी जाने वाली रिश्वत दान नही कहला सकती। इसी प्रकार अगर धन को चोर ले जाय या माल के रूप मे अन्य किसी प्रकार से नष्ट हो जाय, उसे आप दान खाते मे लिख दे तो वह भी दान नही कहलायेगा।

सेठ जी का खाता

एक सेठ थे। उनके परिवार मे केवल उनकी पत्नी और लडकी थी। लडकी का नाम लाली बाई था। एक मात्र सतान होने के कारण उन्हे पुत्री से अत्यन्त प्रेम था। किन्तु दुर्भाग्यवश लाली बाई दस वर्ष भी होते न होते ही इस लोक से चली गई।

सेठ सेठानी अत्यन्त दुखी हुए। पर भाग्य पर किसका जोर चलता है? धीरे-धीरे सेठजी तो अपनी स्वाभाविक स्थिति म आ गए, किन्तु सेठानी पुत्री के वियोग मे विह्वल बनी रही। उसका दिमाग अर्धविक्षिप्त-सा हो गया था।

एक ठग ने जब सेठजी के घर की स्थिति और सेठानी की विक्षिप्तता के विषय मे जाना तो उस अवसर का लाभ उठाने की योजना बनाई । तथा एक दिन सेठजी की अनुपस्थिति मे उनकी हवेली पर आ धमका ।

अन्दर आकर उसने सेठानी को उनके नाम से सबोधन करते हुए पुकारा। सेठानी कुछ चकित हुई । यह विचार कर कि यह व्यक्ति मेरा नाम कैसे जानता है ? फिर भी उसने स्नेह-पूर्वक कहा—"आओ भाई, बैठो ! तुम कौन हो ?"

ठग बोला—"मैं सन्देशवाहक हूँ । एक स्थान से दूसरे स्थान पर समाचार ले जाता हूँ ।"

यह सुनकर सेठानी बडी उत्सुकता पूर्वक बोली—

"तुम समाचार पहुँचाने वाले हो तो मेरी लाली बाई का कोई समाचार ले आते ।"

ठग बोला—"माता जी ! वही तो लेकर आया हूँ आपकी लाली बाई बडे आनन्दपूर्वक है ।"

खुशी के मारे सेठानी रो पडी और विह्वलतापूर्वक बोली—"मेरी बेटी ने और क्या क्या समाचार भेजे है ? मुझे सब कहो ।"

ठग ने अब उपयुक्त अवसर देखा और कह दिया—

"लाली बाई आपको बहुत ही याद करती है । आना चाहती है, पर वहाँ वाले आने नही देते । इसलिये उसने समाचार भेजा है कि कोई आने-जाने वाला हो तो मेरे गहने भेज देना ।"

सेठानी मोह मे पागल सी तो हो रही थी । बोली—"अब मैं किसे ढूंढने जाऊ ? भाई ! तुम समाचार लाये तो गहने भी उसको तुम्ही पहुचा देना !"

'नेकी और बूझ बूझ ?' ठग को और चाहिये भी क्या था ? सेठानी से गहने लिये और रफूचक्कर हो गया ।

इधर जब सेठ जी घर आये तो सेठानी जी ने तुरन्त ही बडी प्रसन्नता-पूर्वक कहा- "आज तो लाली बाई के समाचार आए थे ।"

सेठजी हैरान हो गए । पूछा—"वह तो मर चुकी है अब उसके समाचार कहाँ आएँगे ?"

सेठानी—'नही, नही ! वह बड़े आनन्द मे है । उसने अपने गहने मँगवाए थे ।"

अब सेठजी के कान खडे हुए । बोले—"गहने दे दिये क्या तुमने ?',

"वाह ! लडकी ने गहने मँगाये थे तो देती नही क्या ? समाचार लाने वाले के साथ ही भेज दिये ।"

"बहुत अच्छा किया ! सेठजी ने मस्तक पीटते हुए कहा। और पूछा—"यह तो बताओ कि वह किधर गया और कितनी देर पहले गया ?"

"थोडी देर पहले ही इस सीधी सडक की तरफ गया है।" सेठानी कुछ उदास होकर बोली।

सेठजी पूरी बात सुने बिना ही गहने ले जाने वाले को ढूँढ़ने के लिये बाहर भागे। पर प्रयत्न निष्फल हुआ, ठग मिला नही, और वे दौड-भाग से क्लात होकर वापिस लौट आए।

गहनो की चोरी का दुख सेठजी को बहुत हुआ किन्तु घर मे धन की क्या कमी थी ? अत धैर्यपूर्वक बोले—"कोई हर्ज नही, जो धन गया वह लाली बाई के लेखे।"

बधुओ, क्या सेठ का सोचना सत्य था ? ठग के द्वारा ले जाया धन क्या लाली बाई के लेखे लग गया ? ठग भाग गया था, अगर पकड म आ जाता तो सेठजी उसे वापिस ले लेते या नही ?

आप अब समझ ही गए होगे कि ठगबाजी मे गया हुआ धन दान-खाते मे नही जा सकता। इसी प्रकार व्यापार-धन्धे मे घाटा लगने पर, और आसामियो मे डूब जाने वाला धन भी दान-खाते मे लिख दिया जाय तो वह दान नही कहला सकता। दान केवल तभी कहलाता है, जब पैसे को या पदार्थ को इच्छा से दिया जाय। प्रसन्नतापूर्वक उसका त्याग किया जाय। त्याग और दान दोनो का सम्बन्ध है। इसके विषय मे सत्य ही कहा है

"त्याग से पाप का मूल धन चुकता है और दान से पाप का ब्याज।"

— विनोबा भावे

इसलिये मानव को स्व-इच्छा और त्याग की भावना से दान देना चाहिये, तप करना चाहिये तथा अन्य जो भी क्रियाएँ की जायें अनासक्त भाव से ही करना चाहिये। उसे यह कभी नही भूलना चाहिये कि सासारिक पदार्थों मे मनुष्य कितनी भी आसक्ति क्यो न रखे एक दिन तो वे सब छूट ही जाएँगी। इसीलिए पूज्यपाद श्री अमी ऋषि जी महाराज ने ससार मे अनुरक्त प्रत्येक अज्ञानी प्राणी को चेतावनी दी है —

घिर ना रहेगे यो गदर ना रहेगो,
मवपूर ना रहेगी देर धूर मे मिलायगो।
धन न रहेगो ना रहेगो तन निकाम पन,
यौवन ये तेरी छिन एक में बिलायगो।
करजे भलाई भाई, छोडी छल छब मद
सज्जन ये देह तेरी आग में मिलायगो।

कहे अमीऋषि चल्यो जायगो अकेलो—
तब तेरो हितवारो कोऊ संग में ना जायगो ।

कितनी सुन्दर शिक्षा है ? अति सरल भाषा मे यही बताया है कि भोले प्राणी ! तू जिस धन, यौवन और शरीर को लेकर गर्व करता है वे सब अस्थिर हैं। एक दिन सभी विलीन हो जाएँगे। तथा जिन सम्बन्धियो, हितैषियो को अपना मानकर उनके लिये तू अनेक प्रकार के पाप करता है, वे ही तेरी इस देह को अग्नि के समर्पित कर देगे। तेरे साथ इनमे से कोई नही जाएगा तुझे अकेले ही अपनी महा-यात्रा पर बढ़ाना होगा।

यह अटल सत्य है कि पुण्य-और पाप के अलावा आत्मा का साथी और कोई नही होता। अत प्रत्येक मुमुक्षु को ससार मे रहकर भी अनासक्त भावना रखनी चाहिए। तथा शुभ-क्रियाओ के साथ करना चाहिये, क्योकि किये हुए कर्मों का फल भावना के अनुसार ही मिलता है। कहा भी है —

'भावना भवनाशिनी।'

—चाणक्य नीति

—धर्म-ध्यान से परिपूर्ण भावना जन्म-मरण का अन्त करने वाली होती है।

☆

१२ | कटुकवचन मत बोल रे

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

श्री रायप्रसेनी सूत्र मे सूर्याभदेवता भगवान महावीर की स्तुति पूर्ण भावना के साथ करते है। वे केवल स्तुति ही नही करते, अपने अभियोगिक (चाकर) देवता को आज्ञा देते है—"देवानुप्रिय ! भगवान महावीर प्रभु जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे आमलकप्पा नगरी मे विराज रहे है, उनके दर्शन करने जाओ।"

मधुर सम्बोधन 'देवानुप्रिय'

शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर श्रेणिक राजा या कृष्ण वासुदेव आदि का जहाँ वर्णन आता है, उनकी भाषा का पता चलता है। वे अपने सेवको को भी किसी प्रकार का हुक्म प्रदान करते थे तो उससे पूर्व 'देवानुप्रिय' सबोधन से पुकारते थे।

'देवानुप्रिय' का अर्थ है—हे देवताओ के प्रिय ! महत्त्व शब्दो का नही है, शब्दो के पीछे रही हुई मधुर भावना का है। वाणी की मधुरता मे असीम शक्ति होती है। मीठी जबान से जो काम निकल सकता है, कडवी जबान से कभी नही निकलता। मनुष्य के नेत्रो म स्नेह झलकता हो, उसकी आकृति मे सौम्यता हो, और सबोधन म मधुरता हो तो क्रूर से क्रूर पुरुष भी नम्र बन जाता है, उसका हृदय भी पिघल जाता है। 'दशवैकालिक-सूत्र' के सातवे अध्ययन म भी सबोधन का बडा महत्त्व बताया गया है। लिखा है —

तहेव काण काणित्ति पडग पडगित्ति वा।
वाहिय वा वि रोगित्ति, तेण चोरित्ति नो वए॥

—दशवैकालिक सूत्र

मनुष्य को चाहिये कि वह काने को काना, नपुसक को नपुसक, बहरे को बहरा, व्याधिग्रस्त को रोगी तथा चौर्य कर्म करने वाले को भी चोर कहकर न पुकारे।

यद्यपि काने व्यक्ति को काना कहना असत्य नही है किन्तु अप्रिय है। काना कहकर पुकारते ही उसके हृदय को दुख होगा और लगेगा कि मेरा उपहास किया

जा रहा है। काना कहने की बजाय अगर 'भाई, सूरदास' कह दिया जाय तो व्यक्ति को उतना दुख नही होता।

इसी प्रकार बहरे को बहरा और नपुसक को नपुसक या हिजडा कह दिया जाय तो उसे अत्यन्त दुख होता है तथा हीनता का अनुभव होता है। कोई व्यक्ति रोगी है, व्याधिग्रस्त है, बीमार है, जन्म से ही उसे प्रतिदिन औषधियाँ पीनी पडती है। किन्तु उसे भी रोगला कह दिया जाय तो कितना दुख होता है। वह सोचने लगता है—'क्या मैं जानबूझ कर बीमार पडा हूँ ? अपने पाप-कर्मों के उदय को मैं क्या करू ? कितना आर्त-ध्यान पैदा होता है उसके हृदय मे ? कई व्यक्ति तो रोगी के लिये कटु सम्बोधन ही नही, वरन् यह भी कह देते है—'मरे न माचो छोडे।' कितनी कडवी बात है कि न मरता है, और न माचा ही छोडता है। कहाँ तक सेवा करे ?

ऐसे शब्द बीमार को कितने कठोर लग सकते है। कमजोर दिलवाले का तो हार्टफल ही हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही है। कहने का अभिप्राय यही है कि कटुवचनो से और कटु सबोधनो से कभी-कभी बडा अनर्थ भी हो सकता है।

व्यक्ति कितना भी बुरा क्यो न हो, उसे बुरा सबोधन कभी प्रिय नही लगता। चोर चोरी करता है और कभी-कभी तो प्राणियो का वध भी कर देता है, किन्तु उसे भी अगर चोर कहकर पुकारा जाय तो उसे रम्य नही लगता। इसीलिये शास्त्रकार कहते है कि तुम उसे चोर मत कहो। अपनी जबान को गन्दी मत करो ! चोर अपने किये की सजा स्वय भोगेगा। उसके कारण तुम अपने लिये कर्मों का बन्धन मत करो। कटु-वचनो को बोलकर जहाँ व्यक्ति निबिडकर्मों का बध कर लेता है वहाँ मधुर वचनो का प्रयोग करते हुए अपनी आत्मा को इतनी निर्मल और विशुद्ध बना सकता है कि अत-समय मे मुक्ति का अधिकारी बन सके।

इसीलिये महापुरुष न तो स्वय ही किसी को कटु या मर्म-घाती शब्द कहते है और न ही ऐसे व्यक्तियो की, जो कटु-भाषी होते है, सगति करते है। वे उपदेश भी यही देते है कि कपटी और कटु-भाषी व्यक्तियो की सगति से बचो। उनका कथन है —

वचन मधुर रखे दिल मे कपट भाव,
तासे कर प्रीत मन-भेद न उच्चार रे।
बोलत कटुक मन माही है सरल भाव,
ताका सुण बोल मत क्रोध मन धार रे।
अन्तर कपट और वचन कटुक होय,
ऐसो जन होय ताको सगति निवार रे।
अमीरिख कहै मन सरल मधुर वेण,
ताकी हित सीख भव-भव सुखकार रे ॥१॥

कवि के कथन का आशय यही है कि मनुष्य पर सगति का असर हुए बिना नही रहता । बुरे व्यक्तियो के ससर्ग मे रहकर व्यक्ति अपने आपको कितना भी बचाए, कुछ न कुछ बुराई उसमे आ ही जाएगी । जैसे —

काजर की कोठरी मे कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है ।

व्यक्ति कितना भी होशियार क्यो न हो, अगर वह काजल की कोठरी मे जाएगा तो थोडी बहुत कालोच उसके वस्त्र या शरीर पर लगे बिना नही रहेगी । इसी प्रकार सगति का भी कुछ न कुछ असर मनुष्य के मन पर हुए बिना नही रहता । अत मन मे कपट रखने वाले तथा कटुक वचनो का उच्चारण करने वाले से सम्पर्क रखना ठीक नही ।

पण्डितरत्न श्री अमीऋषि जी महाराज ने एक पद्य मे ही तीन बाते कही है । प्रथम तो यह है कि मन मे कपट रखकर मधुर बोलने वाले व्यक्ति से अपने मन का भेद नही कहना चाहिये । दूसरे—मन मे सरलता रखते हुए कोई व्यक्ति हित की भावना से अगर कठोर वचन कहे तो क्रोध नही करना चाहिये । पर तीसरी शिक्षा उनकी यह है कि जो व्यक्ति मन मे कपट रखे और जबान से भी कडवे वचन बोले उसकी तो सगति ही न करे । क्योकि सगति का असर हुए बिना नही रहता ।

मधुर वचन हैं औषधि

मधुर वचन बोलने वाले व्यक्ति का मन अत्यन्त कोमल और करुण-रस से भरा रहता है । परिणाम यह होता है कि उसकी वाणी, दृष्टि और कार्यों मे भी मधुरता रहती है । ऐसा व्यक्ति किसी के मन को दुखाने की इच्छा नही करता । उसके हाथ किसी को कष्ट देन के लिए नही उठते, और उसकी जबान किसी का दिल तोडने के लिए नही खुलती ।

मीठे वचन महान शोक से सतप्त प्राणी को भी धैर्य प्रदान करते है तथा काफी अशो तक वह अपने दुख को भूल जाता है । रोगी व्यक्ति के लिये तो मधुर-वचन औषधि का काम करते है । यह प्राय देखते है कि डॉक्टर-वैद्य अगर मधुर-भाषी होते है तो रोगी के हृदय को बडा ढाढस और सन्तोष पहुँचा सकते है । मरीज की आधी बीमारी तो डोक्टर या वैद्य के मीठे वचनो से ही दूर हो जाती है तथा उसका हृदय स्वस्थ होने की आशा से भर जाता है ।

इसीलिये बुद्धिमान पुरुष सदा ऐसी वाणी बोलते है, जिससे किसी को दुख न पहुँचे, वह तिरस्कार का अनुभव न करे और हीनत्व की भावना से न भर जाय । उनके मन मे सदा यही भावना रहती है कि —

प्रियवाक्य-प्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जंतव ।
तस्मात्तदेव वक्तव्य वचने का दरिद्रता ?

—प्रिय वचन बोलने से सभी प्राणियो को सतोष होता है तो फिर वैसे ही वचन क्यों नही बोलने चाहिये ? मीठे वचन बोलने मे क्या नुकसान है । उससे कौन सी दरिद्रता आने वाली है ?

मीठे वचनो का बडा चमत्कारिक असर होता है । मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी भी मधुर-वचनो से वश मे हो जाते हैं । अनेक बार तो बिगडते हुए कार्य बन जाते हैं तथा घोर कलह भी शात हो जाता है । क्रोध की अग्नि पर मधुर-वाणी और स्नेह-भरी दृष्टि शीतल जल का काम करती है चडकौशिक सर्प ने भगवान महावीर के पैर को डस लिया था किन्तु प्रभु की स्नेहामृत पूर्ण दृष्टि ने उसे सदा के लिये क्रोध-रहित बना दिया । इतना परिवर्तन ला दिया कि उस विषधर प्राणी ने जीवन भर के लिये किसी को काटना छोड दिया तथा लोगो के फेंके हुए ईंटो और पत्थरो की चोटो को सम-भाव से सहन किया । चीटियो ने उसके सारे शरीर को चलनी के समान छेद युक्त बना दिया किन्तु उस प्राणी ने उफ तक नही की, एक भी चीटी की जान लेने का विचार उसके हृदय मे नही आया ।

यह था केवल मधुरता का परिणाम । वचनो का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय मे हमारे धर्म-शास्त्र अनेक प्रकार मे शिक्षाएँ देते है । किन्तु उन सबका मूल केवल यही है कि मानव सदा मृदु-वचनो का प्रयोग करे, तभी वह अनेकानेक पुण्य-कर्मों का बध करता हुआ अत मे उच्चगति प्राप्त कर सकता है । भगवान महावीर का कथन है —

अवण्णवाय च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीय च भास ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च—
भास न भासिज्ज सया स पुज्जो ।

—दशवैकालिक सूत्र

जो साधु-पुरुष किसी की भी प्रत्यक्ष या परोक्ष मे निन्दा नही करता, तथा दूसरो को पीडा पहुँचाने वाली, निश्चयकारी और अप्रियभाषा नहीं बोलता वह पूज्य बनता है ।

वास्तव मे ही अगर हम इतिहास को उलटें तो ज्ञात होता है कि जितने भी महापुरुष ससार मे हुए है वे अपनी नम्रता, परोपकारिता और प्रिय-भाषिता के कारण ही महापुरुष कहलाए है ।

मुक्ति का मार्ग कौनसा ?

सत मेकेरियस बडे त्यागी और तपस्वी सत थे । एक बार एक व्यक्ति ने उनके पास आकर कहा—"भगवन, मुझे मुक्ति का बिलकुल सीधा और सरल मार्ग बताइये !"

सन्त ने कहा—"अच्छी बात है, तुम पहले कब्रिस्तान मे जाओ और समस्त कबरो को खूब गालियाँ देकर आओ !"

व्यक्ति सत की इस आज्ञा से चकित हुआ किन्तु बिना इस विषय मे कोई प्रश्न किये उसने आज्ञा का पालन किया ।

अगले दिन जब वह मेकेरियस के पास आया उन्होंने पूछा—"क्यो भाई ! तुमने कल कब्रिस्तान मे जाकर कबरो को गालियाँ दी ?"

"जी, हाँ ! मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया ।"

तब सत ने पूछा—"तो किसी कबर ने तेरी गाली के जबाब मे कहा ?"

किसी ने कुछ भी नही कहा भगवन् !

सत मुस्कराए और बोले—"वत्स ! कबरो ने ही तुझे मुक्ति का मार्ग बता दिया है। तू ससार मे मानापमान से अलिप्त रह, किसी की गालिया और दुर्वचन सुनकर भी प्रत्युत्तर मे कटु वचन मत बोल ! यही मुक्ति का सच्चा मार्ग है ।"

कटु-वचन सुनने वाले के हृदय को तीर की तरह बेध देते है । शस्त्र का आघात तो समय पाकर ठीक हो जाता है किन्तु वचन का आघात दीर्घकाल तक भी मन को सताता रहता है । इसीलिए कबीर ने कहा है—

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर ।
श्रवण द्वार से सचरे, सालें सकल शरीर ॥

कडवे वचनो से सामाजिक वातावरण अप्रिय बनता है और पारिवारिक वातावरण भी विषैला बन जाता है । वचनो का ही प्रभाव होता है कि बाप बेटे मे कलह, पति-पत्नी मे अनबन और भाई-भाई मे घोर वैमनस्य पैदा हो जाता है । द्रौपदी के इस कथन ने—'अन्धे के लडके अन्धे ही होते है ।' महाभारत का युद्ध खडा कर दिया ।

क्रोधी व्यक्ति अपने घर मे ही अशाति का वातावरण बना लेता हैं । खाने बैठा और रसोई मे से थाली उठाकर फेक दी, क्योकि साग मे नमक कम हो गया । वाह, इतनी सी बात ? अगर नमक माग लेता तो उसकी हेठी हो जाती ? और पत्नी को तथा उसके सारे घराने को गालिया देने से क्या वह ऊँचा उठ गया ? घर मे नौकर है, पर बात बात मे उसे बुरा-भला कहने और झिडकने से क्या मालिक महापुरुष बन गया ? दरवाजे पर भिखारी आया उसे अनेक अपशब्द कहकर तथा आँखे निकालकर भगा दिया तो क्या स्वय व्यक्ति की आत्मा कुछ ऊँची उठ गई ? नही, कटुवचन कहकर कभी कोई महान् नही बन सकता है ।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मनुष्य को अपनी जबान पर अकुश रखना चाहिए । ध्यान रखना चाहिए कि मैं क्या कह रहा हूँ और इसका प्रभाव क्या होगा । बोलने-बोलने मे ही बडा भारी अन्तर पड जाता है । मान लीजिये, 'किसी की माता आई

है । पुत्र मा को देखकर अगर कहे कि मेरी माताजी आई हैं ।' तो मा को सुनकर कितनी प्रसन्नता होगी, उसका हृदय कितने गौरव का अनुभव करेगा ? किन्तु अगर वही पुत्र कहदे—'कि मेरे बाप की औरत है । तो माता का हृदय क्या कहेगा ? उसे कितना दुख महसूस होगा ? बात वही है । सत्य भी है, किन्तु अप्रिय तो है । अप्रिय सत्य भी मानव को नही बोलना चाहिए । मनुस्मृति मे कहा भी है—

"सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।"

—सत्य बोलो, प्रिय बोलो किन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो ।

सत्य भी अगर अप्रिय होता है तो उससे मन को ठेस पहुँचती है । एक भिखारी को आप उत्तमोत्तम पदार्थ खिलाएँ किन्तु खिलाने के बाद अगर उसे कह दें—'क्योरे ! जिन्दगी मे कभी खाए थे ऐसे पकवान ? तो क्या होगा ? भले ही भिखारी भीख मागकर खाता है, और वास्तव मे ही उसने अपनी जिन्दगी मे वैसे पकवान नहीं खाए, पर आपके इस तरह कहने मे उसे बडी चोट पहुँचेगी और उसकी स्वादिष्ट भोजन पाने की खुशी का लोप हो जाएगा ।

दूर क्यो जायँ, आप अपने घर मे भी अगर प्रिय और ऊँची भाषा बोलेंगे तो आपके घर का वातावरण मधुर बना रहेगा । तथा आपका सब सम्मान करेगे पर अगर आपके मुँह से कडवी बाते निकलनी प्रारम्भ हो जाएँगी तो घर वाले भी सुनने को तैयार नही होगे ।

क्रोध हमारी बहनो को भी बहुत आता है । वे लडेगी अपनी सास से और गुस्सा उतारेंगी बच्चो को धमाधम पीटकर । या देवरानी और जिठानी से लड पडेंगी और रात को सोना हराम करेगी श्रीमानजी का । बेचारे थके-माँदे पति फिर अपनी तकदीर को कोसते रहेगे । अथवा कर्कशा स्त्री से पीछा छुडाने का उपाय सोचेगे । एक दृष्टान्त है ।

पडितजी मोटे क्यो कर हुए ?

किसी गाँव मे दो पडित रहते थे । दोनो विद्वान् और होशियार थे, किन्तु निर्धनता के कारण बडे दुखी थे । कहते है कि—

पडिते निर्धनत्व, धनपति कृपणत्व ।

अर्थात् पडितो मे निर्धनता पाई जाती है और धनवानो मे कृपणता ।

तो दोनो पडित दरिद्रता से परेशान होकर विचार करने लगे—यहा गुजारा नहीं होता, कही परदेश जाना चाहिए । विचार पक्का हो गया और दोनो एक दिन वहाँ से चल दिये । घर पर दोनो की पत्नियाँ थी पर स्वभाव मे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थीं ।

एक की पत्नी अत्यन्त नम्र, मधुर-भाषी और पतिव्रता थी पर दूसरे पडित की स्त्री कर्कशा और झगडालू थी । इस प्रकार एक का जीवन शातिमय था और दूसरे

का अशातिमय। किन्तु दरिद्रता का निवास दोनो के यहाँ एक साथ था, अत दोनों शुभ-मुहूर्त देखकर रवाना हो ही गए।

चलते चलते वे लोग एक राजा के राज्य मे पहुँचे। राजा विद्वान पडितो को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उन्हे अपने यहा ठहरने के लिए कहा। राजा ने सोचा कि मेरे दरबार की विद्वानो से शोभा बढ जायगी। क्योंकि कहा जाता है—

लाख मूर्ख तजि राखिए, इक पडित बुधधाम।
सर शोभा इक हस सो, लाख काक केहि काम ॥

अर्थात् जिस प्रकार एक लाख कौओ के होने से भी सरोवर शोभा नही पाता, जितना शोभायमान वह एक हस के होने से ही हो जाता है। उसी प्रकार लाख मूर्खों के होने से शोभा नही बढती वरन् एक पडित और बुद्धिमान के कारण शोभा बढ जाती है अत लाख मूर्खों को छोडकर भी एक पडित को रखना अच्छा है।

राजा ने यही विचार कर अपने कर्मचारियो को दोनो पडितो के लिए समस्त सुविधाओ का प्रबध करने के लिए तथा भोजनादि का उत्तम प्रबध करने के लिए आदेश दे दिया। पडित आनन्दपूर्वक रहने लगे, किन्तु राजा से उनकी मुलाकात पुन जल्दी नही हो पाई।

दो दिन, चार दिन, महीने, दो महीने, इसी प्रकार छ महीने व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन वे राजा से मिले। राजा ने देखा कि एक पडित तो पूर्व की अपेक्षा दुर्बल हो गया है, और दूसरा हृष्ट पुष्ट।

आश्चर्यपूर्वक राजा ने पूछा—क्या आप लोगो को यहाँ कोई कष्ट है ?

नहीं राजन् ! आपके यहाँ हमे किस प्रकार का कष्ट ? कोई तकलीफ नही है। पडितो ने उत्तर दिया।

फिर आप लोगो के शरीरो मे ऐसा परिवर्तन क्यो हुआ कि आपमे से एक तो दुर्बल हैं और दूसरे स्वस्थ ?

राजा की बात सुनकर स्वस्थ और पुष्ट हो जाने वाले पडित ने कहा— "महाराज ! मेरे हृष्ट-पुष्ट हो जाने के दो कारण हैं। एक तो आपके यहाँ भोजनादि का उत्तम प्रबध है दूसरे यहाँ मुझे दु ख नही है। मेरे घर पर मेरी पत्नी कर्कशा और झगडालू है। एक दिन भी शाति से नही रहने देती थी मुझे रोज उसकी गालियाँ सुननी पडती थी। अब आप समझ ही गए होगे कि प्रथम तो आर्थिक अभाव के कारण और दूसरे स्त्री के दु ख से घबराकर मैने घर छोड दिया था। विद्वानो का कथन भी है :—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाऽप्रियवादिनी।
अरण्य तेन गन्तव्य यथारण्य तथा गृहम् ॥

—पंचतत्र

—जिसके घर मे माता न हो और पत्नी अप्रियभाषिणी हो उसे वनवासी हो जाना चाहिये, क्योंकि उसके लिये वन और घर बराबर है।

तो महाराज ! घर पर झगडे के बिना एक दिन भी नही निकलता था और यहाँ उस दुख से मुझे मुक्ति मिल गई है। इसीलिये मैं अधिक मोटा ताजा हो गया हूँ।

अब राजा ने अपनी प्रश्नवाचक दृष्टि दुर्बल हो जाने वाले पडित की ओर डाली। पडित ने उसका आशय समझकर कहा —

"महाराज ! यहाँ तो मुझे भी किसी बात की तकलीफ और कोई कष्ट नही है, किन्तु मुझे अपनी पत्नी की स्मृति सताया करती है। मेरी पत्नी अत्यन्त सुशील और मधुर-भाषिणी है। उसके द्वारा जो सम्मान, प्रिय वचन और इन सबसे प्राप्त सुख मुझे मिलता था वह यहाँ नहीं है—

"नित्य मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा।"

जो स्त्री निरन्तर मधुरवाणी बोलती है, वही साक्षात् लक्ष्मी रूप है। केवल धन-सपत्तिरूप लक्ष्मी को ही लक्ष्मी मत समझो !

इसी कारण से मैं दुबला हो गया हूँ महाराज ! और कोई बात नही है।"

बधुओ ! आप भी समझ गए होगे कि मधुर वचनो मे कितनी शक्ति होती है। तीन योग माने जाते हैं। एक मनोयोग, दूसरा वचन योग और तीसरा काययोग। इन तीनो योगो मे वचन योग बीच मे है। वचन योग मन क भावो को भी समझाता है तथा काय से भो कार्य करा लेता है। यह दोनो ओर चलता है, इसलिये इस पर अकुश रखा जाना अत्यत आवश्यक है।

वचनो की कडुवाहट से ही वैर और विरोध का श्री गणेश होता है। वर्षों के स्नेह-सम्बन्ध को भी कटु-वचन क्षणमात्र मे तोड डालते है। एक दोहे मे कहा है —

दूध फटा घी कहां गया, मन फटा गई प्रीत।
मोती फटा कीमत गई, तीनों की एक ही रीत॥

कहते है—समझ मे नही आता कि दूध फटते ही घी कहाँ चला जाता है ? अर्थात् दूध फट जाने पर घी नष्ट हो जाता है। दूसरे प्रगाढ स्नेह जो वर्षों से चला आता है, वह भी कठोर वचनो के कारण मन के फटते ही विलीन हो जाता है। इसी प्रकार मोती के टूट जाने पर उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। कवि का कथन है कि तीनो की एक ही रीति है।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को कटु-भाषा से सदैव बचना चाहिये। यह केवल आप श्रावकों के लिये ही नहीं है वरन् हम साधु-साध्वियो के लिए भी है। पाँच महाव्रत मे दूसरा महाव्रत है—"सत्य बोलो" पाँच समिति मे दूसरी समिति है—'कर्कश, कठोर, क्रोधयुक्त, मानयुक्त, एव राग आदि दोषो से युक्त भाषा नही बोलना। इन्ही सब दोषो को टालने के लिये 'भाषा-समिति' बनाई है। इनके अलावा तीन

गुप्तियो मे भी 'वचन गुप्ति' आती है। इस प्रकार हमारे यहाँ बोलने पर तीन-तीन प्रतिबंध लगाए गए है। अप्रिय, कठोर और मर्मकारी भाषा का हमारे लिये पूर्ण निषेध है।

सारांश मेरे कहने का यही है कि मानव-मात्र को मधुर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। इससे घर मे, परिवार मे, समाज मे वैर-विरोध पैदा नही होता। बुद्धिमानो का यही प्रयत्न रहता है कि वे स्वय अपने मधुर वचनो से आपसी व्यवहार को सुन्दर बनाए रखे तथा दूसरो को भी इसी प्रकार की शिक्षा देते रहे। उनका सभी से यही कहना होता है —

मत दीजो चतुर नर गाली।
पियों समता रस की प्याली रे ॥मत ॥१॥
थे कटुक वाक्य मत बोलो,
क्यो वैर बसाओ ख्याली रे ॥मत ॥२॥

सरल भाषा मे कही गई कितनी सुन्दर बात है ? हम सब चाहते तो यह है कि सब मनुष्य हमारी बात माने, हमारा आदर-सम्मान करे और हमसे प्रभावित हो, किन्तु क्या चाहने मात्र से ही आकाक्षा पूरी हो जाएगी ? नही, इसके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा और इसी का तरीका कवि ने बताया है कि "तुम कटु-वचन मत बोलो, सदैव समता रूपी अमृत का पान करते रहो ताकि जबान से भी मधुर-रस ही प्रवाहित हो। कड़वे वचनो से कोई लाभ हासिल नही होता। केवल वैर ही बढता है।

जिह्वा किसलिये मिली है

संत सुकरात का कथन --

"ईश्वर ने हमे दो कान दिये हैं और दो आँखे, पर जिह्वा एक ही दी है। वह इसलिये कि हम बहुत अधिक सुने, बहुत अधिक देखे, लेकिन बोले कम-बहुत कम।"

एक जापानी कहावत भी है—

'जिह्वा केवल तीन इंच लम्बी होती है किन्तु वह छः फुट लम्बे आदमी को कत्ल करवा सकती है।"

कहावत सर्वथा सत्य है। जिह्वा का आघात तो तलवार के आघात से भी भयानक होता है। क्योकि तलवार केवल शरीर पर चोट करती है किन्तु जीभ मन पर गहरी चोट पहुँचाती है, और वह जल्दी से ठीक भी नही होती।

जिह्वा मे ही मृदुता रूपी अमृत विद्यमान रह सकता है और जिह्वा मे ही कटुता रूपी विष। जिसकी जिह्वा मे यह अमृत होता है, वह लाखो को अपना बना लेता है, तथा कटुता रूप-विष होने पर अपनो को भी बेगाना बना कर छोड़ता है। अपने वचनो से ही मनुष्य सम्मान का पात्र बनता है और अपने वचनो से ही अपमानित होता है। कविवर रहीम ने इसीलिये कहा है—

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गई सरग पाताल ।
आपु तो कह भीतर गई, जूती खात कपाल ।।

सुनकर आपको हँसी आएगी, पर बात सत्य है । वास्तव मे ही यह जीभ चाहे जो कहकर स्वय तो दातो की पहरेदारी मे इस मुँह रूपी किले मे छिप कर बैठ जाती है, किन्तु उसकी बातो के परिणामस्वरूप बेचारा सिर जूतियाँ खाना शुरू करता है और इस अनिष्टकारी तथा कोमलागी सुन्दरी को कोसता रहता है ।

इसलिए मेरे भाइयो ! अगर अपने उत्तमांग, इस मस्तक की सुरक्षा चाहते हो तो जिह्वा को वश मे रखो । मीठा बोलने मे तुम्हारी हेठी नही होगी । अभी-अभी मैंने बताया ही है कि 'सूर्याभ देवता' भी अपने आभियोगिक-- चाकर देवता को 'देवानुप्रिय' कहकर सम्बोधन करते है । तो हमारे लिए किसी को प्रिय और मीठे शब्दो से सम्बोधन करने मे कौनसी शर्म की बात है ? अपने से छोटो को भी अगर हम प्रिय सम्बोधन से पुकारते हैं तो वह हमारे गौरव को बढाता ही है, घटाता नही । प्रत्येक महापुरुष वाणी की मधुरता से ही महापुरुष कहलाता है । जबान से कडवे-वचन रूपी पत्थर बरसाने वाले को आज तक किसी ने महापुरुष नही कहा ।

आशा है आप वचनो के महत्त्व को समझ गये होगे और यह भी समझ गये होगे कि अनेकानेक पुण्यो के फलस्वरूप प्राप्त वाणी का दुरुपयोग न करके किस प्रकार उससे नवीन शुभ-कर्मों का बन्धन किया जा सकता है, और अन्त मे उच्च गति को पाया जा सकता है । अगर आपको भी अपनी आत्मा को निरन्तर विशुद्ध बनाते हुए जन्म-मरण से मुक्त होने की अभिलाषा है तो सर्वप्रथम अपनी वाणी पर अकुश रखना सीखे तथा मधुरभाषी बनने का प्रयत्न करे ।

☆

१३ | यही सयानो काम !

धर्मप्रेमी बधुओ माताओ एव बहिनो !

श्री 'रायप्रसेनी सूत्र' मे सूर्याभ देवता अपने आभियोगिक देवताओ को आदेश देते हैं—"भगवान महावीर की सेवा मे पहुँचो और सेवा म पहुँचकर सविधि वन्दन करो !" 'सूर्याभदेवता' वन्दना करने की विधि भी बताते हैं। यह हितकारी शिक्षा कहलाती है।

वन्दना करना विनय है। विनय से सब सुख प्राप्त होता है। विनय के द्वारा शत्रु ही मित्र बन जाते हैं फिर अन्य लाभो का तो कहना ही क्या है। हमारे शास्त्रो मे विनय का महत्त्व बडा भारी बताया गया है। कहा है—

एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मुक्खो।
जेण कित्ति सुअ सिग्घ, नीसेस चाभिगच्छइ ॥

विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम फल है। विनय से कीर्ति बढती है तथा प्रशस्त श्रुत-ज्ञान का लाभ हासिल होता है।

जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष खडा नही रह सकता उसी प्रकार जिस व्यक्ति की आत्मा मे विनय गुण नही होता वहाँ धर्म नही टिकता। विनय ही धर्म-रूपी वृक्ष का पोषण करता है तथा उसे हरा-भरा रखता है। उसके अभाव मे धर्म-वृक्ष सूख जाता है तथा शनै -शनै उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

विनय के अभाव में

प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध और उन्नत बनाना चाहता है, ज्ञानवान् और बुद्धिमान् बनना चाहता है। किन्तु विनय के अभाव मे यह सब केवल इच्छा मात्र ही रह जाता है, उसकी आकाक्षा पूरी नही होती। बुद्धि को निखारना और सम्यक्-ज्ञान हासिल करना विनय के अभाव मे कदापि सम्भव नही है।

आप प्राय देखते ही हैं कि एक लोटा पानी लेने के लिये भी आपको नदी

या तालाब में झुकना पडता है। झुके बिना लोटा नही भरा जा सकता। ध्यान मे रखिये, कि पानी मुफ्त का है, उसका कोई मूल्य नही। किन्तु उस मूल्यहीन वस्तु को भी जब बिना झुके प्राप्त नही किया जा सकता तो फिर आत्म-कल्याण जैसी अपूर्व वस्तु बिना विनय के अभाव मे कैसे प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात् विनय के अभाव मे आत्मा का उद्धार नही हो सकता। आपके हृदय मे यह जानने की जिज्ञासा होगी कि यह कैसे ? आत्मा के उद्धार का विनय से ऐसा क्या सम्बन्ध है ?

पर वास्तव मे यह सत्य है कि विनय के अभाव मे आत्मा को कभी मुक्ति हासिल नही होती। वह इसलिये कि विनय के कारण बुद्धि परिष्कृत होती है और जिसकी बुद्धि परिष्कृत होती है तथा विकसित होती है वह व्यक्ति अपने गुरु अथवा आचार्य से नम्रतापूर्वक सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सम्यक्ज्ञान प्राप्त होने पर सम्यक् चारित्र का मनुष्य पालन करता है और उसके कारण नवीन कर्मों का बध होना रुक जाता है। जब नवीन कर्मों का बध होना रुक जाता है तो दृढ तपोबल हासिल होता है और उससे पूर्व कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है। पूर्व कर्मों का क्षय होने पर आत्मा कर्म-रहित अर्थात् अयोगी दशा को प्राप्त होती है। उस समय मन, वचन और शरीर के समस्त व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। तथा ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर भव-परम्परा नष्ट हो जाती है। आत्मा को पुन-पुन जन्म-मरण के चक्र मे नही फसाना पडता।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि विनय ही एक ऐसा मार्ग है जो हमे शनै शनै मुक्तिरूपी मजिल तक पहुँचा देता है। यह ऐसा महान् गुण है जिसके कारण मनुष्य झुकता है किन्तु वह ससार की दृष्टि मे ऊँचा उठ जाता है। अत. मुक्ति के इच्छुक प्राणी को सर्वप्रथम विनय गुण को अपनाना चाहिये। विनय होने पर ही वह सम्यक्ज्ञान हासिल कर सकेगा तथा सम्यक् चारित्र का पालन करके आत्मा को ससार-मुक्त बना सकेगा। सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अभाव मे मनुष्य चाहे साधु बन जाए, कितना भी जप-तप क्यो न करे, पचाग्नि मे शरीर को तपा डाले पर मोक्ष को हासिल नही कर सकता। यही बात पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने अपने एक पद्य मे बताई है :—

केते सिर पैर लौ मुडावे केश बारबार,
केते पचकेशी - नख जटा ही बढ़ावे हैं ॥
केते व्है दिगबर बसन तजि फिरे केते,
नाना रग भेख केते भसमी रमावे है।
केते जोग आसन समाधि गहो बैठे केते,
पचाग्नि चौरासी माँहि देह को तपावे है।
अमीरिख करी क्यो ना देखो कष्ट नाना भाति।
बोध दया ज्ञान बिना मोक्ष नहीं पावे है।

—अर्थात् कितने ही व्यक्ति बारबार केश-लुञ्चन करते हैं, कितने ही नाखून

और जटा बढा लेते है, कितने ही व्यक्ति वस्त्र-त्याग कर दिगम्बर बन जाते हैं तथा कितने ही नाना रग के वस्त्र पहन कर शरीरो मे भस्म रमा लेते हैं। अनेक व्यक्ति योगासन करते है तथा समाधि लेकर बैठते हैं और इनके अलावा बहुत से व्यक्ति पंचाग्नि मे देह को भी झुलसा डालते है। किन्तु कवि का कथन है कि भले ही नाना प्रकार के कष्ट उठा लिये जायें, जीव अहिंसा और सम्यक्ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नही कर सकता।

तो सम्यक्ज्ञान जो कि मुक्ति का मूल है—

"ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते।"

ज्ञान से ही सभी प्रकार की स्थितियो से छुटकारा मिला करता है।

यह विनय के अभाव मे प्राप्त नही हो सकता। हृदय मे विद्यमान रहने पर आत्मा का क्रमश उत्थान होता है। एकमात्र विनय-गुण ही आत्मा विभिन्न श्रेणियो मे से गुजरता हुआ मुक्ति-रूपी मजिल तक पहुँचता है। अत आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को सर्व-प्रथम अपने हृदय मे विनय गुण की स्थापना करनी चाहिए।

हमारे बालक और विनय गुण

अभी दो तीन दिन पहले बालक-बालिकाओ को धार्मिक शिक्षण देने के लिए खुशालपुरा मे एक धार्मिक स्कूल स्थापित करना, इस विषय के सकेत किया गया था। आज वह सकेत कार्य रूप म परिणत होता हुआ दिखाई दे रहा है। अर्थात् यहाँ के स्थानीय श्री सघ ने उस ओर प्रयत्न किया है। प्रसन्नता की यही बात है कि स्कूल के लिए समाज के व्यक्तियो ने यथाशक्ति दान दकर अपनी उदारता और रुचि का परिचय दिया है।

बधुओ, आपको भली-भाँति समझना चाहिये कि धार्मिक शिक्षण के लिए दिया हुआ आपका यह पैसा आपको अनेक गुना लाभ प्रदान करेगा। क्योकि इस धन से आपके बालक विनय की महत्ता समझेंगे, अनेक उत्तम सस्कारो को अपनाएँगे तथा अपने जीवन को धम-मय बनाएँगे। मैं आपसे पूछता हूँ कि अपने बालको को और समाज के इन भावी कर्णधारो का जब आप सुसस्कारी और धर्मात्मा पाएँगे, तब क्या आपको आंतरिक खुशी और पूर्ण सतोष प्राप्त नही होगा? क्या आप अपने आज क दिए हुये धन को अनेक गुना सार्थक नही समझेंगे? किसी ने सत्य ही कहा है —

यत्कर्मकरणनान्त सतोष लभते नर।
वस्तुतस्तद् धन मन्ये, न धन धनमुच्यते॥

जिस काय क करने से मनुष्य के अन्त करण को सतोष होता है, मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नही कहा जाता।

यही बात आपके लिये है। स्कूल खोलने के लिए आज जो कार्य और प्रयत्न

आप कर रहे है, इससे जितना आत्मिक सतोष आपको मिलेगा उतना रुपया, पैसे, सोना और चाँदी के रूप मे धन इकट्ठा करने से नहीं मिलेगा ।

अगर आपके इन सद्प्रयत्नो से आपके बालक विनयी, सस्कारी और धार्मिक बन जाएँगे तो आपके कुल का गौरव तो बढ़ेगा ही, साथ ही समाज की स्थिति सुधरेगी, सघ की स्थिति मजबूत होगी तथा देश की कीर्ति बढेगी । आप जानते हैं कि हमारा भारतवर्ष, ससार के अन्य समस्त देशो के द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है । वह क्यो ? इसलिए कि इस देश मे महान् ऋषि-मुनियो का, धर्म के मर्म को समझने वाले बडे-बडे आचार्यों का, धुरधर विद्वानो का तथा 'कालिदास' जैसे अनेक महाकवियो का जन्म हुआ है । हमारा जैन-दर्शन आज भी ससार से समस्त देशो द्वारा मान्य है तथा समस्त धर्मों से ऊँचा माना जाता है । हमारे देश के आचार-विचार और सादगी की सभी सराहना करते है । यह सब कैसे होता है ? एक-एक व्यक्ति के सदाचारी बनने से तथा एक-एक व्यक्ति के सुसस्कारी बनने से ।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप अपने एक-एक बच्चे को धार्मिक और सदाचारी बनाइये, समाज अपने आप उन्नत हो जाएगा । और जब समाज उन्नत होगा तो देश का गौरव स्वय ही बढ़ेगा । बालक अज्ञानी होते हैं पर कच्चे घडे के समान होते है । इनको जिस साँचे म ढाला जायगा वैसे ही ढल जाएँगे । इनके भोले हृदयो मे जैसे सस्कार आप डालेगे वैसे ही ढल जाएँगे । इसके अलावा बाल्यावस्था मे जो सस्कार हृदय मे जम जाते है, वे सदा बने रहते है, मिटते नही । इसीलिये बालको के लिये धार्मिक स्कूल की अनिवार्य जरूरत है, ताकि अभी से इनके सस्कार उत्तम बने तथा इनकी रुचि धर्म की ओर बढ सके ।

सर्वश्रेष्ठ दान

दान की भावना एक अत्युत्तम भावना है । यही धर्म का मुख्य द्वार है । अपनी सचित सम्पत्ति मे से व्यक्ति अगर उसका कुछ अश दान मे दे देवे तो उसे कोई नुकसान नही होता । कबीर का कथन है—

चिडी चोच भर ले गई, नदी म घटियो नीर ।
देता दौलत ना घटै, कह गए दास कबीर ॥

नदी मे जल सतत प्रवाहित होता रहता है । वह असीम जल बहा लाती है तथा सागर की ओर ले जाती है । उस जल-राशि मे से अगर चिडिया अपनी चोच से कुछ बूँद जल ले जाय तो जल मे कमी नही आती । उसी प्रकार अगर अपनी सम्पत्ति मे से व्यक्ति थोडा-बहुत दान मे दे देता है तो सम्पत्ति मे भी कोई कमी नही होती । दूसरे दान देने का अर्थ पैसा फेकना ही नही है वरन शुभ कर्मों के बीज बोना है । जितना दिया जाएगा उससे अनेक गुना अधिक उसे दूसरे और अधिक अच्छे रूप मे प्राप्त हो जाएगा । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को जितना भी और जैसे भी बन सके दान देना चाहिए तथा इस उत्तम भाव को हृदय मे सदैव बनाए रखना चाहिए ।

दान कई प्रकार के हैं किन्तु उनमे से सर्वश्रेष्ठ विद्या दान है। जैसे आपने किसी को वस्त्र-दान दिया तो वह वस्त्र छः महीने, या दो वर्ष मे तो फट ही जायगा। उससे अधिक नही चलेगा। इसी प्रकार अन्न-दान दिया, अर्थात् भूखे को भोजन कराया तो सुबह भोजन कराने पर शाम को पुन उसका पेट खाली हो जायगा। विद्या-दान एक ऐसा दान है, जिसे आपने दिया और ग्रहण करने वाले ने सम्यक्‌रूप से ग्रहण किया तो उसकी आत्मा की भूख केवल इसी जन्म के लिए नही अपितु जन्म-जन्मांतरो के लिए मिट जायगी।

आप इसी विद्या-दान मे सहायक बनने का प्रयत्न कर रहे है, यह हर्ष की बात है। साथ ही सही अर्थों मे विद्या-दान दिलाने जा रहे है। वैसे बालक इन धार्मिक स्कूलो के अलावा सरकारी स्कूलो और कॉलेजो मे भी विद्या प्राप्त करते हैं किन्तु वह शिक्षा, शिक्षा कैसे कहला सकती है जो व्यक्ति को केवल धन कमाने मे समर्थ बनाती है। मान लिया कि वह शिक्षा प्राप्त करके आपका पुत्र वकील, इजीनियर, डाक्टर या बैरिस्टर आदि कोई उच्च डिगरी प्राप्त नागरिक बन जाएगा और प्रचुर मात्रा मे धन कमा लेगा। किन्तु वह धन सासारिक सुखो की उपलब्धि के अलावा उसे और क्या दिला सकेगा ? सासारिक भोगोपभोग की वस्तुएँ नष्ट होने वाली है और बहुत चली तो इस जन्म के अन्त तक साथ देगी। पर उससे आत्मा का क्या बनने वाला है ? उसको तो रच-मात्र भी लाभ नही हो सकेगा। उलटे अधिक धन प्राप्त करके व्यक्ति उसके कारण अधिक पापो का ही उपार्जन करेगा और आत्मा को अधिक सकट मे डाल लेगा।

ज्ञानात् मोक्ष

इसलिये मनुष्य को ऐसा ज्ञान हासिल करना चाहिये जिससे वह लौकिक और लोकोत्तर, सभी प्रकार की निधियो को प्राप्त कर सके। सच्चा ज्ञान वही है, जिसको प्राप्त करके मनुष्य अपने अविवेक का नाश करे कर्त्तव्य और अकर्तव्य को समझे, आत्मा के सच्चे स्वरूप को जाने तथा उसकी अनन्त शक्ति पर विश्वास करे। जो व्यक्ति सही अर्थो मे विद्या प्राप्त करता है अर्थात् सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह अपने मन, वचन और शरीर के अनिष्ट व्यापारो को रोककर अपनी आत्मा को उत्त-रोत्तर निर्मल बनाता है। घोर उपसर्ग और परीषह आने पर भी अपने सत्सकल्प से नही डिगता तथा ससार मे रहकर भी ससार से अलिप्त जल मे कमलवत् रहता है। उसका जीवन तप और त्याग की भावना से परिपूर्ण तथा सदाचार की समुज्ज्वल प्रतिमा बनता है। वह अपना प्रत्येक कदम अत्यन्त सावधानी से सोच-विचार कर रखता है। उसका अन्त करण इस ससार का बन्दीगृह मानता है तथा प्रतिपल इससे छुटकारा पाने की भावना रखता है। परिणामस्वरूप :—

"बोध बोधे सच्चिदानन्दभास ।"

—तत्त्वामृत

अर्थात्-निरतर ज्ञानाभ्यास करने से आत्मा का वह आदर्श स्वरूप प्रतीत होता है, जो कि "सत्, चित्, और आनन्द" रूप है ।

भगवत् गीता मे भी बताया है—

"ज्ञानं लब्ध्वा परं शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।"

सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति कर लेने पर यह आत्मा अजर-अमर शाति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ।

तो बन्धुओ ! आप इस धार्मिक विद्यालय की स्थापना करके अपने बालकों मे ऐसे ही सच्चे ज्ञान का बीज वपन करने मे सहायक बनेंगे । और इसके लिए दिया हुआ आपका दान सार्थक होगा । अगर आपके बालको मे ऐसे सस्कारयुक्त ज्ञान का बीज जम गया तो वे अनेक सद्गुणों का भण्डार बनकर शनै-शनै अक्षय सुख की प्राप्ति करेगे । हितोपदेश मे कहा गया है—

विद्या ददाति विनय, विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं तत सुखम् ॥

विद्या विनय देती है, विनय से योग्यता मिलती है, योग्यता से धन, धन से धर्म और धर्म से अक्षय सुख प्राप्त होता है ।

आवश्यकता केवल यह है कि विद्या को सही अर्थों मे ग्रहण किया जाय, तथा उसे सही उपयोग मे लिया जाय । केवल अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने और तर्क-वितर्क करने मे ही विद्या का उपयोग करना अज्ञानता है । अपने आपको पूर्ण ज्ञानी मानना कभी-कभी बडा अनिष्टकारी बन जाता है । एक उदाहरण से आप इसे भली-भाति समझ सकेंगे ।

अर्ध-ज्ञान से अनर्थ

एक नदी मे लकडी का एक तख्ता बह रहा था । उस पर चार मेढक बैठे हुए थे । तख्ता पहले किनारे पर पडा था किन्तु पानी का बहाव बढ जाने से वह अचानक ही बह चला था । चारो मेढक तख्ते के बहने से बडे प्रसन्न हुए, क्योकि इससे पहले उन्होने कभी इस प्रकार की जल-यात्रा नही की थी ।

थोडी देर तैरने का आनन्द लेने के पश्चात् एक मेढक बोला—"यह तख्ता बडा अजीब है जिन्दो के समान चलता है । मैंने पहले कभी ऐसा तख्ता नही देखा ।"

पहले की बात सुनकर दूसरा मेढक बोला—"नही मित्र ! यह तख्ता तो अन्य तख्तो के जैसा ही है । यह स्वय नहीं चल रहा है, वरन् नदी हमे और इसको समुद्र की ओर ले जा रही है ।"

अब तीसरा मेढक अपने ज्ञान का उपयोग करने लगा । बोला—"तुम दोनो अज्ञानी हो ! अरे न तो तख्ता चल रहा है और न ही नदी । चल तो हमारे विचार रहे हैं । क्योकि विचारो के बगैर कोई वस्तु नही चलती ।"

तीनो मेंढक इस बात पर झगड़ने लगे। वे समझ नही पा रहे थे कि वास्तव मे कौनसी चीज चल रही है। कुछ देर झगड़ने के पश्चात् भी जब कोई निर्णय नहीं हो सका तो उन्होने चौथे मेंढक की ओर देखा जो अब तक शान्त बैठा हुआ ध्यान से तीनो की बातें सुन रहा था। तीनो मेंढको ने उससे पूछा कि किसकी बात सच है ?

चौथा मेंढक गम्भीरता पूर्वक बोला—"भाइयो ! तुम मे से हर एक की बात ठीक है, गलत कोई नही। गति तख्ते मे है, पानी मे है और हमारे विचारो मे भी है।"

चौथे मेंढक की इस बात पर तीनो को बड़ा क्रोध आया। क्योंकि तीनो मे से कोई भी यह मानने को तैयार नही था कि उसी की बात पूर्णरूप से सत्य नहीं है, तथा बाकी दोनो की बाते सर्वथा असत्य नही हैं।

एकाएक बडे आश्चर्य की बात हुई कि झगड़ने वाले तीनो मेंढक मिल गये और उन्होने चौथे मेंढक को धक्का देकर नदी मे गिरा दिया।

इस प्रकार मिथ्याज्ञान और अर्ध-ज्ञान से अनर्थ होता है। दोनो ही प्रकार के व्यक्ति अपने आपको पूर्ण ज्ञानी मान लेते है तथा व्यर्थ की बहस-बाजी मे लग जाते है।

बन्धुओ, इस प्रकार का मिथ्या-ज्ञान केवल अहकार का पोषण करता है। उससे मनुष्य के चारित्रिक विकास अथवा आत्मोन्नति मे कोई सहायता नही मिलती। हमे धार्मिक स्कूल की स्थापना करके इस हानि से और कमी से बचना है। आपका स्कूल सर्वप्रथम बालको को विनय-गुण मे विभूषित करेगा और उसके परिणाम-स्वरूप वे अपने शिक्षक से जो भी विद्या प्राप्त करेंगे, वह अपना सही प्रभाव डालेगा तथा आपका स्कूल के लिए दान करना सार्थक होगा। धार्मिक ज्ञान की वृद्धि के लिए दान करना वास्तव मे ही सच्चा दान है।

बोऊ हाथ उलीचिये

इस वक्त आप जो कार्य कर रहे है वह बच्चो के हित के लिये है, समाज के सरक्षण के लिये है। अगर आप भावनापूर्वक काम करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी। तथा आपको ही लाभ होगा। सन्त आपको दान के लिये उपदेश देते है तो उन्हे अपने पल्ले मे कुछ नही रखना है, एक पाई भी उसमे से व्यय नही करनी है। आपकी सस्था होगी और आप ही इसके ट्रस्टी रहेगे। हमारा कुछ नही है, हम तो केवल मार्गदर्शक हैं।

दान के लिये हम क्यो कहते है ? इसका भी कारण है। वह यही कि लक्ष्मी का सदुपयोग दान से होता है। दान देना लक्ष्मी का ठीक तरह से सरक्षण करना ही है। आपको विश्वास न हो तो किसानो से पूछिये कि, कुंए मे से खेतो को पानी देने से क्या कुँआ खाली होता है ? नही, कुछ देर के लिये भले ही उसमे पानी कम दिखाई

दे, किन्तु थोडी देर बाद अथवा रातभर के पश्चात् ही उसमे उतना ही पानी फिर दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार दान देने से धन घटता नही, वरन् बढता ही है। तथा चतुर व्यक्ति इसीलिये दान देने मे हिचकिचाते नही है। सन्त कबीर का कथन भी है —

जो जल बाढे नाव मे, घर मे बाढे दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥१॥

जिस प्रकार नाव मे पानी आ जाने पर उसे दोनो हाथो से उलीचना आवश्यक है, उसी प्रकार घर मे सम्पत्ति बढ जाने पर उसे दान देना चाहिए।

एक दृष्टान्त देता हूँ—हमारे शरीर मे अगुलियो पर नाखून होते है। ये बढते रहते हैं। बढ़े हुये नाखून आप और हम काटते है ? अगर बढ़े हुए नाखूनो को नही काटेंगे तो उनके द्वारा शरीर पर कभी खरोच लग सकती है, बढ़े हुये नाखूनो मे मैल इकट्ठा हो जाता है। जिसमे रहे हुए कीटाणु हमारे हाथो के द्वारा छुई जाने वाली वस्तुओ मे आ सकते है तथा स्वास्थ्य को हानि पहुँचा सकते है। ऐसा डाक्टरो का अभिमत है। इसलिए बढ़े हुए नाखूनो को काटना आवश्यक होता है।

धन के लिए भी यही बात है। अगर उसका केवल सग्रह ही किया जाय तो प्रथम तो वह चोरो के लिये आकर्षण का कारण बनता है, और उनसे बचा रहा जाय तो आपके बालको को कुमार्ग पर ले जा सकता है। धनवानो के पुत्र यह देखकर कि घर म सम्पत्ति की कमी नही है, प्रथम तो ज्ञान-प्राप्ति म ही लापरवाह रहते है दूसरे पान, सिगरेट, सिनेमा तथा सैर-सपाटो मे भी अनाप शनाप खर्च करते है। इतना ही नही, शराब और जुए से भी उनका बचना कठिन हो जाता है। यह परिणाम है धन को इकट्ठा करने का। ससार मे प्रत्येक अनावश्यक वस्तु का यही हाल होता है। अन्य वस्तुएँ टूट जाती है, फूट जाती है या खाद्य-वस्तुएँ हो तो सड जाती हैं और दुर्गन्ध पैदा करती है। ध्यान मे रखने की बात है कि धन यद्यपि सडकर दुर्गन्ध नही फैलाता किन्तु वह अगर आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो आपके बालको मे जैसा कि मैंने बताया ही है, कुसस्कारो की सडाँध उत्पन्न कर सकता है।

इन दोषो से बचने के लिए आप लोगो ने जो उदारता दिखाई है वह प्रशसनीय है। लेकिन एक बात मैं आपको और बताना चाहता हूँ कि आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा करना भी एक तरह से अपराध है। कुछ व्यक्तियो का धन को इकट्ठा करने का अर्थ अन्य अनेकानेक गरीबो के मुँह की रोटी छीनना है। कुछ व्यक्तियो की तिजोरियाँ व्यर्थ मे भरी रहें तथा दूसरी ओर सैकडो व्यक्ति भूखे और नगे फिरें तो धनवानो का धन इकट्ठा करना उचित है क्या ? समझदार और समदर्शी व्यक्ति अधिक परिग्रह का सचय नही करता। एक उदाहरण देखिये—

पेशगी तनख्वाह

बगदाद का एक खलीफा राज-कार्य और प्रजा की सेवा के बदले मे प्रतिदिन

शाम को केवल तीन दिरम अपने लिए लिया करते थे। यद्यपि राज्य के अन्य कर्मचारियो का वेतन इससे कही अधिक था किन्तु खलीफा अपने लिये तीन दिरम ही पर्याप्त मानते थे।

एक बार ईद का त्यौहार आया, पर खलीफा के बच्चो के पास नए कपडे नही थे। अत उनकी बेगम ने पति से कहा—अगर आप मुझे तीन दिन की तनख्वाह पेशगी दिलवा दें तो मैं बच्चो के लिए नये कपडे बना लूं।

पर खलीफा ने क्या उत्तर दिया ? कहा—"बेगम, मैं तनख्वाह पेशगी ला तो दूं किन्तु अगर मैं तीन दिन तक जीवित न रहा तो यह कर्जा कौन चुकाएगा ? अगर तुम खुदा से मेरी जिन्दगी का तीन दिन का पट्टा ला दो तो मैं खजाने से तीन दिन की तनख्वाह पेशगी उठालूं।"

कितने सुन्दर विचार थे खलीफा के ! ससार का प्रत्येक महापुरुष ऐसा ही सोचता है। वह अपने पास जो कुछ भी होता है, उसे सबको बाँटकर खाना चाहता है। होना भी ऐसा ही चाहिए। आदान-प्रदान के बिना व्यवस्था भी सुचारु रूप से नही चल सकती। आप जब भोजन के लिए बैठते है, थाली परोस कर लाई जाती है। इस समय थाली अगर कहे कि मै किसी को खाना नही देती तो बताइये साहब ! कैसे काम चलेगा ? और अगर थाली ने हाथ को दे दिया पर हाथ कहे कि मैं किसी को नही देता तो फिर ? इसी प्रकार हाथ को मिल जाए और वह मुँह को देने के लिए तैयार न हो तो फिर पेट कैसे भरेगा ?

कहने का आशय यही है कि थाली हाथ को, हाथ मुंह को तथा मुँह पेट को देता है, तभी काम चलता है। यह सब दान की प्रक्रिया है। और इसके पूर्ण होने पर ही पेट भरता है। इसी प्रकार समाज के व्यक्तियो मे से जब व्यक्ति एक दूसरे को देते है तभी समाज की व्यवस्था ठीक बैठती है।

किन्तु यह सब भावना और सुविधा से ही होना चाहिए। अर्थात् दान भी अपनी शक्ति को देखकर ही किया जाय तभी ठीक है। जैसे आपको बढे हुए नाखून काटने पडते है, किन्तु अगर उन्हे भी आवश्यकता से अधिक काट दिया जाय तो खून निकलता है, तकलीफ होती है। इसी प्रकार शक्ति के अनुसार ही दान भी दिया जाता है। अगर शक्ति नही है और कोई कह भी दे कि इतना दान करो, तो व्यक्ति कहाँ से करेगा ? इसलिये हमारा यही कहना है कि अगर शक्ति है तो दान अवश्य करो। इससे पुण्य-कर्मों का सचय होगा और वही आत्मा के साथ जाएगा। अन्यथा यह शरीर तो नाशवान है, जिस दिन भी यमराज का बुलावा आ जाएगा धन सब यही रह जाएगा और जीव केवल पापो की पोटली लिये ही चल देगा। श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी कहा है —

करत जगत धध अध के समान सुख,
ऐश मे भुलायो मन भास नहीं काल की।

ऊंची-ऊंची नींव देइ, चुणावे आवास जाली,
झरोखा अटारी चित्र शोभा सुर साल की ।
मात तात नारी सुत, मोह में बधाय रह्यो,
तृष्णा अधिक चित्त धरे धन माल की ।
अमीरिख कहे घट रोके जब मौत आय,
जावे सब छोड बांध पोट पाप जाल की ।

वास्तव मे ही यह शरीर जिसके रहने के लिये मनुष्य बडी-बडी अट्टालिकाएँ बनाता है, भोग-विलास के असख्य साधन जुटाकर ऐश-आराम मे निमग्न रहता है, माता-पिता पत्नी तथा पुत्रादि के मोह जाल मे बँधकर उनके लिये तृष्णा वश अधिक से अधिक धन-सचय करने का प्रयत्न करता है । वह सब मृत्यु को बुलावा आते ही यही छूट जाता है और जीव अकेला ही अपने पाप-कर्मों के साथ चल देता है ।

किसी को मालूम नही पडता कि किस दिन इस शरीर की धडकने समाप्त हो जाएँगी । हम देखते है कि घडी का पेंडुलम रुकते ही उसकी टिक-टिक बन्द हो जाती है, उसी प्रकार हृदय की धडकन बन्द होते ही शरीर की समस्त क्रियाएँ रुक जाती हैं । कवि ने इस शरीर को भी घडी के समान ही बताया है —

नर तन है घडी समान,
चले तब तक ही अच्छा मान !
कल पुर्जे हड्डी के सारे,
बने हैं मांस नसो के सारे,
चमक ऊपर चमड़ी का मान !
चले तब तक ही अच्छा जान ।

अर्थात्—यह शरीर भी एक प्रकार की घडी है, जब तक चलती है, अच्छा है । घडी मे जिस प्रकार कल-पुर्जे होते है, उसी प्रकार शरीर मे भी हड्डी, मास और नस रूपी-कल पुर्जे बने हुए है । इसके अलावा घडी के ऊपरी हिस्से पर जैसी चमक होती है शरीर रूपी घडी पर भी चमडी की चमक है । चमडी पर ही शरीर का सारा सौन्दर्य निर्भर है । अगर वह न हो तो फिर क्या रह जाता है ? कुछ भी नही, आगे कहते हैं—

जब तक है नाड़ी का ठपका,
प्यारा लगता है तन सबका ।
रुकने पर होते हैरान—
चले तब तक ही अच्छा जान !

जब तक घडी की टिक-टिक होती है, घडी का महत्त्व माना जाता है । इसी प्रकार इस नर-तन मे भी जब तक नाडी का ठपका होता है, शरीर सबको प्रिय लगता है । किन्तु इसके रुकते ही सबकी प्रसन्नता काफूर हो जाती है तथा इसे प्यार

करने वाले भी भय से दूर भागते है। सब यही सोचते हैं कि इस देह को ले जाकर फूंक दिया जाय। कि नाडी की गति मे विकार होते ही सगे-सम्बन्धी परेशान होने लगते हैं तथा —

फौरन डॉक्टर वैद्य बुलावे,
चाबी इन्जेक्शन लगवावे।
टन-टन बजे सुने धर कान,
चले तब तक ही अच्छा जान!

जिस प्रकार घडी मे टिक-टिक की आवाज बन्द होते ही लोग चाबी भरते हैं तथा कान लगाकर उसकी टिक-टिक की आवाज ध्यान से सुनते हैं, उसी प्रकार शरीर-स्थित नाडी म फर्क आते ही शोर-गुल मचता है—'डाक्टर लाओ, वैद्य को बुलाओ या कि हकीम साहब को दिखलाओ!''

डाक्टर आते ही इंजेक्शन रूपी चाबी देते हैं, और बार-बार नब्ज व हार्ट देखते है कि शरीर मे कितनी गर्मी है या कि हार्ट की क्या स्थिति है?

आपको ध्यान ही होगा कि जब डॉक्टर ऑपरेशन करते हैं, उस समय बडी सावधानी से एक डॉक्टर नाडी पर हाथ रखता है, दूसरा सास कैसे चल रही है इसका ध्यान रखता है तथा अन्य डॉक्टर ऑपरेशन करते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि नाडी क ठपके का महत्त्व बहुत ही अधिक होता है और डाक्टर वैद्य के आते ही आशा बध जाती है कि अब यह शरीर-रूपी घडी पुन चालू हो जाएगी। इसके विषय मे आगे कहा गया है —

अगन असन पान की लगती
तब यह बहुत मजे से चलती
होता सब को हर्ष महान्
चले तब तक ही अच्छा जान।

जब घडी खराब हो जाती है तो घडीसाज उसके सब कल पुर्जे अलग-अलग करके उसकी सफाई करता है कचरा कूडा हो तो निकालता है तथा पुर्जों मे तेल देता है। इसी प्रकार इस शरीर रूपी घडी म भी अन्न और पानी देने पर यह आनन्द से चलती है। सन्त कबीरदास जी ने भी यही बात कही है —

कबीर काया कूतरी, करत भजन मे भग।
ताको टुकडा डारि के, जप-तप करो अभग॥

इस शरीर को कबीर जी ने तो कुतिया की ही उपमा दे दी है। वे कहते है कि जिस प्रकार कुतिया को खाने के लिए नहीं डालो तो वह भौंकती रहती है, और रोटी का टुकडा डाल दिया जाय तो शान्त हो जाती है। इसी प्रकार इस शरीर को अगर खुराक नही दी जाय तो यह भी शान्ति से भजन नही करने देता। अत उचित

यही है कि इसे थोडा खाना देकर उमग सहित जप-तप करो। थोडा अन्न लेने पर ही यह प्राणी को बेफिक्र होकर भजन-भाव करने दे सकता है।

अन्त मे कवि ने कहा है —

जब तक ठीक टाइम ये देती,
अपनी सुधार नर तन खेती।
बेता चौथमल यह ज्ञान।
चले जब तक ही अच्छा मान।

कविता के अन्त मे मुख्य बात बताई गई है, जिसे समझना और उसके अनुसार प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को आचरण करना आवश्यक है। कवि ने कहा है 'यह मानव शरीर रूपी घडी जब तक ठीक चल रही है अपनी खेती सुधारनी है तो सुधार लो। अर्थात् जब तक यह शरीर चलता है, इससे शुभ-कर्मो का उपार्जन करो। अन्यथा कच्चा घडा जिस प्रकार तनिक सी ठेस लगते ही फूट जाता है तथा उसमे भरा हुआ जल बह जाता है। उसी प्रकार शरीर रूपी घडे के नष्ट होते ही आयुष्य-रूप जल समाप्त हो जाता है।

इसलिए अपने इस अमूल्य मानव-भव का एक क्षण भी बुद्धिमान व्यक्ति को व्यर्थ मे नही खोना चाहिये। जो व्यक्ति इस बात को समझ लेते है वे अपने जीवन को सार्थक करने मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं। वे भली-भाँति समझ लेते है कि—

"शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।"

—यह शरीर धर्म का साधन है।

इसीलिये सुज्ञ-पुरुष अधर्म अथवा पाप के निमित्त इसका उपयोग नही करते। वे अपने विवेक को जागृत रखते हैं तथा आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास रखते हुए दान, भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य और सदाचार आदि साधना के जितने भी साधन हैं, उन सबका उपयोग करते हुए अपने गतव्य की ओर बढ़ते हैं। परिणाम यह होता है कि कालातर मे वे निश्चय ही अजर-अमर पद को प्राप्त होते है तथा शाश्वत सुख मे रमण करते है। ☆

१४ | अनमोल सांसें...

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

श्री रायप्रसेनी सूत्र मे सूर्याभ देवता अपने आभियोगिक—चाकर देवताओ को हित-शिक्षा देते है—'भगवान महावीर प्रभु की सेवा मे उपस्थित होकर उन्हे विधि सहित वदना करो और वहाँ जो भी आवश्यक हो, समुचित व्यवस्था करो।'

हस का कारागार

जिस प्रकार सूर्याभ देवता अपने आभियोगिक देवताओ को हित-शिक्षा देते है, उसी प्रकार सन्त-महात्मा मोह-जाल मे फसे हुए ससारी जीवो को हित-शिक्षा देते है। वे बार-बार यही कहते है —'भाइयो, मानव-शरीर पाया है तो कुछ करनी करलो। जाना तो निश्चित ही है, यहाँ रहना नही है। यही शरीर नश्वर है। आत्मा एक यात्री के समान इस शरीर-रूपी सराय मे आकर ठहरता है और समय होते ही पुन प्रयाण कर जाता है। इसलिये इसकी स्थिरता पर विश्वास न करते हुए, जब तक यह विद्यमान है कुछ लाभ उठा लेना चाहिये।' महामानव पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी प्राणियो को उद्‌बोधन दिया है —

एरे हो सयाने प्रीति ठाने या शरीर साथ,
जाने नहीं पथ के बटाउ सम वासा है।
पातक मे रात्रि के गमावत वृथा ही यह,
रतन अमोल जैसा एक एक स्वासा है।
परम धरम यह तिरने के नाव शुभ,
गोठ करी पायो ज्यो जुआरी का-सा पासा है।
कहे अमीरिख नर देह को भरोसो कहाँ,
पानी मे बतासा जैसा तन का तमासा है।

कहते है—अरे सयाने बन्धु ! इस शरीर के साथ इतनी प्रीति क्यो रखते हो ? तुम जानते नहीं हो क्या, कि इस शरीर मे आत्मा का एक राहगीर के समान क्षणिक निवास है। इस अशुचि के भण्डार मे मोहित होकर तू अनमोल रत्न के समान अपने एक-एक श्वास को वृथा क्यो खो रहा है ?

पण्डित रत्न श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने भी कहा है—

हंस का जीवित कारागार,
अशुचि का है अक्षय भण्डार।
है बाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार,
बहिर्दृष्टि मोहित होते हैं, विनय विवेक बिसार।
किस सामग्री से इस तन का हुआ बन्धु, निर्माण,
कैसे-कैसे जाग उठे हैं, इस शरीर में प्राण।
सोचना है विवेक का सार;
हंस का जीवित कारागार।

अर्थात्—यह शरीर आत्मा रूपी हंस के लिए कारागार के समान है। बाहर मे देखा जाय तो अवश्य ही यह सुन्दरता का साकार रूप दिखाई देता है, किन्तु अन्दर तो इसमे अशुचि का भण्डार ही है। दुख की बात है कि मानव इसके बाहरी सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है।

बन्धु, तनिक विचार करो कि रक्त, मांस, मज्जा तथा हड्डी जैसी किस-किस प्रकार की अशुद्ध चीजो से इसका निर्माण हुआ है और किस प्रकार इसमे प्राणो का आविर्भाव हुआ है। यह सोचना ही विवेक का सार है।

श्री अमीऋषि जी महाराज इन्ही बातो की ओर ध्यान दिलाते हुए आगे कहते है—जुआरी व्यक्ति के फेंके हुए पासो के समान तथा जल मे डाले हुए बतासो के समान ही इस तन का भी तमाशा है। अर्थात् जुआरी के फेंके हुए पासे जिस प्रकार अधिक देर एक ही स्थिति मे नही रहते, तथा जल मे डाले हुए बतासे भी टिक नही सकते। इसी प्रकार यह देह भी कब तक टिकेगी, कोई भरोसा नहीं है। अत इसे ससार-सागर से तैरने का एकमात्र साधन मानकर जितना शीघ्र हो सके, इसका उपयोग करलो !

सतो का एकमात्र यही उपदेश है। उनके पास जाने पर आपको यही हित-शिक्षा मिलेगी। क्योकि वे त्यागी है तथा त्याग ही उनका आदर्श है। वे भली-भाँति जानते हैं कि —

"स्वय त्यक्ता ह्यते शमसुखमनन्त विदधति।"

—योगशास्त्र

इन सासारिक भोगों का अपनी इच्छापूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य जैसे व्यक्ति के पास जायगा उससे वैसी ही प्रेरणा मिलेगी। भोगी व्यक्ति के पास जाने से ऐश-आराम की, आलसी के पास जाने से पुरुषार्थ-हीनता की, चोर के पास जाने से चोरी की, तपस्वी के समीप जाने से तपस्या की, त्यागी के संसर्ग से त्याग की और ज्ञानी के पास पहुँचने पर ज्ञान हासिल करने की प्रेरणा मिलती है।

मुझे कहना यह है कि मनुष्य को अपने विवेक से समझना चाहिए कि मेरा हित किसमे है ? इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान के द्वारा ही विवेक जागृत होता है तथा मनुष्य अच्छाई और बुराई म रहे हुए अन्तर को समझ सकता है। ज्ञान के अभाव मे व्यक्ति अपना बुरा-भला नही सोच सकता तथा पशुओ के समान जीवन-यापन करता हुआ भव भ्रमण करता रहता है। कहा भी है —

"अविद्या जीवन शून्यम्।"

—जो जीवन विद्या से रहित है वह शून्य के समान है।

'पातंजलि छन्द सूत्र' मे भी अज्ञान से होने वाली हानि को बताते हुये ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रेरणा दी गई है। लिखा है —

अर्द्धांगुल-परीणाह जिह्वाग्रायास-भीरव ।
सर्वांगीण परिक्लेशमबुधा परिकुर्वते ॥

पद्य का भावार्थ है—जो भीरु अर्थात् डरपोक व्यक्ति ज्ञान सीखने के लिये आधे अगुल की जबान हिलाने मे आलस्य करते है, उन्हे आगे जाकर साढे तीन हाथ के शरीर को हिलाना पडता है। अर्थात् कडा परिश्रम करना पडता है जिससे पूर्ण शरीर को कष्ट होता है।

आप देखते ही है कि जो बालक प्रारम्भ से ही ज्ञानार्जन मे रुचि रखते है तथा मनोयोग से ज्ञान-लाभ करते है वे आगे जाकर ऊँची पदवियाँ प्राप्त करते है तथा कुर्सियो और सोफो पर आनन्द मे बैठकर जीवन-यापन करते हैं। किन्तु जो बालक बचपन मे ही पढने से जी चुराते है, स्कूल से भाग जाया करते है या अविनय और उद्दडता से निकाल दिये जाते है, उन्हे बडे होने पर खेतो मे, सडको पर अथवा अन्य ऐसे ही स्थानो मे कडी धूप मे, वर्षा मे और असह्य शीत मे भी मजदूरी करनी पडती है।

इसलिये ज्ञान सीखने मे कभी प्रमाद नही करना चाहिए। सत तिरुवल्लुवर का कथन है—

"आलस्य मे दरिद्रता का वास है, मगर जो आलस्य नही करता उसके परिश्रम मे कमला (लक्ष्मी) बसती है।"

भर्तृहरि ने भी आलस्य को मनुष्य का शत्रु माना है —

आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धु कृत्वा य नावसीदति ॥

—आलस्य ही मनुष्य के शरीर मे रहने वाला सबसे बडा शत्रु है, और उद्यम के समान मनुष्य का कोई बन्धु नही है जिसके करने से मनुष्य दुखी नही होता।

तो बन्धुओ, जब किताबी ज्ञान-प्राप्ति मे आलस्य करने से भी परिणाम कष्ट-कर और बुरा निकलता है तब धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने मे आलस्य करने से तो कितना अनिष्ट होगा इसकी आप स्वय ही कल्पना कर सकते हैं। धार्मिक ज्ञान मनुष्य के विवेक को जाग्रत करता है, उसकी रुचि सद्गुण सचय की ओर बढाता है। तथा मनुष्य मे आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक आदि के रहस्य को समझने की जिज्ञासा पैदा करता है। मनुस्मृति मे कहा गया है —

"ज्ञानेन कुरुते यत्न यत्नेन प्राप्यते महत्।"

ज्ञान की प्रेरणा से ही आत्म-विकास के मार्ग मे प्रयत्न, गति करता है और उसी के परिणामस्वरूप ईश्वरत्व रूप महान् फल की प्राप्ति हुआ करती है।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान हासिल करने मे प्रमाद नहीं करना चाहिये। इस ससार मे एकमात्र सम्यक्ज्ञान ही आत्मोद्धार म सहायक बनता है। जब सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो आत्मा मे विवेक की जागृति होती है और प्राणी स्वय ही सासारिक भोगो से विरक्त हो जाता है। उनका उपयोग करता हुआ भी वह उनमे आसक्त नही रहता, अनासक्त भाव रखता हुआ अपने कर्मो की निर्जरा करता रहता है। भोग-विलासो मे उसे तनिक भी रुचि नही रहती, वह प्रतिपल उस क्षण की प्रतीक्षा किया करता है जिस क्षण वह इस ससार से मुक्त होगा। यह सब सम्यक् ज्ञान की बदौलत ही हो सकता है। अत कहा गया है —

ससार सागर घोर, तर्तुमिच्छति यो नर ।
ज्ञान-नाव समासाद्य, पार याति सुखेन स ॥

—जो मनुष्य इस घोर ससार-सागर को पार करना चाहते है, उन्हें ज्ञान-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिए। क्योकि एकमात्र ज्ञान ही सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है।

सक्षेप मे सम्यक्ज्ञान ही कालातर मे मनुष्य को ससार मुक्त कराने वाला साधन है। ज्ञान प्राप्त किये बिना जन्म-मरण की वेदनाओ से कभी नही बचा जा सकता। भगवद् गीता मे भी कहा है—

"नहि ज्ञानेन सदृश, पवित्रमिह विद्यते।"

—ससार मे ज्ञान के समान पवित्र पदार्थ और दूसरा कोई नही है।

अत प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी को ज्ञानोपासना करनी चाहिये। ज्ञानप्राप्ति करने पर ही वह अपनी अन्य क्रियाएँ सम्यक् रूप से सम्पन्न कर सकता है। 'दशवैकालिक सूत्र' मे यही कहा है —

'पढमं नाण तओ दया।'

—पहले ज्ञान प्राप्त करो, तत्पश्चात् आचरण मे उतारो।

बन्धुओ, एक बात और ध्यान मे रखने की है कि ज्ञान कहीं बाहर से नही आता। आत्मा म उसका अक्षय-कोष विद्यमान रहता है। केवल उसे प्रकाश मे लाने की तथा अभिव्यक्त करने की आवश्यकता होती है जिसमे हमारे शास्त्र एव गुरु सहायक बनते है। ज्ञान का उपादान कारण व्यक्ति की आत्मा स्वय ही है। अगर उसमे ऐसी शक्ति न होती तो लाख निमित्त मिलने पर भी उसमे ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। जिस प्रकार पत्थर अथवा काष्ठ आदि जड पदार्थों मे अनन्त काल तक प्रयत्न करने पर भी ज्ञान का दीप नही जलाया जा सकता। आत्मा स्वय ही ज्ञानमय है तथा अपरिमित चेतना की अधिकारिणी है।

इसी चेतन को सम्बोधित करके एक कवि के शब्दो मे 'सुमति' कहती है —

> चेतन धरके अब ध्यान, जरा पहले तू ज्ञान,
> जिससे बने इन्सान, कहे सुमति सखि।

सस्कृत मे 'चिति सज्ञाने' एक धातु है जिसका अर्थ है—सम्यक् प्रकार से जानने व समझने वाला चेतन। इसे ही सुमति ने कहा है—हे चेतन! अज्ञान दशा मे तो अनन्त काल बीत गया। चौरासी लक्ष योनियो मे भटकते-भटकते बडी कठिनाई से यह मनुष्य-शरीर मिला है। इस बीच मे जीव को कितना कष्ट सहन करना पडता होगा इसका वर्णन करना सभव नही है। पडित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने जीव की दशा के बारे मे कहा है —

> कभी नरक गति मे जाता है, बीज पाप का बोकर।
> घोर व्यथाएँ तब सहता है, दीन नारकी होकर॥
> छेदन-भेदन ताडन-फाडन की है अकथ कहानी,
> पडे बिलखते सदा नारकी मिले न खाना पानी।

असख्य पाप-कर्मों का बध करके जब जीव नरक मे जाता है तो वहाँ पर उसे अत्यन्त दीन और हीन बनकर नाना प्रकार की असह्य यातनाएँ सहन करनी पडती हैं। उस जीवन का वर्णन सुनकर ही रोमाच हो उठता है कि किस प्रकार नारकीय जीवो के शरीर का छेदन-भेदन किया जाता है तथा लाख बिलखने पर भी अन्न-पानी नही मिलता। कवि दौलतराम जी ने अपनी छहढाला की पहली ढाल मे लिखा है—

> सेमर तरु जुत दाल असि पत्र,
> असि ज्यो देह विदारें पत्र।
> मेरु समान लोह गलि पाई,
> ऐसी शीत उष्णता थाई।
> तिल-तिल करें देह के खड,
> असुर भिडावें दुष्ट प्रचड।

सिंधु नीरतें प्यास न जाय,
तो पण एक न बूँद सहाय।

और तो और नरक मे जो सेमल के वृक्ष होते हैं, उनके पत्ते भी तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। उन पत्तो के गिरने से भी तलवार के घाव की तरह चोटें लगा करती है। कहते है कि वहाँ इतनी तीव्र गरमी होती है कि मेरु के समान लोहु भी हो तो पिघल जाय। उसे भी नारकीय जीवो को सहन करना पडता है।

वहाँ रहने वाले असुर, शरीरो के तिल के समान छोटे छोटे टुकडे कर डालते है या आपस मे ही एक-दूसरे को भिडा-भिडा कर घोर कष्ट देते है। प्यास इतनी तीव्र लगती है मानो सारे सागर का जल पी लेवे तो भी शात न हो किन्तु मिलता एक बूँद पानी भी नही।

नरक म जोव को एमी असह्य यातनाएँ सहन करनी होती हैं। पर वहाँ से निकलकर भी दुखो से छुटकारा मिल पाता हो, ऐसी बात नही है। कहते है—

निकल नरक से कभी जीव तिर्यंच योनि मे आता,
वध बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिश पाता।
एक श्वास मे बार अठारह जन्म-मरण करता है,
आपस मे भी एक दूसरा प्राण हरण करता है।

किसी प्रकार जीव नरक मे निकल भी जाता है तो तिर्यंच योनि मे जा फसता है, तथा गधा, घोडा या बैल बनकर शक्ति से अनेक गुना अधिक भार ढोता रहता है, मारा-पीटा जाता है और अनेक बार तो बलिदान का बकरा बनकर प्राण-त्याग करता है। असज्ञी अवस्था मे तो वह एक ही श्वास मे करीब अठारह बार भी जन्म और मरण के दुख भोगता है।

तो 'सुमति' चेतन से यही कह रही है कि तुझे अज्ञानदशा के कारण चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करते और असह्य कष्ट सहते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया है। अब तो इस मानव-भव से कुछ लाभ उठा। पर लाभ मिलेगा कैसे ? जब ज्ञान हासिल करेगा। ज्ञान प्राप्त करने से ही इन्सान सच्चा इन्सान बन सकता है। अन्यथा आकार से तो सभी इन्सान है ही।

बधुओ, इस चेतन-आत्मा के समझो, दो पत्नियाँ है। एक 'सुमति' और दूसरी 'कुमति'। इन दोनो के कार्य और परिणाम आप जानते ही है। तुलसीदास जी ने भी इनके विषय मे लिखा है—

जहा सुमति तहँ सम्पति नाना
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना।

पद्य का अर्थ आप समझ ही गए होगे। जहाँ सुमति का प्रभाव होता है, वहा सभी प्रकार की सुखकर उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और जहाँ कुमति का

कुप्रभाव होता है वहाँ नाना प्रकार की विपत्तियो का ही साम्राज्य बना रहता है। दोनो ही स्त्रियाँ चेतन पर अधिकार जमाने की फिराक मे रहती है। जब जिसका दाँव लगता है अपनी सत्ता जमा लेती है। सारा ससार ही सुमति और कुमति के प्रपच मे पडा हुआ कभी सुख और कभी दुःख का अनुभव करता रहता है।

कुमति चेतन को सांसारिक प्रपचो मे फसाती है, उसे विषय-भोगो की ओर उन्मुख करती है तथा कुमार्ग पर अग्रसर करके उसके जन्म-मरण को बढाती है। किन्तु सुमति अर्थात् सद्बुद्धि ऐसा नही करती। वह आत्मा को हित-शिक्षा देती है। उसे जन्म और मरण के दुःखो का भय बताती हुई इससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करने को कहती है। वह तो—

तेरा होगा तरण, ऐसी देती है सलाह।
लेले मोक्ष किला, नहीं आवागमन।।

कितनी सुन्दर सीख है? सुमति का कहना है कि कुमति के कहने पर मत चलो! मैं इसलिये यह बात नही कह रही हूँ कि वह मेरी सौत है, वरन् इसलिये कहती हूँ कि तुम्हें ससार से मुक्त होने पर अक्षय सुख मिल सकेगा और तुम्हारे सुख मे ही मेरा सुख है। मेरी यही कामना है कि तुम मोक्ष-रूपी किले का साम्राज्य प्राप्त करो और वहाँ सुख से रहो।'

सुमति को चेतन से असीम स्नेह है। इसीलिये वह बार-बार कहती है—ऐसी करनी करो, जिससे मुक्ति-नगर मे जा सको और पुनः-पुनः जन्म-मरण न करना पडे। आवागमन का झझट ही समाप्त हो जाय। उसका कहना है —

मिले सुख आठो याम, यह तो मुक्ति का है धाम।
तेरा होवे सब काम, मेरी मान, मान, मान!

अर्थात् मोक्ष-धाम मे आठो प्रहर सुख ही सुख है। दुःख का नामोनिशान भी वहाँ नही। अनन्त सुख का साम्राज्य वहाँ फैला हुआ है।

आप जानते ही होंगे कि मनुष्य के सुखो से देवताओ का सुख अनन्त गुना है तथा देवताओ के सुख से सिद्धो का सुख अनन्त गुना अधिक है। इसलिये मुक्ति-धाम पहुँचो जहाँ सब कार्य सिद्ध हो जावे।

इस ससार मे तो सैकडो आकर्षण और बन्धन है। माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी और बेटे पोते है। उन सबके पालन-पोषण का प्रबंध करना होता है। मकान नही बन पाया इसकी चिन्ता रहती है। व्यापार मे नफा-नुकसान होता है उसकी फिक्र होती है। सारा जीवन इन्ही सब समस्याओ को सुलझाने मे बीत जाता है और जब अन्त-समय आता है तब पश्चात्ताप होता है तथा भगवान की याद आती है। उस समय प्राणी कहता है —

नर-देह पायो पै कमायो न परम लाभ,
कीनो न उपाय भव सिन्धु के तरन को।
सोय के गमाई निशि, काम मे बितायो दिन,
लागो उद्वेग हाय ! उदर भरन को।
कहे अमीरिख कूर काजपे अकाज ठान,
धार्यो ना धरम भव भीति के हरन को।
पर्यो मझधार अब कीजे का विचार नाथ,
मोको तो भरोसो दृढ़ रावरे चरण को।

क्या सोचता है मनुष्य ? यही कि, 'मनुष्य-जन्म पाकर भी मैंने धर्म-कार्य कुछ भी नही किया। कोई भी प्रयत्न इस ससार-सागर से पार उतरने के लिये नही कर सका। जीवन के सभी सुनहरे दिन काम-धन्धा करने मे और रात्रियाँ सोकर गुजार दी। रात-दिन पेट भरने की समस्या मे ही उलझा रहा।

कार्य कुकार्य का मुझे कुछ भी भान नही रहा। सभी कुछ करता गया। नही किया तो केवल भव-भ्रमण से बचने का उपाय। उसका मुझे डर नहीं रहा और इसीलिये मैंन धर्म को नही अपनाया। पर अब मैं क्या करूँ ? मेरी नाव मझधार मे पडी है। 'हे भगवान ! अब मुझे आपका ही भरोसा है, आप ही मेरा उद्धार करो !"

तो सुमति चेतन को इसीलिये बार-बार समझाती है कि तुम पहले ही चेत जाओ, ताकि अत-समय म फिर पश्चात्ताप न करना पडे। वह भिन्न-भिन्न प्रकार से चेतन के विवेक को जागृत करने का प्रयत्न करती है तथा सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने का आग्रह जारी रखती है।

ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन :

ज्ञान की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है ऐसा एक सुभाषित मे कहा गया है —

विनयेन विद्या ग्राह्या, पुष्कलेन धनेन च।
अथवा विद्यया विद्या, चतुर्थं नैव कारणम्॥

ज्ञान प्राप्त करने के पद्य मे तीन साधन बताए गए है। उनमे से पहला है विनय के द्वारा गुरु को प्रसन्न करके विद्या प्राप्त की जा सकती है।

दूसरा उपाय है 'धन' ! जिस व्यक्ति को विनय धारण करना कठिन जान पडता है तथा गुरु की सेवा-भक्ति करने मे उसे अपनी हेठी मालूम होती है, वह वेतन द्वारा शिक्षक रखकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इनके अलावा तीसरा साधन है—अपनी कोई कला अथवा किसी भी प्रकार की विद्या जो भी आती हो, उसे दूसरे को सिखाकर बदले मे ज्ञान हासिल करना।

पद्य मे कहा है कि विद्या-प्राप्ति के ये ही तीन कारण हैं, इनके अलावा और

कोई साधन नहीं है। अब हमें यह देखना है कि इन साधनों में से कौनसा साधन उत्तम है, अर्थात् किस साधन के द्वारा सम्यक्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है?

सर्वोत्तम साधन

ज्ञान प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है—विनय के द्वारा गुरु से ज्ञान हासिल करना। सच्ची सेवा और भक्ति के द्वारा गुरु को सतुष्ट करते उनसे ज्ञान-दान लेना ही उत्तम है।

हमारी भारतीय संस्कृति गुरु को बडा भारी महत्त्व देती है। क्योंकि सच्चे गुरु निस्वार्थ भाव से अपने शिष्यों को आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ज्ञान देकर उनके तीनों प्रकार के कष्टों का नाश करते है। अपनी सदुपदेश—रूप औषधि के द्वारा आत्मा के विषय-विकार रूपी रोगों को दूर करते है। उनके हृदय में अपने ज्ञान-दान का प्रतिदान पाने की इच्छा नहीं होती। वे अपने शिष्य को सच्चा 'मनुष्य' बना देने की इच्छा रखते है।

ऐसे गुरु अपने शिष्य की सेवा-भक्ति से सतुष्ट होते है तथा हृदय से ज्ञान प्रदान करते है। आवश्यकता है शिष्य के विनयवान होने की। अविनीत और कटु-भाषी शिष्य गुरु को असतुष्ट कर देता है और ज्ञान-लाभ से वंचित रह जाता है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है —

> **अणासवा थूलवया कुसीला,**
> **मिउंपि चण्डं पकरंति सीसा।**
> **चित्ताणुया लहुदक्खोववेया**
> **पसायए तेहु दुरासयंपि॥**

अर्थात् गुरु की आज्ञा को नहीं मानने वाले, कठोर वचन बोलने वाले, दुष्ट तथा अविनीत शिष्य, शान्त स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते है। किन्तु गुरु की इच्छानुसार चलने वाले तथा गुरु की आज्ञा का अविलम्ब पालन करने वाले विनीत शिष्य निश्चय ही अपने गुरु को, चाहे वह उग्र स्वभाव वाले ही क्यों न हों, शान्त व प्रसन्न कर देते है।

कहने का अभिप्राय यही है कि शिष्य को अत्यन्त विनय के साथ गुरु की सेवा-भक्ति करते हुए उनसे ज्ञान लेना चाहिए। गुरु को प्रसन्न रखते हुए अगर वह दो शब्द भी ग्रहण करेगा तो वे उससे जीवन में आत्मोन्नति के हेतु बन जाएँगे। गुरु की सेवा-भक्ति करने में शिष्य को किसी प्रकार की शर्म या झिझक नहीं होनी चाहिये। लज्जा हो भी किस बात की? प्राचीन काल में तो बडे-बडे राजकुमार और दरिद्र से दरिद्र के पुत्र भी जगलों में गुरुओं के आश्रम में रहकर अध्ययन करते थे। आपने पढा भी होगा कि सदीप ऋषि के आश्रम मे कृष्ण और सुदामा साथ-साथ पढते थे तथा समान रूप से गुरु की सेवा-भक्ति करते थे। जिस आनन्द से वे ज्ञाना-

भ्यास करते थे उसी आनन्द के साथ जगल मे अपने गुरु के लिये लकड़ियाँ काट कर लाया करते थे। बडे छोटे का कोई भी अन्तर उनके हृदयो मे नही था।

ऐसी भक्ति और विनय के साथ जब गुरु से ज्ञान प्राप्त किया जाता है तो वह ज्ञान व्यक्ति को आत्म-विकास के मार्ग पर बढ़ाता है तथा मुक्ति का हेतु बनता है तथा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करना ही ज्ञान-प्राप्ति का सबसे उत्तम साधन है।

ज्ञान-लाभ का माध्यम साधन

ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा साधन पद्य मे बताया गया है। धन के द्वारा ज्ञान हासिल करना। यह कार्य मध्यम मार्ग है। वेतन देकर जो शिक्षक रखे जाते है वे आतरिक स्नेह और रुचि से छात्र को विद्याभ्यास नही करा पाते। क्योकि उनका उद्‌देश्य छात्र को ज्ञानवान और सद्‌गुण सम्पन्न बनाने का ही नही होता, वरन अर्थ प्राप्ति का भी होता है।

हम देखते ही है कि आज स्कूलो मे वेतन लेने वाले शिक्षक जो शिक्षा छात्रों को देते है वह उनके जीवन को सच्चा जीवन नही बना पाती। दूसरे शब्दों मे उन्हें सच्चा मानव नही बनाती। उनकी प्राप्त की हुई शिक्षा केवल अर्थ-प्राप्ति का साधन बन सकती है मुक्ति-प्राप्ति म सहायक नही बन पाती। कारण यही है कि स्कूलो और कालजो मे छात्रो को अनुशासन, शिष्टाचार, विनय, सेवा-भावना, कर्तव्य-परायणता तथा सदाचार का पाठ नही पढाया जाता, उनके चरित्र-निर्माण और नैतिकता पर जोर नही दिया जाता। इसीलिय आज के छात्र उद्‌दण्ड व अविनयी बन जाते है तथा विनय और नैतिकता के अभाव म उनका जीवन शून्य होकर रह जाता है।

इस प्रकार धन के द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षा या ज्ञान, मनुष्य को समुचित लाभ प्रदान नही करा पाता, अत धन ज्ञान-प्राप्ति का मध्यम मार्ग कहा जा सकता है।

तृतीय और लाभ रहित साधन

सुभाषित मे ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा साधन भी बताया गया है। वह है अपनी विद्या देकर दूसरो से विद्या प्राप्त करना। यह तरीका लेने वाले और देने वाले, दोनो की ही अत्यन्त स्वार्थपरता का द्योतक है। 'तुम मुझे कुछ दो तभी मैं तुम्हे दूँगा' यह भावना निकृष्टता की पहचान कराती है। इस तरीके से ज्ञान-प्राप्त करने पर जीवन नही बनता और इस प्रकार ली हुई शिक्षा आत्मोन्नति का हेतु नही बन सकती।

सच्ची शिक्षा और सच्चा ज्ञान वही है, जिससे सर्वप्रथम जीवन मे विनयगुण का आविर्भाव हो। विनय-गुण के द्वारा ही क्रमश अन्य अनेक लाभ होते है।

विनय के द्वारा मनुष्य क्रोधी से क्रोधी व्यक्ति को भी शांत और नम्र बना सकता है।

मुझे गालिया देना !

एक संत बडे ही नम्र स्वभाव के थे तथा सर्वदा लोगो का भला करने मे तत्पर रहते थे । किन्तु कुछ दुष्ट व्यक्ति उन्हे अकारण ही तकलीफ दिया करते थे ।

एक दिन एक दुर्जन व्यक्ति उनके पास आकर उन्हें बुरा-भला कहने लगा । सत ने अत्यन्त स्नेह-पूर्वक उसे समझाने का प्रयास किया किन्तु वह नही माना और गालियाँ देने पर उतारू हो गया ।

कुछ देर पश्चात् सन्त वहाँ से उठकर अपने घर की ओर रवाना हुए । किन्तु उस कटु-भाषी युवक ने उनका पीछा नही छोडा । वह भी गाली देता हुआ उनके पीछे-पीछे चला आया । जब सन्त की कुटिया आ गई तो सन्त ने उससे कहा—'भाई, तू अब मेरे घर पर ही रह जा ताकि तुझे गालियाँ देने के लिये चलकर इतनी दूर न जाना पडे ।

यह व्यक्ति सचमुच ही वहाँ रहने के लिये तैयार हो गया । किन्तु थोडे से समय वहाँ रहकर जब उसने सन्त का उच्च जीवन देखा तो अपने स्वभाव पर उसे बडी शर्मिन्दगी आई । परिणामस्वरूप वह वहीं रहकर सन्त की सेवा करने लगा ।

एक दिन सन्त ने उससे कहा—'भाई, अब तू अपने घर जा ।'

व्यक्ति ने उत्तर दिया—"नही भगवन् ! मुझे यहीं पर आपकी सेवा मे रहने दीजिये ।"

सन्त बोले—"अच्छा तेरी इच्छा हो तो खुशी से रह, पर एक शर्त है वह यही कि जब मैं कुछ बुरा कार्य करू, तब मुझे गालियाँ दिया करना ।"

यह सुनकर व्यक्ति पानी-पानी हो गया तथा सन्त के चरणो मे लोट गया ।

नियम तथा नम्रता का ऐसा ही चामत्कारिक प्रभाव होता है । जीवन मे अगर यही एक गुण आ जाय तो अन्य अनेक गुणो का स्वयमेव आविर्भाव हो जाता है ।

'दशवैकालिक सूत्र' के नवे अध्ययन मे भी कहा है—

> **मूलाउ खधप्पभवो दुमस्स,**
> **खधाउ पच्छा समुविति साहा ।**
> **साहप्पसाहा विरुहति पत्ता,**
> **तओ सि पुप्फ च फल रसो य ॥**

श्लोक मे बताया है कि वृक्ष की जड मजबूत होनी चाहिए । जड मजबूत होने पर ही उसमे तना, शाखा, प्रशाखाएँ, पत्ते, फूल और फिर मधुर रस वाले फल लगेगे ।

इसी प्रकार विनय-गुण मजबूत और दृढ होने पर उसमे सद्गुण रूपी फूल धीरे-धीरे लग जायेगे अर्थात् जीवन मे अन्य सद्गुणो का आविर्भाव होगा । अन्य श्लोक मे भी कहा गया है —

एवं धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मुक्खो ।
जेण किर्त्ति सुय, सिग्घ, नीसेस चाभिगच्छई ।।

धर्म-रूपी वृक्ष का मूल विनय है । और उसका आखिरी फल मोक्ष है । जो व्यक्ति विनय के द्वारा श्रुत-ज्ञान को हृदयगम कर लेता है, आवागमन को नि शेषकर मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है ।

इसीलिए सुमति सखि चेतन से कहती है—कि 'तुम ज्ञान हासिल करो । अगर सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लोगे तो धीरे-धीरे तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो जाएगा । सुमति कहती है—मुझे उस दिन सच्चा सतोष होगा जिस दिन तुम यह कहोगे :—

जा दिनतें वाणी जिनराज की परी है करन,
ता दिनतें मेरे उर ज्ञान बोध जागो है ।
लगत अनित्य धन धाम काम ठाम आदि,
जग को स्नेह हियरा तें भूरि भागो है ।
भयो मे वैरागी अभिलाषी ज्ञान आतम को,
शिवपद साधवे मे, मेरो मन लागो है,
अब तो अधीन लीन, भयो जिन धरम मे,
अमोरिख याते देह नेह सब त्यागो है ।

सुमति चेतन को किस अवस्था मे देखना चाहती है ? उस विरक्तावस्था मे जब वह कहने लग जाय कि जिस दिन से जिनराज की वाणी मेरे कानो मे पडी है, उस दिन से ही मेरे हृदय मे ज्ञान का प्रकाश हुआ है ।

मुझे यह भवन, धन सासारिक कार्य आदि सब व्यर्थ मालूम होता है । तथा मेरे हृदय से सांसारिक बन्धनो का तथा समस्त सम्बन्धियो का स्नेह भाग गया है, अर्थात् विलीन हो गया है ।

अब तो मेरा मन ससार से विरक्त और आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है तथा मोक्ष-मार्ग की साधना करने के लिए उत्कठित हो रहा है । मेरी आत्मा जिन-धर्म की आराधना मे लीन होना चाहती है । इसीलिए ससार का तथा शरीर का मोह मुझे नही रहा है । मैंने ससार के प्रति आसक्ति को त्याग दिया है ।

बधुओ, जब ऐसी ही स्थिति हमारी हो जाय, तब समझना चाहिए कि हमे सच्चा मार्ग दिखाई दिया है । हमारे लिए जीवन मे सुख और दुख समान हो जाने चाहिए तथा मान और अपमान एक जैसे लगने चाहिए ।

ईश्वर को धन्यवाद

सन्त उसमान हैरो किसी गली से जा रहे थे कि एक मकान के झरोखे मे से किसी ने उन्हे देखे बिना ही ऊपर से राख डाल दी । राख सन्त उसमान के सिर पर ही गिरी । हैरी ने राख झाडते हुए आकाश की ओर देखा और कहा—

'दयालु भगवन् ! तुम्हें धन्यवाद है।

एक आदमी ने यह देखकर पूछ लिया—"महाराज ! इसमें ईश्वर को धन्यवाद देने की क्या बात है ?"

सन्त बोले—"भाई ! मेरे जैसा पापी तो आग में जलाने लायक होता है। किन्तु उस रहम दिल ने तो मुझे राख से ही निपटा दिया।"

प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को इसी प्रकार आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए आत्मा की अनन्त शक्ति को जगाना चाहिए तथा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करते हुए निरासक्त भाव से साधनापथ पर बढ़ना चाहिए। तभी एक दिन यह आवागमन नष्ट करके शिवपुरी में पहुँचा जा सकेगा।

☆

अब थांरी गाड़ी हॅंकबा में | १५

धर्म प्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

चौरासी लक्ष जीव-योनियो मे मानव-योनि सर्वश्रेष्ठ कहलाती है। यह मानव देह बार-बार नही मिलती। नाना योनियो मे भटकने के पश्चात् महान पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप यह मानव-जीवन प्राप्त होता है। कहा भी है—

> **हैं इस लोकाकाश के, सख्यातीत प्रदेश।**
> **जन्म-मरण कर जीव ने, छुआ न कौन प्रदेश ?**
> **एक जगह पर जीव है, जन्मा बार अनन्त।**
> **मरा अनन्तो बार है, कहते ज्ञानी सन्त ॥**

मानव-जीवन एक जक्शन

सुनकर आपको थोडा आश्चर्य होगा कि मानव जीवन जंक्शन कैसे होगा ? हम रेलगाडियो मे बैठकर जाते है तो अवश्य अनेक स्टेशन और जकशन आते है पर मनुष्य-जीवन जक्शन कैसे हुआ ? है न यही बात आपके मन मे ? पर आश्चर्य-जनक होने पर भी बात सर्वदा सत्य है। जिस प्रकार ट्रेन मे चढने-उतरने और टिकिट लेने के लिए बनाया हुआ स्थान स्टेशन कहलाता है, और जिस विशिष्ट स्थान पर से अलग-अलग दिशाओ मे ट्रेन जाती है उसे जक्शन कहते है उसी प्रकार जीव क लिये जो चौरासी लाख योनियाँ है वे उसके जन्म-मरण के स्टेशन है। इस पृथ्वी पर बने हुए स्टेशन पर मनुष्य एक ट्रेन से उतरता है और दूसरी मे चढता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न योनि रूप स्टेशन पर वह मरता है और पुन जन्म लेता है।

अब आई मानव-योनि क जक्शन होने की बात। आप जानते ही हैं कि धरती पर के इन जक्शनो पर पहुँचकर आप चाहे तो किसी भी अन्य दिशा की ओर जाने वाली ट्रेन का टिकिट लेकर उसमे बैठ सकते है अर्थात् किसी भी दिशा मे जा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार मानव-भव भी एक जक्शन है तथा इस जक्शन से आप चाहे जिस गति की ओर जा सकते है।

टिकिट लेने की आवश्यकता है

प्रत्येक जक्शन पर आप टिकिट लेते हैं तभी अपनी निर्दिष्ट दिशा की ओर जाने वाली ट्रेन मे बैठ सकते है। इसी प्रकार इस मानव-जन्म रूपी जक्शन पर से भी आप चाहे जिस ओर जा सकते हैं, किन्तु आवश्यकता है टिकिट लेने की। ध्यान रखिये, कि इस जक्शन से आपको नरक गति का, मनुष्य-गति का, देव गति का और पाँचवीं मोक्ष-गति का भी टिकिट मिल सकता है। अर्थात यहाँ से आप किसी भी गति मे जा सकते है,पर महत्त्वपूर्ण बात है उसका टिकिट प्राप्त करना।

मै जानता हूँ कि आप मे से कोई भी व्यक्ति कम से कम नरक और तिर्यंच गति के विषय मे तो सोचना भी नही चाहेगा। बाकी बची तीन गतिया। मनुष्य देव और मोक्ष-गति। यदि आपकी इच्छित गतियाँ है और इनमे भी श्रेष्ठतम है मोक्ष-गति, जिसे पाने के लिये आप क्षणभर मे ही तैयार हो जाएँगे ! पर तैयार हो जाने से ही तो वहाँ जाया नही जा सकेगा। उसके लिये टिकिट लेना पड़ेगा और वह टिकिट धन देकर नही मिलेगा, उसके लिये महान श्रम, पुरुषार्थ और त्याग करना पड़ेगा। मोक्ष-गति का टिकिट प्राप्त करने की योग्यता किसमे होती है इस विषय म कहा गया है —

"मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति।

—विवेकचूडामणि

—जिस आत्मा ने सोलह कषाय और नव नोकषाय रूप मोह-विकार को पूर्णरूप से जीत लिया है, और मोह का जड-मूल से ही नाश कर दिया है, वही आत्मा मोक्ष-पद को प्राप्त करने के योग्य है।

कितनी सुन्दर और सत्य बात है। वास्तव मे ही उच्च-गति के टिकिट प्राप्त करना सरल बात नही है। पूर्ण इच्छा होने पर भी और जक्शन पर बैठे रहकर भी सभव है कि हम जीवन भर म भी इच्छित गतव्य के टिकिट प्राप्त न कर सके।

जकशन पर हम बैठे है। अर्थात् मनुष्य पर्याय हमे प्राप्त हो चुकी है किन्तु वह भी तो चली जा रही है और अभी हमारे टिकिट का पता ही नही है। इसी को लक्ष्य मे रखकर श्री कुमुदमुनि ने लिखा है—

जग उठरे, जग उठरे, जग उठरे म्हारा चतुर पावणां,
अब थारी गाड़ी हकबा मे।
पल पल मे थारी ऊमर जावे, मौत पागथी आवे जिवड़ा
मोह नींद रे वश में सूग्यो भूल आपणो पथ जिवड़ा
अब थारी गाडी हंकबा में।
मुनियाँ री उपदेश न मान्यो, धर्मस्थान नहिं आयो जिवड़ा
बीती सो तो बीत गई रे, अब थने चेतायो जिवड़ा,
अब थारी गाड़ी हकबा मे।

इस सुन्दर भवन मे आत्मा को सम्बोधन करके कहा गया है—'मेरे चतुर पाहुने ! अब तो तू जाग जा ! क्योकि तेरी गाडी अब जकशन छोडकर रवाना होने को ही है। अगर अब भी नही जागा तो तू कब टिकिट लेने के लिए प्रयत्न करेगा ?'

'एक-एक पल के बहाने तेरी उम्र कम होती जा रही है तथा मौत नजदीक आ रही है। तू तो अपना मार्ग भूलकर मोह की नीद म ही अभी तक सोया हुआ है। पर तेरी गाडी तो अब चलने वाली है।'

आगे कहा है—'भोले जीव ! बार-बार प्रेरणा करने पर भी तू धर्म-स्थान मे नही आया। और आया भी तो सन्तो के उपदेशो को सुनकर उस पर अमल नही किया। अपना कितना वक्त व्यर्थ मे ही बरबाद कर दिया ? पर अब बीते हुए के लिये क्या कहा जाय, आगे के लिये ही चेतावनी देते हैं कि अब तो जाग और पुण्योपार्जन-रूप टिकिट लेने का प्रयत्न कर ! तेरी गाडी के रवाना होने का समय हो गया। वह चलने वाली है।

मानव-जीवन का महत्त्व

हमारे शास्त्रो मे जीव के पाँचसौ त्रेसठ भेद बताए गए हैं। इनमे से मनुष्य गति म आई हुई आत्मा अपनी शुभाशुभ करनी के द्वारा सभी गतियो मे जा सकती है। स्त्रियाँ सातवे नरक म नही जाती पर पुरुष इतना बहादुर है कि वह वहा भी बिना रोक-टोक चला जाता है।

सुनकर आपको हँसी आ रही होगी पर बात यथार्थ है। पुरुष पाप-कर्मों मे भी स्त्रियो से आगे ही रहता है। फिर भी आपको निराश नही होना चाहिये क्योकि उत्तम करनी करने पर आप मोक्ष मे तो जा ही सकते है न !

कुछ धर्मावलम्बी कहते है कि मनुष्य मृत्यु के बाद पुन मनुष्य नही बन सकता। यह बात ठीक नही है। उत्तम करनी करने पर मनुष्य मरकर पुन मनुष्य भी बन सकता है।

'ठाणाग सूत्र' के चतुर्थ ठाणे मे बताया है कि चार बातो से मनुष्य-पद प्राप्त होता है—

'पगईभद्दयाए, पगईविणीययाए, साणुक्कोसे, अमच्छरियाए।'

मनुष्य जन्म पाने के चार कारणो मे पहला कारण है मनुष्य का प्रकृति से भद्र होना।

भद्र व्यक्ति का हृदय अत्यन्त सरल और निष्कपट होता है। तथा उसका आचरण भी उसके हृदयअनुरूप ही बन जाता है, आज का मनुष्य-जीवन ऊपरी दिखावे के कारण बहुत दूषित हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे का विश्वास नही करता। सभी एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

किन्तु छोटे गाव मे आज भी व्यक्ति बडे भद्र और सरल होते है। अपने बडे-बडे झगडे भी वे अपनी पचायतो मे ही निपटा लेते हैं। इसके अलावा सदाचार का गुण उनमे विशेष रूप से होता है। एक व्यक्ति की बेटी और बहू सारे गाव की बेटी और बहू मानी जाती है।

भद्र व्यक्ति सदा पर की भलाई तथा स्व-कल्याण मे प्रयत्नशील रहते है। हृदय की भद्रता या सरलता आत्मा को अत्यन्त शातिमय अवस्था मे पहुँचा देती है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द ट्रेन मे सफर कर रहे थे। जिस डिब्बे मे वे बैठे थे, उसी मे दो-तीन अँग्रेज यात्री भी बैठे हुए थे। स्वामीजी अपनी स्वाभाविक शाति से बैठ रहे, किसी से कुछ भी नही बोले।

अग्रेजो ने एक हिन्दुस्तानी और गेरुआ वस्त्रधारी व्यक्ति को चुपचाप बैठे देखा तो उनका उपहास करना प्रारम्भ कर दिया। स्वामीजी के बारे मे उन्होने बहुत ही अपमानजनक शब्द कहे और बीच-बीच मे गालिया देने से भी नही चूके।

कुछ समय पश्चात् एक स्टेशन आया। वहाँ पर स्वामी जी ने स्टेशन-मास्टर को बुलाया और शुद्ध अग्रेजी म उससे कहा—'कृपया थोडा पानी मगा दीजिये!'

अग्रेज उनकी ओर देख ही रहे थे। उन्हे शुद्ध व स्पष्ट अग्रेजी मे बोलत देखकर कुछ शर्मिन्दा हुए। तथा बोले—"आप अँग्रेजी जानते हैं, तब तो हमारी बाते सुनकर आपको बहुत क्रोध आया होगा? आप कुछ बोले तो नहीं?"

विवेकानन्द जी ने मुस्कराते हुए कहा—"मेरा तो आप जैसे भद्र व्यक्तियो स कई बार सम्पर्क होता है। व्यर्थ म क्रोध करके मैं अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करूँ?"

भद्रता की पहचान कराने वाला एक उदाहरण और भी है।

मलिक दिनार बडे तपस्वी, अत्यन्त सरल और पवित्र हृदय के सन्त थे। एक बार वे कही जा रहे थे, रास्ते म उन्हे एक स्त्री न कपटी कहकर पुकारा।

दिनार ने बिना चेहरे पर शिकन लाए अत्यन्त आदर और विनयपूर्वक तुरत ही उस स्त्री से कहा—"बहन! तुमने मुझे ठीक पहचाना है। वास्तव म ही इतने दिनो मे मेरा सच्चा नाम लेकर पुकारने वाली मुझे तुम एक ही मिली हो।"

भद्रता के यही लक्षण होते है। भद्र व्यक्ति इसके द्वारा की गई निंदा, उपहास और अपमान का बदला भी सम्मान के रूप मे देता है। कहा भी है —

विप्रियमप्याकर्ण्य ब्रूते प्रियमेव सर्वदा सुजन।
क्षार पिबति पयोधेर्वर्षत्यम्भोधरो मधुरम्॥

—जिस प्रकार बादल समुद्र का खारा जल पीकर भी सदा मीठा जल बरसाता है, उसी प्रकार सज्जन और भद्र व्यक्ति दूसरो की कटुवाणी सुनकर भी सदा मधुरवाणी ही बोलता है।

इस प्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से ही भद्र होता है। करुणा, परोपकार, नैतिकता, ईमानदारी आदि उत्तम गुणो से विभूषित होकर सदाचरण युक्त जीवन व्यतीत करता है वह पुन मनुष्य-जन्म का बध कर सकता है।

मनुष्य-गति के बध का दूसरा हेतु है—प्रकृति से ही विनय-गुण सम्पन्न होना। विनय का हमारे यहाँ बड़ा भारी महत्त्व माना गया है। क्योकि—

"विनयायत्ताश्च गुणा सर्वे।"

—प्रशमरति

समस्त गुण विनय के ही अधीन होते हैं।

अगर व्यक्ति मे एकमात्र गुण विनय ही हो तो धीरे-धीरे अन्य अनेक सद्‌गुण उसमे आ जाते हैं। किंतु विनय क अभाव मे व्यक्ति के पास चाहे प्रचुर मात्रा मे धन हो, या पाडित्य हो, वह फीका लगता है। कहते भी है :—

"पाडित्ये सति नम्रत्व हीरोऽय कनकोपरि।"

—सूक्ति रत्नावली

विद्वता के साथ विनय होना, सोने के ऊपर हीरा होने के समान है।

बच्चे के समान हूँ

न्यूटन एक महान प्रतिभाशाली वैज्ञानिक थे। उन्होंने केवल बाईस वर्ष की अवस्था मे ही बीजगणित के द्विपद सिद्धान्त का आविष्कार किया था। और बाद मे सूर्य की किरणो मे सात रग क्यो है ? समुद्र मे ज्वार-भाटा क्यो आता है ? सूर्य और चन्द्र क्षीण कैसे हो जाते है तथा फिर पूर्ण कैसे होते है। इन सब प्रश्नो का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके गुरुत्वाकर्षण सिद्धान का आविष्कार किया था। उनके चिन्तन एव विद्वत्ता पर आज भी समस्त यूरोप को गर्व है।

उन्ही महान वैज्ञानिक के पास एक बार एक महिला आई और आंतरिक सत्यतापूर्वक उनकी प्रतिभा और ज्ञान की प्रशसा करने लगी।

महिला द्वारा की गई प्रशसा को सुनकर न्यूटन ने बहुत चकित होकर कहा—'बहन, तुम क्या कह रही हो ? मैं तो उस बालक के समान हूँ जोकि सत्य के विशाल समुद्र के किनारे पर बैठा हुआ केवल ककर ही बीनता रहता है। ज्ञान के असीम सागर मे तो मैंने अभी तक प्रवेश ही नहीं किया है।''

आगन्तुक महिला महाविद्वान न्यूटन की विनम्रता देखकर बडी चकित हुई और स्वय ही उनके समक्ष नत हो गई।

इस प्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से ही विनम्र होते हैं, आगे जाकर महापुरुष कहलाते हैं। बालक मे भी अगर बाल्यावस्था से ही विनम्रता होती है तो वह उत्त-मोत्तम सस्कारो का धनी बनता है तथा अपने गुरु से सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त करके

आत्मोन्नति के पथ पर बढ़ता जाता है। तथा ऐसे विनय-गुण सम्पन्न जीव पुन मनुष्य गति को प्राप्त कर सकते है।

मनुष्य-जन्म के बध मे तीसरा सहायक कारण होता है हृदय मे आक्रोश का न होना। मनुष्य मे अगर मनुष्यता नामक कोई वस्तु होती है तो वह दया ही है। दया जिसके हृदय मे होती है, उसके हृदय मे आक्रोश का आविर्भाव नहीं होता वरन् उसकी ससार के सभी प्राणियो के प्रति स्नेह व सद्भावना रहती है। जिस व्यक्ति का हृदय आक्रोश से भरा रहता है वह पशु से भी गया बीता साबित होता है। क्योकि अहिंसा और ममत्व की भावना तो हम पशुओ मे भी पाते है। वे भी मनुष्य के समान ही अपनी सन्तान को प्यार करते हैं तथा उनका पालन-पोषण करते है। बन्दरो को हम देखते हैं कि एक बन्दरी के बच्चे को झुड के अन्य बन्दर अपने पास जबरन ले-लेकर खिलाते है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा के समान ही अन्य सभी जीवो की आत्मा को समझते है, उनके हृदय मे किसी के प्रति आक्रोश के भाव नही रहते। इसीलिए महापुरुष कहते है—

जगत के जीव ताको आतम समान जान,
सुख अभिलाषी सब दुख से डरत है।
जाणी इम प्राणी पालो दया हित आणी,
यही मोक्ष की निसाणी जिनवाणी उचरत है।
मेघरथ राय मेघकुँवर धरम रुचि,
निज प्राण त्याग पर जतन करत है।
जनम मरण मेट पामत अनत सुख,
अमीरिख कहे शिव सुन्दर वरत है।

कहा है—जो व्यक्ति ससार के समस्त जीवो को आत्मवत् समझते है, सांसारिक दुखो से भयभीत होते हुए अक्षय सुख की अभिलाषा रखते हैं तथा हृदय मे दया की भावना रखते हुए अन्य प्राणियो के प्रति सद्भावना-पूर्ण व्यवहार रखते है, उनका यह कार्य मोक्ष-प्राप्ति का पूर्व लक्षण है। ऐसा जिनवाणी का कथन है।

ससार के महापुरुष पर के प्राण बचाने के लिए अपने प्राणो का भी बलिदान कर देते हैं। आप जानते ही होगे कि राजा मेघरथ ने एक कबूतर की प्राण-रक्षा के निमित्त अपने शरीर का मास काट-काट कर तराजू पर रख दिया था। मेघकुमार ने अपने हाथी के भव मे, जगल मे लगी हुई आग से बचने के लिए आये हुए एक खरगोश के लिए अपने पैर को तीन दिन तक उठाये रखा और अपने प्राण त्याग दिये थे। इसी प्रकार धर्मरुचि मुनि ने चीटियो का प्राण-नाश न हो इस डर से कड़वे तूम्बे के शाक को स्वय ही खा लिया था।

प्राण देकर भी परोपकार करने वाले ऐसे महापुरुष जन्म-मरण के दुखों को नष्ट करके शिव-सुन्दरी का वरण करते है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि अगर हृदय मे आक्रोश का साम्राज्य रहता है तो वह बुद्धि, बल, शक्ति और क्षमता आदि सभी गुणो का दिवाला निकाल देता है। किन्तु अगर मानव आक्रोश पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसका आत्मबल बढता है तथा वह मुक्ति-मार्ग पर चलने की क्षमता प्राप्त करता है। ऐसा मनुष्य ही मृत्यु के पश्चात् पुन मनुष्य जन्म प्राप्त कर सकता है।

मराठी भाषा मे एक सुन्दर पद्य है। जिसमे प्रश्न भी है और उत्तर भी। वह इस प्रकार है—

मोठा कोण म्हणावा ? साधु सेवा दयालु जो त्याला।
त्यावा चुनी इतर नर पडले नाहींत काम जो त्याला॥

एक ही पद्य मे कवि ने बडे सुन्दर ढग मे प्रश्न किया, उत्तर दिया और उपदेश भी दे दिया है।

ससार मे बडा कौन है ? हम किसे बडा कहे ? यह प्रश्न है। अगर लोगो से इसका उत्तर माँगा जाय तो वे यही कहेगे—बडा वही है जिसके पास रुपया है। प्रचुर मात्रा मे धन-माल का जो अधिकारी हो वही एक मत से बडा आदमी माना जाता है।

उस व्यक्ति को कोई बडा नही कहता जो चतुर है बुद्धिमान है और शास्त्रो का जानकार है, पर जिसके पास लक्ष्मी नही है। ससार की दृष्टि ऐसी ही है। लक्ष्मी के अभाव मे वह किसी को बडा नही समझता। वह यह नही समझता कि पैसे वाला ही बडा कैसे हुआ ? क्या पैसा परलोक मे तार देगा ? क्या पैसा जीव को नरक-गति मे जाने से बचा लेगा ?

नही, हमारे शास्त्रो के अनुसार बडा व्यक्ति वह होता है जो अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयत्न करता है तथा उसे कर्म-रहित करता हुआ मुक्ति-पथ पर बढता है। पर वह ऐसा किस प्रकार कर सकता है ? इसी के लिए मराठी पद्य मे बताया है कि जो त्यागवृत्ति को अपनाता है, अपने से अन्य समस्त जीवो पर दया भाव रखता है तथा सतो की सेवा मे निमग्न रहता है।

सतो की सेवा मे मेरा अभिप्राय यह नही है कि आप उनकी शारीरिक सेवा-शुश्रुषा करें या धन-पैसे से सहायता करे। सत यह सब कुछ नही चाहते उनकी सेवा-भक्ति इसी मे है कि आप उनके आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तथा उनके सदुपदेशो को हृदयगम कर जीवन म उतारें। सतो की सच्ची सेवा है, उनसे सद्ज्ञान हासिल करना तथा त्याग व प्रत्याख्यान करते हुए उत्तम नियमों को अपनाना।

कानड़ कठियारा

कानड कठियारा एक लकडहारा था। उसने एक बार किसी सत से नियम

लिया कि मैं पूर्णिमा के दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करूंगा। और तो बेचारे से कुछ बनता नही था क्योकि उसे दिनभर जगल मे लकडी काटना पडता था। पर यह विचार कर कि इस नियम मे मुझे कोई दिक्कत नही होगी, न समय ही खर्च करना पडेगा और न एक पैसा भी व्यय होगा, उसने नियम ले लिया तथा उसका पालन करने लगा।

एक बार वह जगल से लकडी काटकर लाया और सयोगवश उसी गाव मे रहने वाले श्रीपति नामक श्रेष्ठि के यहाँ बेचने जा पहुँचा। कठियारा नहीं जानता था कि वह कौन सी लकडियाँ काट कर लाया है, किन्तु श्रीपति साहूकार ने देखा तो पाया कि वे लकडियाँ चन्दन की है।

साहूकार चाहता तो चुपचाप लकडियाँ रखवाकर थोडे से पैसे दे देता किन्तु वह ईमानदार था, अत उसने स्वय लकडहारे को लकडियो के उसकी बराबर सोना तोलकर दे दिया।

बधुओ! अगर आपको इस प्रकार चद पैसो मे ही चदन की लकडी का गट्ठा मिले तो आप उसे छोडेगे क्या? कभी नही! पर श्रीपति साहूकार ऐसा नही था अत उसने कानड को लकडियो की पहचान करा दी और पूरा मूल्य भी दे दिया।

कानड सोने की पोटली लेकर वहा से रवाना हो गया। चलते-चलते वह उस मार्ग से गुजरा जहाँ एक वेश्या रहती थी। वेश्या ने उसे देखा और कानड की नजर भी उस पर पडी। वह ठिठक गया और वेश्या के घर मे चला गया। वहाँ बहुत से अन्य व्यक्ति जो बैठे हुए थे, उन्होने कठियारे का उपहास करना शुरू किया और उसकी बहुत मजाक उडाई। परन्तु कानड ने कोई ध्यान नही दिया। और सोने की गठरी वेश्या के हाथो मे थमा दी।

वेश्या प्रसन्न हुई और उसने कठियारे की बहुत आवभगत की। उससे कहा— "तुम हजामत वगैरह बनाकर स्नान करलो और दूसरे वस्त्र पहन लो।" कानड वेश्या के कथनानुसार समस्त कार्यों से निबट कर दूसरे मजिल ऊपर पहुँचा तो देखा कि आकाश मे चन्द्रमा अपनी सोलहो कलाओ को प्रकाशित करता हुआ पूर्ण-रूप मे मुस्करा रहा है।

कठियारे को ध्यान आया कि उसने पूनम को तो ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का नियम लिया है। पूनम को ही व्रत रखने का भी कारण यही था कि अष्टमी और चतुर्दशी को तो व्रत की याद शायद न रहे पर पूनम के दिन जब पूरा चन्द्रमा ऊगेगा उसे देखकर तो उसे अपने व्रत का ध्यान आ ही जाएगा।

तो आसमान मे पूर्ण-चन्द्र देखकर उसे अपने व्रत की याद आ गई और वह सोचने लगा आज मैं वेश्या से कोई व्यवहार नही कर सकता, अत मुझे यहाँ से किसी प्रकार निकल भागना चाहिये। वह नीचे उतरा और वेश्या से बोला—"मुझे जगल निपटने जाना है, अत मैं बाहर जाऊँगा।"

वेश्या ने घर मे ही स्थान बताया कि वह वहाँ चला जाए । पर कठियारा माना नही और शीघ्रता से बाहर चल दिया ।

गठरी का उसे ध्यान आया पर यह सोचकर कि उसे माँगने पर वेश्या जाने नहीं देगी, वह सोने को वहीं छोडकर चलता बना । स्वर्ण की अपेक्षा उसे अपने व्रत का महत्त्व अधिक लगा । और लगना भी चाहिए । सस्कृत मे कहा है—

'प्राणांतेऽपि न भक्तव्य, गुरुसाक्षे कृत व्रतम् ।'

गुरु की साक्षी से लिये हुए व्रत को प्राणात होने तक भी निभाना चाहिए ।

अर्थात्—प्राण भले ही चले जायँ, प्रण नही टूटना चाहिए । कोई पूछ सकता है—'क्या प्रण की कीमत प्राणो से भी अधिक है ?' उत्तर यही है कि कीमत वास्तव मे ही प्राणो स भी अधिक है । प्राण तो जन्म-जन्म मे मिल जाएँगे पर प्रण नही मिल सकता । तभी तो 'राम' ने कहा था—

'रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जायँ पर वचन न जाई ।'

वचन का अथवा प्रण का ऐसा ही महत्त्व है । इसीलिए कानड वहाँ से बहाना बनाकर निकल गया ।

इधर वेश्या उसी की प्रतीक्षा करती रही पर जब कठियारा लौट कर नहीं आया तो उसने स्वर्ण की पोटली ज्यो की त्यो उठाकर एक ओर रख दी तथा अगले दिन राजा के दरबार मे पहुँचा दी और कहलवा दिया कि यह जिसका है उसे पहुँचा दिया जाय ।

आपके मन मे प्रश्न होगा कि वेश्या ने ऐसा क्यो किया ? वेश्याएँ तो पैसे के लिए मरती हैं । पैसा ही उनका सगा होता है कोई भी आदमी नही । पर वह वेश्या भी एक नियम लिये हुए थी कि बिना हक का पैसा नही लेना । और वह अपने नियम की पक्की थी । अत उसने उसको छुआ भी नही ।

जब राजा के पास स्वर्ण की पोटली पहुँची तो उसने डोडी पिटवा दी कि दरबार मे सोने की एक गाँठ आई हुई पडी है, जिसकी हो वह ले जाय । डोंडी सुनकर कटियारा आया और उसने अपनी पोटली माँगी ।

राजा ने उसे देखकर कहा—"तुम्हारी आकृति से तो ऐसा नहीं लगता कि यह धन तुम्हारा होगा । तुम्हारे पास यह कहाँ से आया ?'

कठियारा बोला—'मुझे श्रीपति साहूकार ने दिया था ।'

श्रीपति श्रेष्ठि को भी बुलवाया गया और उससे राजा ने पूछा—"तुमने इतना धन कठियारे को क्यो दिया ?"

साहूकार ने उत्तर दिया—"यह चन्दन की लकडी लाया था अत मैने इसकी लकडी के बराबर सोना इसे दिया है क्योकि मेरा नियम है—बेईमानी से किसी की वस्तु नही लेना ।"

इसके पश्चात् राजा ने वेश्या को भी बुलवाया और उससे प्रश्न किया— "क्या यह वही आदमी है, जिसने तुम्हे सोने की यह पोटली दी थी ?" वेश्या ने स्वीकृति दी "यह वही आदमी है । मैं इसे पहचानती हूँ ।"

तत्पश्चात् राजा ने धन कानड कठियारे को दिलवा दिया ।

कालान्तर मे जब केवली भगवान उस ग्राम मे पधारे तो लोगो ने उनसे पूछा—"भगवान ! हमारे गाँव मे बडे नीतिवान व्यक्ति है । श्रीपति साहूकार ने बेईमानी नही की, वेश्या ने सहज म ही मिला हुआ धन ग्रहण नही किया, राजा ने ठीक न्याय किया और कानड कठियारे ने अपने व्रत का पालन धन का मोह छोडकर किया । आप फरमाइये, कि इन सब म से श्रेष्ठ कौन है ?

भगवान न भरी सभा म यही उत्तर दिया "उन सब म कानड कठियारा सर्वश्रेष्ठ धन्यवाद का पात्र है ।"

बधुओ, भगवान ने न सेठ की तारीफ की, न राजा की प्रशसा । और न ही वेश्या की ही सराहना की । उन्होने केवल कानड कठियारे की महत्ता बताई । वह क्यो ? क्योकि कठियारे न व्रत का पालन किया था । और वह व्रत उसने सतो की सगति से अगीकार किया था । यद्यपि राजा, सेठ और वेश्या तीनो ही नीतिसम्पन्न थे पर कठियारे ने जहाँ व्रत का पालन किया, वहाँ धन का लालच भी छोडा । इस प्रकार दोहरे कार्य किय । अत उसकी प्रशसा होनी ही चाहिये ।

तो इस प्रशसा के मूल मे क्या था ? साधु-भक्ति और साधु-सेवा । अगर कठियारा सन्तो की सेवा मे नही जाता तथा उनसे व्रत ग्रहण नही करता तो केवली भगवान उसकी प्रशसा कैसे करते, और हम आज भी कानड कठियारे को क्यो याद करते ?

तो साबित हो गया न कि बडा कौन है ? वही, जो सन्तो की सेवा करे । और वह भी, जिसके हृदय म दया की भावना हो । आप आज लक्ष्मीपति को बडा कहते है ! पर यह भूल जाते है कि लक्ष्मी अपने साथ पाँच बडे भारी अवगुण लेकर आती है । वे अवगुण कौन-कौन से है, इस विषय मे कहा है —

निर्दयत्वमहकार - स्तृष्णा कर्कशभाषणम् ।
नीच-पात्रप्रियत्व च, पञ्च श्री सहचारिण ॥

निर्दयता, अहकार, तृष्णा, कटु-भाषण और निकृष्ट व्यक्तियो से मित्रता ये पाँच लक्ष्मी के सहचारी है । अर्थात् साथ ही रहते है ।

ये पाँचो ही अवगुण लक्ष्मीपतियो मे आए बिना नही रहते । जहाँ भी लक्ष्मी का निवास होता है, ये अवगुण वही अपना अड्डा जमा लेते है ।

निर्दयता

यह लक्ष्मी के साथ आने वाला सबसे पहला अवगुण है । जहाँ मनुष्य के पास

धन की वृद्धि हुई कि उसके हृदय से दया की भावना का लोप हो जाता है, धन को अधिक से अधिक मात्रा म बढ़ाने की लालच से वह गरीबो का गला काटने मे तनिक भी सकोच नही करता । उसकी यही भावना रहती है कि मजदूरो से अधिक से अधिक परिश्रम कराया जाय पर बदले मे कम से कम पैसा दिया जाय ।

अपनी मोटर, बग्घी या ताँगे से सडक पर गुजरने वाले धनवान व्यक्ति यह नही देखते कि सडक पर कौन वृद्ध, दुर्बल, अपग या सहारे की अपेक्षा रखने वाला प्राणी गुजर रहा है । कौन असह्य शीत से काँपता हुआ पडा है या तीव्र भूख से छटपटा रहा है । उनकी सवारी से टकरा कर कोई गिर भी जाय तो वे उसकी सहायता करने के बदले सौ गालियाँ देने के लिए तैयार रहेगे कि, 'अधा हो गया है या बहरा है ?' पैसे की अधिकता से शराब को पानी की तरह काम मे लेने वाले पुरुष मास से परहेज नही करते और मास के पीछे कितने निर्दोष प्राणियो का बलिदान होता है यह आप जानते ही हे । यह सब कुछ आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा होने से ही होता है ।

अहकार

अहकार, धन की वृद्धि के साथ ही जन्म लेने वाला दूसरा और मुख्य अवगुण है । लक्ष्मी के घर मे प्रवेश करते ही मारे घमड के उसकी गर्दन सीधी नही रहती ।

चिरस्थायी धन

मिश्र देश मे एक बहुत बडा धनवान सेठ था । उसके दो पुत्र थे । सेठ ने अपने एक पुत्र को खूब विद्याध्ययन कराकर विद्वान् बनाया और दूसरे को राज्य का कोषाध्यक्ष बना दिया ।

कोषाध्यक्ष भाई को अपने पद का और अपने पैसे का बडा घमड था । एक दिन वह अपने छोटे भाई से बडे गर्वपूर्वक बोला—"देख, मैं बिना पढे-लिखे भी कितने ऊँचे पद पर हूँ ? सम्पूर्ण देश की धन सम्पत्ति मेरे हाथ मे है । और तू इतना पढ-लिखकर भी दरिद्र ही रह गया ।

विद्वान् व्यक्ति ने कहा—"भाई साहब ! आप मिश्र देश के कोषाध्यक्ष की उस गद्दी पर बैठे है, जिस पर अनेक व्यक्ति बैठाए गये और उतार भी दिये गये हैं । आप केवल कोषाध्यक्ष है, कोष तो आपका नही है । किसी भी दिन आपका नम्बर भी गद्दी से हटा दिये जाने वालो मे आ जायेगा । लक्ष्मी कभी किसी एक के पास नही रहती, उसका गर्व करना व्यर्थ है ।"

"असली धन तो मेरे पास है । मेरा ज्ञान रूपी धन मुझ से कोई छीन नही सकता । रुपया-पैसा पास मे न होने पर भी मैं जो कुछ उत्तम कार्य करता हूँ उससे मुझे पूर्ण सतोष प्राप्त होता है और इसी को मैं वास्तविक धन मानता हूँ । किसी ने कहा भी है—

यत्कर्मकरणेनान्त सतोष लभते नर. ।
वस्तुतस्तद् धन मन्ये, न धनं धनमुच्यते ॥

—जिस काम के करने से मनुष्य को आतरिक सतोष प्राप्त होता है, मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नही कहा जाता ।

लेकिन धन से आत्मा का तनिक भी भला नही होता उलटे नुकसान ही होता है । एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—

"धन एक ऐसा अथाह सागर है जिसमे सत्य, शील, प्रतिष्ठा और अन्त करण सभी डूब जाते हैं ।"

—कोजले

धनाढ्य व्यक्ति अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नही कर सकता । प्राय दान, शील, तप या त्याग की ओर उसकी प्रवृत्ति नही होती । इसीलिए किसी ने और भी कहा है—

"सुई के छेद मे से ऊँट का निकल जाना सम्भव है, किन्तु धनी मनुष्यो का स्वर्ग मे जाना असम्भव है ।"

वास्तव मे ही यह धन जो अपने साथ अनेकानेक दुर्गुण भी लाता है, मनुष्य के कर्म-भार को बढाता ही है, कम नही करता । और स्वय भी स्थायी नही रहता । मानव को पतन के मार्ग मे ढकेलकर लोप हो जाता है या जीव को कुगति की ओर अग्रसर कर मिट्टी के समान इसी धरती पर पडा रहता है । इसीलिए कबीर ने कहा है—

कबिरा गरब न कीजिये, कबहूँ न हँसिये कोय ।
अबहूँ नाव समुद्र मे, को जाने का होय ।

तृष्णा

लक्ष्मी का साथ देने वाला तीसरा अवगुण है तृष्णा । तृष्णा मनुष्य को पागल बना देती है । लखपति से करोडपति बन जाऊँ और करोडपति हूँ तो उतने से क्या ? कही का राज्य पा जाऊँ तो ठीक रहे, मानव के मन मे इसी प्रकार तृष्णा बढ़ती जाती है । हमारे 'उत्तराध्ययन-सूत्र' के नवे अध्ययन मे बताया गया है—

सुवण्ण रूपस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असखया ।
नरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगास समा अणन्तिया ॥

—यदि कैलाश पर्वत के समान सोने और चाँदी के असख्य पर्वत भी मनुष्य के पास हो जायँ तो भी उसे सन्तोष नही होता । क्योकि इच्छा तो आकाश की तरह अनन्त है ।

तृष्णा पर विजय प्राप्त करना बडा कठिन है, पर यह बात नही है कि कोई इसे जीत नही सकता। सच्चे सत और महापुरुष इसे जीत कर ही छोडते है।

भय को फेंक आया

एक बार गुरु मच्छिन्द्रनाथ अपने शिष्य गोरखनाथ के साथ कही जा रहे थे। रास्ते मे गुरुजी ने अपनी झोली शिष्य को ले चलने के लिये दे दी।

गोरखनाथ ने झोली को भारी देखकर चुपके से उसमे झाँका। देखा कि झोली मे सोने की ईंटे है। उन्होने चुपचाप ही सब ईंटें फेंक दी और चलने लगे।

कुछ देर चलने पर निर्जन वन आया देखकर गुरु ने कहा—"वत्स ! हम इस जन-रहित मार्ग से जाना है। रास्ते मे कुछ भय तो नही है ?"

गोरखनाथ बोले— "भगवन् ! भय को तो मै पहले ही रास्ते मे फेंक आया। आप निश्चिन्तता पूर्वक चलिये।"

महापुरुषो के लिए धन इसी प्रकार महत्त्वहीन होता है। गोरखनाथ के हृदय मे तृष्णा की भावना तो थी ही नहीं, उलटे जो धन था उसका भी उन्होने पलक-झपकते ही त्याग कर दिया। महामानवों का हृदय इस बात को भली-भाँति जानता है कि—

जीर्यन्ते जीर्यते केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत ।
चक्षु श्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते ॥

वृद्धावस्था मे बाल जीर्ण होकर सफेद हो जाते है, दाँत टूट जाते है, आँख और कान जीर्ण-शक्तिरहित हो जाते है, पर एक तृष्णा ऐसी है, जो सदा तरुणी ही बनी रहती है !

वास्तव म ही तृष्णा मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को बरबाद कर देती है। यह सतोष की वैरिन है। जहाँ स्वय रहती है सतोष को नही टिकने देती। इसलिये इस कु-भावना का तो समूल नाश करना ही उचित है।

कर्कश भाषण

कटु बोलना भी लक्ष्मी का सहचर है। ज्यो-ज्यो लक्ष्मी बढती है, मनुष्य के जबान की मधुरता घटती जाती है। तथा अभिमान के कारण मुँह से कर्कश और गर्व-युक्त वचन निकलने लगते है। अपने धन-सम्पन्न होने के कारण अन्य निर्धन व्यक्तियो से उनका व्यवहार अत्यन्त रूखा और कटु हो जाता है। श्रीमन्तो के पास अगर कोई चदा लेने आ जाए तो उनकी मानों मुसीबत ही आ गई समझो। जितना धर्म कार्य अथवा किसी सामाजिक कार्य के लिए पैसा देंगे उससे कहीं अधिक तो वे साथ मे कर्कश वचन कहेंगे। और दरवाजे पर भिखारी आ गया तो उसकी खैर नहीं रहती। एक गरीब और दयालु व्यक्ति तो भिखमगे को अपने भोजन मे से रोटी का एक टुकड़ा दे भी देगा, किन्तु लक्ष्मीपति के द्वार पर उसे गालियों के अलावा और

कुछ मिलना कठिन है। भले ही वे अपना यश बढाने के लिए अथवा दान-दाताओ की लिस्ट म अपना नाम सबसे ऊपर लिखवाने के लिये कुछ पैसा दे देगे। किन्तु किसी अभावग्रस्त व्यक्ति के दरवाजे पर आ जाने पर उसे कर्कश वचनो के अलावा और कुछ नहीं देंगे।

लक्ष्मी का चरण पडते ही उनके हृदय से दया का लोप हो जाता है, अहकार पनपता है, तृष्णा अपना साम्राज्य फैला लेती है और वचनो मे कर्कशता आजाती है। परिणाम यह होता है कि स्वय बोलने वाले के कर्मों का बध तो होता ही है, साथ ही उसके अनेक दुश्मन बन जाते है तथा मित्र भी विमुख हो जाते है।

इसीलिए महापुरुष कर्कश-भाषा का सर्वथा त्याग करने का उपदेश देते हुए मधुर-वचनो का महत्त्व बताते है। कहते है —

बोली से आदर और जग मे सुजस होय,
बोली से सकल जन, मित्र हो रहत हैं।
बोली से अनेक विधि भोजन मधुर मिले,
बोली से सुने हैं गाली मार भी सहत हैं।
बोली से सुप्यार और बोली से पैजार त्यार,
बोली से कलेश कारागृह भी सहत हैं।
कहे अमीरिख नर बोली है रतन सार,
सुगुण विवेक बोल तोल के कहत है।

वचनो के द्वारा ही मनुष्य को जग मे आदर मिलता है, सुयश फैलता है तथा मित्र बनत है। मधुर वचनो से जहाँ मिष्टान्न खाने को मिलते हैं, वहाँ कटु वचनो से मार भी खानी पडती है। बोली से ही प्यार मिलता है, और बोली से ही कारागार हवा खानी पड जाती है।

इसलिए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज कहते है कि बोली एक अमूल्य रत्न है और प्रत्यक विवकवान व्यक्ति अपनी जिह्वा से सोचकर शब्द निकालता है।

नीच पात्र-प्रियता

कहने का अभिप्राय यही है कि श्रीमन्तो के हजारो और लाखो रुपये अशुभ-कार्यों म अर्थात् नाटक, सिनेमा, सैल-सपाटो, ब्याह शादियो अथवा भोज व शान-शौक के कार्यों मे खर्च हो जाते है किन्तु शुभ-कार्य मे उनसे नही दिया जाता।

जब मनुष्य के पास पैसा उसकी अनिवार्य आवश्यकताओ से अधिक हो जाता है तो वह उस पैसे को निकृष्ट कार्यों मे उडाने लगता है। मदिरा पान, वेश्यागमन, मास-भक्षण तथा सट्टे और जुए म बहुत रुचि लेने लगता है। परिणाम यह होता है कि उसको सब सगी-साथी निम्न-कोटि के मिलते हैं। बाध्य होकर उसे नीच व्यक्तियो की सगति मे रहना पडता है। यह सब लक्ष्मी की ही करतूत होती है। वह अच्छे-भले

व्यक्ति की आदतो को बिगाडती है और फिर वैसे ही व्यक्तियो की सगति मे ले जाती है। अभिप्राय यही है कि वह विद्वान तथा चरित्रवान व्यक्तियो की प्रिय-पात्र नहीं बनती। क्योकि वे सरस्वती का वरण करते है, लक्ष्मी का नहीं। इसीलिये लक्ष्मी का सबध दुर्जनो से रहता है, सज्जनो से नही। दुर्जन व्यक्ति लक्ष्मी से सम्बन्ध रखते है और लक्ष्मी उन्हे अपना प्रिय-पात्र बनाती है। उन्हीं की होकर रहती है।

इस प्रकार, जिस लक्ष्मी के कारण आप मनुष्य को बडा बताते है, वह अपने साथ पाँच जबर्दस्त अवगुण लेकर आती है जो मानव का गलत मार्ग पर चलाकर उसका यह उत्तम जीवन निरर्थक बना देते है। राजा परीक्षित की कथा से तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण कलियुग ही धन मे या स्वर्ण मे निवास करता है।

राजा परीक्षित बडा न्यायप्रिय और दयालु राजा था तथा अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता था। राज्य मे चारो तरफ अमनचैन का प्रसार था।

कहा जाता है कि एक बार जब कलियुग को कही भी अपने रहने के लिए उपयुक्त स्थान नही मिला तो वह राजा परीक्षित के पास गया और उनसे अपने रहने के लिए स्थान मांगा।

राजा ने कहा—'मेरे राज्य मे तो तुम्हे रहने के लिए कही भी स्थान नही है।" पर कलियुग माना नही और उसने बडी दीनता से पुन अपनी माँग रखी। तब राजा ने दयार्द्र होकर कहा—अच्छी बात है, जहाँ पर जुआ, चोरी, मदिरा और गणिका हो वहाँ तुम रह जाओ।"

कलियुग को बात सुनकर राजा ने उसे स्वर्ण का एक गोला बनाया और कहा—"इसमे जुआ, चोरी, शराब और वेश्या, सभी एक साथ मिल जाते है। इसी मे तुम रह जाओ।"

बधुओ, वास्तव मे ही कलियुग का निवास स्वर्ण तथा दूसरे शब्दो मे धन के अन्दर रहता है। कलियुग का दूसरा नाम ही दुर्बुद्धि है जो सोने-चाँदी के रूप मे मनुष्य के मन म घर कर लेता है। इसलिए आत्मार्थी व्यक्ति को धन की लालसा का त्याग किये बिना छुटकारा नही है। धन के अभिलाषी मनुष्य के हृदय मे से समस्त सद्गुणो का लोप हो जाता है यहाँ तक कि —

अर्थार्थी जीवलोकोऽय श्मशानमपि सेवते।
जनितारमपि त्यक्त्वा नि स्व गच्छति दूरत ॥

—इस ससार मे धन की कामना करने वाला मनुष्य श्मशान का भी सेवन करता है तथा धन से रहित होते पर अपने जन्म-दाता माता-पिता को भी दूर से ही छोडकर चला जाता है।

मेरे कथन का साराश यही है कि मनुष्य जब अनेक दुर्गुण-रूप लक्ष्मी के प्रति रही हुई अपनी लालसा का त्याग कर दे तथा विषय-विकारो से मन को मोडकर दान,

शील, तप और भाव की आराधना मे निमग्न रहे तभी वह अपने दुर्लभ मानव-जन्म को सार्थक कर सकता है तथा मनुष्य पर्याय रूपी जंकशन से अपने इच्छित मार्ग की ओर जा सकता है।

पर इसके लिये मैंने अभी बताया था कि जिस प्रकार आप गाडी पर चढ़ने से पूर्व टिकिट लेते हैं, बिना टिकिट लिए उस पर बैठकर जा नही सकते, उसी प्रकार इस मानव पर्याय-रूपी जक्शन से भी आपको शुभ-क्रियाओ के द्वारा उपार्जित पुण्य-रूप टिकिट लेना पडेगा। और आपकी गाडी चल देगी।

बधुओ, बडी कठिनाई से यह मनुष्य-भव रूपी जक्शन आपको मिला है। यह खो गया तो पुन कब मिलेगा पता नहीं। इसीलिए आपको ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करनी चाहिए। ताकि पुन मनुष्य-गति, देव-गति या उत्कृष्ट रसायन आ जाए तो मोक्ष-गति भी मिल सके।

☆

भावना और भक्ति | १६

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सस्कृत मे एक सुभाषित कहा जाता है —

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ।"

—जिसकी जैसी भावना हुआ करती है, उसको उसके समान ही सिद्धि मिला करती है ।

प्रत्येक काम मे प्रयत्न से ज्यादा काम के पीछे रही हुई भावना का महत्त्व होता है । जो काम शुद्ध-भावना से किया जाता है, वह देखने मे भले ही छोटा हो किन्तु उसका फल बडा मधुर होता है । तथा बडे से बडा काम भी अगर निकृष्ट और हीन-भावना लेकर किया जाय तो उसकी कोई कीमत नहीं होती । और उसका फल भी शुभ नही होता ।

अभिप्राय यही है कि महत्त्व भावना का होता है । तथा मनुष्य भावना के द्वारा ही अपने प्रत्येक काम का फल प्राप्त करता है । भावना दृढ़ हो तो उसे अपने प्रयत्न मे असफलता नहीं मिल सकती ।

मान लो, कोई व्यक्ति विद्वान् बनने की इच्छा रखता है तो भावना सहित प्रयत्न करने पर अवश्य सफल हो सकता है, कोई धनवान बनना चाहता है तो अपनी तीव्र भावना और परिश्रम से उसमे भी सफलता पा लेता है । और इसी प्रकार जिसकी भावना भक्त बनकर भक्ति करने की होती है तो भक्त बन सकता है । इतना ही नहीं, जो परमात्मा बनना चाहता है, दृढ़ सकल्प और सम्पूर्ण इच्छा शक्ति के द्वारा कर्म-मुक्त होकर परमात्मा भी बन सकता है । पर उसके लिए भक्ति की आवश्यकता पहले है ।

भक्ति का महत्व

भक्ति का अर्थ है भावों की निर्मलता सहित शुद्ध प्रेम । जब तक प्रेम या

स्नेह मे पवित्रता नही होती वह भक्ति का रूप नही ले पाता। ईश्वर के प्रति, गुरु के प्रति तथा सच्चे सत-महात्माओ के प्रति जो विशुद्ध प्रेम होता है, उसे ही भक्ति कहते हैं तथा ऐसी भक्ति के माधुर्य का केवल भक्त ही अनुभव कर सकता है। भक्त कबीरदास जी कहते हैं—

जायेगी जिन्दगानी, आखिर जायेगी जिन्दगानी।
चन्दा भी जायेगा सूरज भी जायेगा,
जायेगा पवन और पानी।
दासकबीरा की भक्ति न जायेगी,
ज्योति मे ज्योति मिलानी। आखिर० ॥१॥

कबीर स्पष्ट कह रहे है—यह जिन्दगी जाने वाली है। इसकी कितनी भी हिफाजत की जाय, कितना भी सरक्षण किया जाय फिर भी एक दिन इसे जाना है।

आप राजस्थानी भाषा म बोलते है—'ओ कीरो जायो है?' जायो अर्थात् जाने वाला सदा रहने वाला नही। पुष्प खिला है, उसे मुरझाना पडेगा। सूर्य उदित हुआ है उसे अस्त होना पडेगा। जिस चन्द्रमा को हम प्रतिदिन चाँदनी बिखेरते हुए देखते है, एक दिन उसे भी आयुष्य पूर्ण होने पर नीचे आना पडेगा। इसीलिये कबीर ने कहा है—सूरज भी जायेगा, चन्दा भी जाएगा।

आपके दिल मे यहाँ सन्देह प्रकट होगा कि सूर्य और चन्द्रमा कैसे जायेगे? और अगर चले जाएँगे तो फिर जगत मे अन्धकार नही हो जाएगा क्या? पर ऐसा नही है। ये सूर्य और चन्द्र चले भी गए तो क्या? दूसरे भी करनी कर रहे है, वे इनके स्थान को ग्रहण कर लेंगे।

आप इतिहास पढने वाले है। जानते ही होंगे कि कुछ समय पहले मुगलो का राज्य था, फिर पेशवाओ का हो गया। पेशवाओ का गया तो अग्रेजो का हुआ और अग्रेजो का गया तो अब कांग्रेस का हो गया। राजा चले गये पर राज्य सूना नही रहा। इसी प्रकार सूर्य व चन्द्र चले जाएगे तो उनके स्थान पर दूसरे आ जाएँगे।

पद्य मे आगे कहा है—'जाएगा पवन और पानी। किन्तु 'दास कबीर की भक्ति न जाएगी, ज्योति म ज्योति मिलानी।'

अर्थात्—पवन आता है और चला जाता है। वह आया है और जायेगा। पानी भी आता है और बहता चला जाता है। वह भी स्थिर नही रहता। सक्षेप मे ससार के समस्त पदार्थ चचल हैं, अस्थिर है नष्ट हो जाने वाले है। किन्तु कबीर की भक्ति कभी जाने वाली नही है। भक्ति ऐसी चीज है जिसका कभी नाश नहीं होता। वह साथ मे जाने वाली है। कहाँ तक जाने वाली है? जब तक ज्योति मे ज्योति नही मिल जाती, अर्थात् आत्मा, परमात्मा नही बन जाती। दूसरे शब्दो मे समस्त कर्मों का जब तक क्षय नही हो जाता। एक मुसलमान कवि ने भी कहा है कि अगर तुझे परमात्मा से मिलने का शौक है तो हरवक्त उससे लौ लगा—

अगर है शौक मिलने का,
तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को,
भसम तन पर लगाता जा।
न मर भूखा, न रख रोजा
न जा मस्जिद न कर सिजदा,
वजू का तोड दे कूजा,
शराबे-शौक पीता जा। अगर है॥

कहा है—अगर तुझे ईश्वर से मिलने की तमन्ना है तो प्रतिपल उसके ध्यान मे रह, उसकी भक्ति मे ऐसा तल्लीन होजा कि अपने आप को भूल सके। अपने आपे को जलाकर खाक करदे और उसी की भस्म तन पर लगा ले। तुझे भूखे मरने की तथा रोजे रखने की आवश्यकता नही है, न ही मस्जिद मे जाकर सिजदे करने की जरूरत है। तू तो ईश्वर की, खुदा की भक्ति रूपी शराब पीता रह तथा उसी मे छका रह जिससे बेडा पार होगा।

बन्धुओ, भक्ति का माहात्म्य ऐसा ही है। कहने मे उसका अर्थ छोटा-सा लगता है पर शक्ति उसमे बडी जबर्दस्त और चमत्कारिक होती है। भक्ति ही एक ऐसी चीज है जो भगवान को भी अपने वश मे कर लेती है। श्रीकृष्ण ने अपने भक्तो के प्रति आतरिक एव असीम स्नेह-पूर्ण झुझलाहट व्यक्त करते हुए कहा है।

नाना भाँति नचायो भक्तो ने मोहे—
लोक-लाज तज इन्हीं काज मैने बैकुठ बिसरायो-भक्तो ने मोहे-
नरसी भक्त काज मै सावरिया सेठ बन्यो,
भात पहिरायो लाज राखो जन की।
प्रहलाद ने बुलायो नरसिंह रूप धर्यो,
हिरणा-कश्यप विदार्यो सुधि भूल्यो तन की।
छोड़ मिठाई दुर्योधन की साग विदुर घर खायो. भक्तो ने मोहे
गज ने पुकार्यो तब गरुड बिसार्यो,
जाय ग्राह को सभार्यो सुनि प्रेम की पुकार।
जब द्रोपदी बिचारी, बोली-आओ गिरधारी!
मोहे आस है तुम्हारी और जाऊँ काके द्वार?
टेर सुनी तो करी न देरी, आकर चीर बढ़ायो....भक्तों ने मोहे....

बधुओ, पद्यो का अर्थ आप समझ ही गए होंगे। भक्त इसी प्रकार अपने भगवान को नाना प्रकार से नाच नचाया करते है तथा उनकी भक्ति की शक्ति से खिचकर भगवान को उनकी सहायता करनी पडती है। यह भक्ति का तथा दूसरे शब्दो मे शुभ क्रियाओ का और उत्तम भावनाओ का ही प्रभाव होता है।

इसीलिये मेरा कहना है कि हमे मनुष्य-जन्म मिला है तो भक्ति-मार्ग की ओर बढ़ना चाहिये। अनीति और अधर्म का त्याग करके नीति और धर्म को अपनाना चाहिये तथा भावनाओ की निर्मलता के द्वारा अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर हमारी भावना शुद्ध नही होगी, मन मे छल व कपट बने रहेंगे तो इस शरीर के द्वारा जो भी क्रियाए की जाएँगी उनसे कोई शुभ फल प्राप्त नही हो सकेगा। एक कवि ने इसी विषय को अपनी एक कविता मे समझाया है —

> मिला मिलाया उसे, मिला जब पय से पानी,
> जला प्रथम धरी स्नेह, अनल में की कुर्बानी
> तेल नीर से मिला नहीं, ऊपर से ऐंठा।
> रोवा पैरों तले और सिर पर चढ़ बैठा।
> जलने मे भी दीपके, हुआ उसी पै वार है।
> सुफल कुफल पद जगत मे, अपना ही व्यवहार है।

कवि ने कहा है कि जब पानी दूध से मिलने आया तो उसने सहर्ष उसे अपने आप मे मिला लिया। दूध की कीमत अधिक है और पानी की कम। यद्यपि पानी के बिना किसी भी प्राणी का काम नही चलता किन्तु उसकी कीमत कुछ भी नही होती। अत उसने सोचा—'लोग मेरी कद्र नही करते है। अत मैं दूध के पास चलूं। वह द्रव पदार्थ है और मैं भी द्रव हूँ अत उसमे मिल जाऊँगा तो उससे मिलने पर मेरा भी कुछ मोल हो जाएगा।

वह दूध के पास गया। और ध्यान देने की बात है कि दूध ने उसे बडे स्नेह से अपने मे मिला लिया। साथ ही उसे अपना रग और स्वाद भी दे दिया। दूध के समान रग और स्वाद लेकर पानी की कीमत बढ गई और वह दूध के साथ बिकने लग गया।

पर दोनो की प्रगाढ मैत्री, सरलता और हृदय की निष्कपटता का पता तब चला, जबकि दोनो मित्रो को हलवाई ने कढाई मे डालकर आग पर चढाया।

आग पर चढ़ने के बाद दोनो मे से पहले कौन जलता ? पानी। अत दूध ने सोचा कि जिसे मैंने अपने आप मे मिलाया है, आश्रय दिया है उसे अपने रहते कोई कष्ट नही होने दूँगा।

दूध का विचार सत्य था। शरणागत की रक्षा करना प्रत्येक का परम कर्तव्य है। जो अपने शरणागत की रक्षा नहीं करता उसका अस्तित्व मे आना वृथा है। वेदव्यास जी ने कहा भी है—

"शरणागत की रक्षा करना महान् पुण्य का कार्य है, ऐसा करने से महापापी का भी प्रायश्चित्त हो जाता है।"

—महाभारत

संत तुलसीदास जी ने भी लिखा है—

शरणागत कहुँ जे तर्जाह, हित अनहित निज जानि ।
ते नर पामर पाप मय, तिन्हहिं बिलोकत हानि ।

जो व्यक्ति यह सोचकर कि कहीं मेरा किसी प्रकार से अहित न हो जाय, अपने शरणागत को त्याग देते है । वे महापापी और निकृष्ट प्राणी होते है ऐसे व्यक्तियो का मुँह देखना भी उचित नहीं है ।

तो, दूध ने अपने शरणागत पानी के लिये जब सोचा कि यह जल जाएगा तो उससे पहले वह स्वयं ही जल जाने के लिये उफन कर कढाई से बाहर आने लगा । पर पानी कब बर्दाश्त करता कि जिसने मुझे आश्रय दिया वह मुझसे ही नष्ट हो जाये । अत वह ऊपर से छींटो के रूप मे आया । और जब दूध ने देखा कि मेरा मित्र आ गया है तो उसका स्नेह उमडा और वह शांत हो गया । स्नेह और मैत्री का कितना सुन्दर उदाहरण है ।

एक ओर तो ऐसा सुन्दर स्नेह है तथा दूसरी और अहंकार और कपट से भरा हुआ तेल के स्नेह का उदाहरण है ।

बेचारा पानी एक बार तेल के समीप भी जा पहुँचा । तथा तेल से बोला— 'बन्धु ! तुम्हारी बहुत कीमत है, और मुझे कोई कीमत देकर नहीं लेता अत तुम ही मुझे अपने म मिला लो ताकि मेरी भी कुछ कद्र हो जाय ।

यह कहते हुए पानी तेल मे गिर पडा । किन्तु तेल ने क्या किया ? वह बहुत ही क्रोधित हुआ और ऐंठकर पानी के सिर पर चढ गया । जैसा कि कवि ने कहा है—

तेल नीर से मिला नहीं ऊपर से ऐंठा,
रोंदा पैरों तले और सिर पर चढ़ बैठा ।

पानी अत्यन्त दुखी हुआ, पर करता क्या ? मन मसोस कर रह गया । किन्तु समय एक सा तो रहता नहीं । कहा भी जाता है 'वक्त आने पर घूरे के भी दिन फिर जाते है ।'

वही हुआ । जब पानी मिले उस तेल को दीपक मे डाला गया और बत्ती मे तीली लगाई, तो उसने पहले तेल को ही खीचकर जला डाला । यह नतीजा होता है दूसरे का बुरा चाहने वाले का । दूसरे के लिये कुआ खोदने वाले को स्वयं ही खाई मे गिरना पडता है । किन्तु अपने क्रोधी और ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण वे अपनी आदत से बाज नहीं आते । एक उदाहरण है —

चमत्कारिक शंख

एक मनुष्य की भक्ति और उपासना से प्रसन्न होकर किसी देवी ने स्वयं प्रकट होकर उसे एक शंख प्रदान किया और कहा—"तुम जो कुछ भी चाहोगे, इस शंख के

बजाने से प्राप्त हो जाएगा, किन्तु यह ध्यान रखना कि तुम्हारे पडौसियों को तुम से दुगुना मिलेगा।" भक्त इस बात पर विशेष ध्यान दिये बिना ही प्रसन्नतापूर्वक चला गया उसे शख के मिलने की ही बडी भारी खुशी थी।

घर जाने पर उसी समय उसने शख बजाया और इच्छा प्रकट की कि हमारा मकान बडा भव्य और सुन्दर बन जाय। शख के बजते ही उस व्यक्ति का मकान बडा ही सुन्दर और आलीशान हो गया। देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। किन्तु कुछ समय बाद जबकि कार्य-वश वह दरवाजे से बाहर निकला तो देखा कि उसके पडौसियो के उसके समान अत्यन्त सुन्दर दो-दो मकान बन गए है।

देवी के भक्त को यह बहुत बुरा लगा और उसने बडी अश्रद्धापूर्वक उस शख को मकान के एक कोने मे डाल दिया। परन्तु कुछ दिन बाद उसे रुपयो की बडी आवश्यकता पडी तो पुन विवश होकर उसने शख उठाया और उसे फूका। शख के द्वारा उसे उसी क्षण बहुत सा धन मिल गया। पर उससे दुगुना उसके पडौसियो को भी मिला।

इस बार तो भक्त क्रोध से आग-बबूला हो उठा और सर्प की तरह फुफकारते हुए बोला—'मेरे मकान के आँगन मे चार कुए खुद जायँ।' पलक झपकते ही उसकी इच्छा पूरी हो गई। उसके आँगन मे चार और उसके पडौसिये के यहाँ आठ-आठ कुए खुद गए।

भक्त प्रसन्न होता हुआ शख फिर से बजाते हुए बोला—"अब मेरी एक आँख फूट जाय।' यह भी होना ही था। उसकी एक आँख फूट गई और उसके पडौसी तो अपनी दोनो आँखो के फूट जाने मे बिलकुल अधे हो गए। तथा बिलकुल अधे हो जाने की घराबहट से इधर-उधर दौड-भाग करने लगे। परिणाम आप सोच ही सकते हैं कि एक तो अधा होना, दूसरे आँगन मे आठ-आठ कुओ का होना। बेचारे एक-एक कर सब कुए मे गिर पडे और मर गए। ईर्ष्यालु व्यक्ति यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बडे सतोष का अनुभव करने लगा।

पर बधुओ, उसका यह सतोष कितना मँहगा पडा होगा? इसकी कल्पना आप कर सकते है? एक आँख तो फूटी सो फूटी ही, कैसे निविड कर्मों का भी बध हुआ होगा और कब उन पचेन्द्रिय जीवो की हत्या के पाप से उसे छुटकारा मिला होगा?

यह सब है भावना का परिणाम। दूध ने पानी को अपने मे मिलाया तो पानी उसकी रक्षा का कारण बना। तेल ने पानी को नही अपनाया तो उसे जलना पडा। इसी प्रकार देवी के भक्त से औरो की बढती सहन नही हुई तो अपनी दुर्भावना के कारण अनेक जन्म-मरण के कष्ट भोगने पडे।

कर्म-भोग

ससार मे जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त होता है वह सब किसी न किसी कारण

से छूट सकता है, अथवा मृत्यु के साथ ही छूट जाता है, किन्तु कर्मों से छुटकारा, बिना उन्हें भोगे नहीं हो सकता। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है —

"अभाग्य से हमारा धन, नीचता से हमारा यश, मुसीबत से हमारा जोश, रोग से हमारा स्वास्थ्य तथा मृत्यु से हमारे मित्र हमसे छिन सकते हैं, किन्तु हमारे कर्म मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करते है।"

—कोल्टन

तुलसीदास जी ने भी कहा है —

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा।

यह ससार कर्म-प्रधान है। प्राणी को अपने कृतकर्मों को भोगे बिना, छुटकारा नही मिलता। जो जैसे कर्म करता है उसे उनके अनुसार फल भोगना ही पडता है।

इसलिए बधुओ, हम अशुभ-कर्मों से बचते हुए शुभ-कर्मों के बध का प्रयत्न करना चाहिए। और वह निर्भर है हमारी भावना और भक्ति पर।

जब तक हमारा मन सांसारिक पदार्थों तथा सासारिक सम्बन्धो मे आसक्त रहता है तथा क्रोध, मान, माया तथा लोभादि से विमुख नही होता तब तक हृदय मे भक्ति के बीज अकुरित नही होते। सच्ची भक्ति मनुष्य तभी कर सकता है जब कि —

इष्ट अनिष्ट को जोग बने तब,
हर्ष विषाद नहीं चित्त आने।
स्व-पर-रूप को बोध जगे,
पच द्रव्य से भिन्न निजातम जाने।

कब आत्मा म सच्ची भक्ति जागती है? जबकि मनुष्य इष्ट का योग होने पर हर्षित न हो अर्थात् सुखकारी प्रसग उपस्थित होने पर प्रसन्नता जाहिर न करे तथा दुखद अवसरो के आने पर या सकट के समय धर्म न खोवे और चित्त को आकुल व्याकुल न होने दे।

आपकी आत्मा के स्वरूप को समझाने तथा इससे इतर जो पदार्थ हैं उनकी अस्थिरता का ज्ञान करले। जब वह अपनी आत्मा को पर-पदार्थों से भिन्न समझने लगेगा, तभी भक्ति की ओर कदम बढा सकेगा।

कवि ने आगे कहा है—

धाय समान कुटुम्ब को पालत
कर्म बन्धन को उर माने।
सम्यक्दृष्टि करे शिव-साधन,
अमृत यों जिन बैन बखाने।

अपने परिवार का पालन-पोषण इस प्रकार करे, जैसे एक धाय दूसरे के

बालक को पालती है। अर्थात् जिस प्रकार धाय की बालक मे आसक्ति और ममता नही होती उसी प्रकार मुमुक्षु प्राणी अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करते हुए भी उनसे प्रगाढ़ मोह न रखे। इस प्रकार का सम्यक्‌दृष्टि प्राणी ही शिव-साधन कर सकता है, अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त कर शिवपुर ले जा सकता है।

आत्मा जब परमात्मा पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है तो उसका प्रथम चरण भक्ति ही होना है। भक्ति ही आत्मा को परमात्मा बनने का एक सरल साधन और मार्ग है। पर यह होनी चाहिए भावना युक्त। भक्ति का दिखावा आत्मा को उसके लक्ष्य तक नही पहुँच सकता।

इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक शुभ-क्रिया के पीछे शुद्ध भावना हो। अन्यथा शुभ-भावनाओ के अभाव मे शुभक्रियाएँ भी निष्फल हो जाएँगी और यह दुर्लभ मानव जीवन व्यर्थ चला जाएगा। किन्तु इसके विपरीत ससार मे रहते हुए भी हमारी भावनाएँ ससार से अलिप्त रहकर आत्मा-मुक्ति के प्रयत्नो मे लगी रहेगी तो उनके परिणामस्वरूप हमे जन्म-मरण से छुटकारा मिलेगा और अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

☆

रक्षाबंधन का रहस्य | १७

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ और बहिनो !

आज रक्षा-बधन का दिवस है। इसे 'राखी पूर्णिमा' कहा जाता है। हमारा भारतवर्ष एक पर्व प्रधान देश है। ससार के समस्त देशो की अपेक्षा यहाँ पर अधिक पर्व, अधिक त्यौहार मनाए जाते है। रक्षा-बधन का यह दिन भी इन्ही मे से एक है। यह दिन मानव को रक्षा करने की प्रेरणा देता है। पर समझने की बात यह है कि रक्षा किसकी करनी चाहिये ?

रक्षा का मूल रहस्य

साधारणतया रक्षा-बधन का महत्त्व बहनो का भाई को राखी बाँधना और उससे अपनी रक्षा के लिये अप्रत्यक्ष प्रार्थना करना माना जाता है। और कोई इसके अधिक दर आए तो ससार के अन्य प्राणियो की रक्षा करना भी मान लेता है। किन्तु हमारा धर्म रक्षा के महत्त्व को उससे भी आगे ले जाता है।

हमारे यहाँ आठ प्रकार की दया मानी जाती है। उनम से एक स्व-दया और दूसरी पर-दया है। पर दया का अर्थ तो आप भली भाति जानते ही है कि अपने से अन्य जो समस्त पर प्राणी है उन पर दया करना और उनकी रक्षा करना। किन्तु जो स्व-दया बतलाई गई है उसका मतलब आप मे से सभी शायद नही जानते होगे। स्व-दया का अर्थ है अपने आप पर दया करना, अपने आपकी रक्षा करना।

आपको कुतूहल होगा कि अपनी दया के विषय मे भी कहने की आवश्यकता है क्या ? अपने आपको कौन कष्ट देता है ? मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी अपने आपको कष्ट नही देता। वह भरसक स्वय को दुःख और कष्टो से बचाने का प्रयत्न करता है।

भाइयो ! अगर आप ऐसा विचार करते है तो आपका विचार गलत नही है। प्रत्येक मानव अपने आप पर दया करता है तथा रच-मात्र दुख भी स्वय को देना नही चाहता। किन्तु उसको समझ मे थोडी सी भूल रह जाती है। वह भूल क्या है ?

यही कि, अपने आपको वह अपना शरीर मात्र ही मानता है। तथा शरीर को ही अधिक से अधिक सुख पहुँचाने की व तनिक भी कष्ट न देने की कोशिश करता है।

वह यह भूल जाता है कि 'स्व' के सही अर्थ मे उसका शरीर नहीं आता वरन् उसकी आत्मा आती है। शरीर तो उसने बहुत पाए ह, और प्रत्येक बार वे छोडने पडे है। कविवर्य पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज का कथन है —

कबहूँ जीव यह पायो गज देह स्थूल
कबहुँक लघु तन कथवो कहायो है।
कबहुँक राजा होय शीश पे धरायो छत्र,
कबहुँक रक होय भीख मागि खायो है।
कबहुँक देव कभी नरक निगोद भव,
कबहु विकल तन लेई दु ख पायो है।
कहे अमीरिख ऊँच नीच भवधारी जीव,
काल ही अनन्त जगमाही यो गमायो है।

पद्य का अर्थ आप समझ ही गए होगे कि किस प्रकार अनन्त काल से जीव ने नाना प्रकार के, हाथी जैसे बडे, कु थुआ जैसे छोटे, राजा जैसे वैभवशाली और भिखारी जैसे दरिद्र, देवता जैसे समृद्धिशाली और नारकीय जैसे असह्य यत्रणाओ को भोगने वाले शरीरो को पाया है।

पर क्या वे शरीर उसके कहला सकत है ? नही, समय के असीम सागर म एक बिन्दुवत् किसी शरीर को पाकर उसे अपना मानना बडी भारी भूल है। अगर कोई भी शरीर उसका अपना होता तो वह छूटता क्यो ? शरीर अपना नही है इसीलिये वह छोडना पडता है। और उस पर दया करना व उसकी रक्षा करना 'स्व' की रक्षा नही कहला सकती।

स्व-रक्षा

मनुष्य को 'स्व' का सही अर्थ अपनी आत्मा स लेना चाहिये। उसे भली-भाति समझ लेना चाहिये कि उसकी आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर की कितनी भी हिफाजत क्यो न की जाय, कितनी भी लगन से उसकी रक्षा क्यो न करे वह नष्ट हो जाता है। केवल आत्मा ही उसकी अपनी है, दूसरे शब्दो मे वह स्वय केवल आत्मा के ही रूप म है। अत. 'स्व' दया और 'स्व' रक्षा मे उसे अपनी आत्मा का ही ध्यान रखना चाहिए।

दु ख है कि भोला प्राणी नश्वर शरीर को कष्टो से बचाने का प्रयत्न तो करता है पर आत्मा को कष्टो से बचाने का प्रयत्न नही करता। अगर वह अपनी आत्मा की रक्षा का ध्यान रखे, उसे कर्म-योगो से बचाने का प्रयत्न करे तो फिर ये नाना प्रकार के शरीर ही धारण न करने पडे। इसीलिये आज रक्षा-बन्धन दिवस से उसे अपनी

आत्मा की रक्षा करने की प्रेरणा लेनी चाहिये । आत्मा की कर्म-बन्धनो से रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

प्रश्न यह है कि आत्मा की रक्षा कैसे की जाय ? आत्मा को विषय-विकारो से बचाने और दान, शील तथा तप का भावनापूर्वक आराधना करने से अशुभ-कर्मों का बध नही होता तथा आत्मा कर्म-भोग के कष्टो से बचती है ।

अभी-अभी शम्भूगढ निवासी शोभालाल जी नाहर ने शील-व्रत का नियम लिया । यह भी आत्मा की रक्षा है । भाई पुखराज जी ने सपत्नीक आज इकत्तीस किये ह, यह भी आत्मा की रक्षा के लिये है ।

आज ही कपासन मे रहने वाले नाथूलाल जी ने 'बीरवाल' प्रवृत्ति का परिचय आपको दिया । वास्तव मे जहाँ एक आत्मा को भी परमार्थ की ओर मोडना बडे लाभ का और उत्तम कार्य है, वहाँ इन्होन सैकडो और हजारो व्यक्तियो को इस मार्ग पर बढा दिया । इस कार्य मे सुमेरमुनि जी, तथा और भी मुनिराजो न योग दिया था ।

मुझे अफसोस है कि सुमेरमुनि जी जिस विभाग मे दीक्षित हुए थे, उसे छोड-कर दूसरी प्रवृत्ति मे चले गए । लोगो के लाख समझाने पर भी नही माने । मेरे कानो मे यह भी आवाज आई थी को उन्होने बीरवाल समाज को भी अपनी प्रवृत्ति मे आने का आग्रह किया था । किन्तु बीरवाल भाई अत्यन्त समझदार हैं । उन्होने कह दिया हम अपनी श्रद्धा को कायम रखेग । ऐसी दृढश्रद्धा रखने वाले व्यक्ति ही अपनी आत्मा की रक्षा कर सकते है, तथा दृढश्रद्धा रखने वाले ऐस समाज का रक्षण करने वाले व्यक्ति भी रक्षा बधन का महत्त्व समझते है यह मानना चाहिये ।

तो मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य को अपनी स्वय की रक्षा, अर्थात् अपनी आत्मा की रक्षा अवश्य करनी चाहिये । अगर ऐसा न किया गया तो आत्मा को अनतकाल तक पुन पुन शरीर धारण करने की तथा नाना प्रकार की यन्त्रणाएँ भिन्न-भिन्न योनियों मे जन्मधारण करने पर भुगतनी पडेगी । इन सबसे बचने के लिए आत्म-रक्षा करना अनिवार्य है । तभी हमारा रक्षा-बधन के त्योहार को मानना सच्चे मायने मे सार्थक होगा ।

इसके अलावा रक्षा-बधन का साधारण अर्थ आप जानते ही है । कहा भी जाता है—

रक्षा आई रे । सब जीवां ताई यह सदेशा लाई रे ।
बहिन भाई के रक्षा बांधे लीजो मने निभाई रे ।
अरे सासरिये गाज सकूं पीहर मे भाई रे ।
रक्षा आई रे ।

अर्थात्-रक्षा करने का दिन आया है बन्धुओ, तुम प्राणीमात्र की रक्षा करो ! जो भी प्राणी सकटमय अवस्था मे है, और जिन्हे भी सहायता की आवश्यकता है,

सभी को अपनी शक्ति के अनुसार सहायता प्रदान करो तथा उनका रक्षण करो। यही रक्षा-बन्धन का संदेश है।

बहिन भी भाई से कहती है— भैया! मैं तुम्हे राखी बाँध रही हूँ। इसके बदले मे तुम मुझे निभाते रहना! तुम्हारे बल पर ही मैं ससुराल मे गौरवपूर्वक रह सकूँगी।

पद्य म रक्षा-बन्धन का महत्त्व केवल बहन-भाई के लिये ही नही, वरन् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के लिये बताया है। वैश्यो अर्थात् वणिको के लिये कहा गया है —

> **रक्षा बाधे वणिक कलम के और दवात के ताईं रे।**
> **प्रतिज्ञा है नीति धर्म से करू कमाई रे।।**
> **रक्षा आई रे।**

व्यापारी किसको राखी बाँधते है? अपनी कलम को, जिससे वे लिखते है। और दूसरे दवात को, जिसम स्याही रखते है। वे कलम और दवात को राखी बाँधकर प्रार्थना करते है कि हमे अनीति और अन्याय के माग पर जाने से रोकना, हमारी लेखनी मे किसी की रोजी न चली जाय अथवा उसे और किसी प्रकार का नुकसान न उठाना पडे। तुलसीदास जी ने कहा है—

> **'नीति न तजिये राज पद पाये।'**

मनुष्य को कितना भी वैभव क्यो न प्राप्त हो जाय, अथवा कैसी भी दरिद्रावस्था मे उसे रहना पडे, नीति का त्याग नही करना चाहिये।

आज के व्यक्ति धन की लालसा के कारण इस बात का ध्यान नही रखते और 'येन-केन-प्रकारेण' पैसा पैदा करने म लगे रहते है। झूठे सच्चे दस्तावेज बनाकर गरीबो का गला काटते है। इसीलिये दुनिया उन्हे 'कलम-कसाई' के नाम से पुकारती है। जिन्हे दुनिया अब तक महाजन कहती थी, उन्ही को 'कलम-कसाई' की उपाधि से विभूषित होना पडता है। तथा अनीति के मार्ग पर चलने से कर्मों का निविड बंध होता है वह अलग। साराश यह कि अनीति से अर्थोपार्जन करने वालो का अपयश के कारण यह लोक तो बिगडता ही है, परलोक मे भी शाँति नही मिलती।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कलम को रक्षा-बंधन बाँधते हुए दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि इसके द्वारा मैं कभी असत्य नही लिखूँगा, अनीति के कार्यों मे यह लेखनी नही चलेगी तथा अपने लिखे हुए प्रत्येक शब्द का मै प्राण देकर भी पालन करूँगा, कभी अपने वायदे से हटूँगा नही। बात के धनी व्यक्ति ऐसा ही करते है।

मै अपनी लेखनी को नहीं बदल सकता!

रातेडा नामक गाँव मे एक सेठ रहते थे। नाम था राजकिशोर। उनका व्यापार चारो ओर फैला हुआ था, जिसमे एक तम्बाकू का व्यापारी भी था।

एक बार तम्बाकू के भाव बहुत गिर गए, किन्तु उनके एक मुनीम ने, जो सेठजी की जयगज मे रही हुई दूकान पर काम करते थे, तम्बाकू के तीन जहाज खरीद लिये तथा सेठजी को यह बात लिख दी।

सेठजी मुनीम के इस कार्य से बहुत असन्तुष्ट और नाराज हुए तथा मन की उसी स्थिति मे मुनीम को लिख दिया—"आजकल तम्बाकू का भाव बहुत गिर गया है। इसलिये इतना तम्बाकू क्यो खरीदा ?" साथ ही सेठजी ने यह भी लिख दिया कि 'इस समय खरीदी हुई तम्बाकू के हानि-लाभ के तुम ही जिम्मेदार रहोगे।"

मुनीम बड़ा ही वफादार और ईमानदार व्यक्ति था। उसने सोचा कि सेठ लोग तो इसी प्रकार कहा करते है और जब व्यापार मे मुनाफा होता है तो धन को चुपचाप अपनी तिजोरी मे रख लेते है। उसने प्रत्युत्तर मे कुछ नही लिखा।

भाग्यवशात् कुछ दिनो के बाद ही तम्बाकू का दाम बहुत चढ गया और उसमे लाखो रुपयो का मुनाफा हुआ।

मुनीम ने लाभ का सब रुपया अपने सेठ को भेज दिया।

किन्तु सेठ ने क्या किया आप अन्दाज लगा सकते है ? उन्होने वह सब रुपया मुनीम को लौटा दिया और लिखा—"मुझे धन का लोभ नही है। आपने जिस समय तम्बाकू का सौदा किया था, उसी समय मैंने लिख दिया था कि इस सौदे की लाभ-हानि के जिम्मेवार आप ही हो। साथ ही वह सौदा मैंने आपके नाम लिख दिया था। अब उसमे लाभ हुआ है तो खुशी की बात है, पर यह पैसा मैं नही ले सकता। क्योकि मैने अपनी लेखनी से एक बार जो लिख दिया उसे बदलूँगा नही। आप ही इस लाभ के हकदार हो और इसे ग्रहण करो।"

अपने लिखे हुए पर दृढ रहकर लेखनी का गौरव बढ़ाने वाले ऐसे विरले व्यक्ति ही होते है। इसी को लेखनी की रक्षा करना कहा जाता है। और रक्षा-बधन के दिन व्यक्ति को इसी प्रकार की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

पद्य के आगे क्षत्रियो के रक्षा-बधन के विषय मे भी कहा गया है :—

> क्षत्रिय खड्ग के राखी बांधे, प्रजा रक्षा तांई रे।
> दीन गरीब को कोई भी, नहि सके सताई रे।'
> रक्षा आई रे।

क्षत्रिय पुरुष रक्षा-बधन के दिन अपनी तलवार को राखी बाँधते है। वह किसलिये ? इसलिये कि उनकी तलवार प्रत्येक प्राणी की रक्षा करे, कोई भी अत्याचारी व्यक्ति दीन दुखी तथा असहाय व्यक्ति पर अत्याचार न कर सके तथा ऐसा अवसर आने पर उनकी तलवार अत्याचार का प्रतिकार कर सके।

क्षत्रिय की परिभाषा देते हुए बताया गया है —

> "क्षत दु ख क्षतात् दु.खात त्रायते इति क्षत्रिय·।"

क्षत्रिय वही है जो दुखियो के दुखो का निवारण करे। बडे बडे राजा युद्ध करते है वह किसलिये ? प्रजा के दुखो का निवारण करने के लिये। प्रजावत्सल और न्यायी राजा के हृदय मे सदा यही भावना रहती है कि उसके राज्य मे एक भी व्यक्ति दुखी, भूखा या नगा न रहे। जो राजा ऐसी भावना नही रखता तथा अपनी प्रजा के कष्ट-निवारण का प्रयत्न नही करता वह राजा, राजा नही कहला सकता। तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है —

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

अर्थात् जिस राजा के राज्य म प्रजा दुखी रहती है, वह निश्चय ही नरक-गामी होता है—

कहने का अभिप्राय यही है कि तलवार हाथ मे रहते हुए भी जो व्यक्ति औरो के दुख दूर नहीं करता वह अपनी तलवार का अपमान करता है और उसे तलवार रखने का अधिकार नही। प्राचीन काल मे क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य का किसी भी हालत मे त्याग नही करत थे। प्रत्यक क्षत्रिय आवश्यकता होने पर अपने प्राणो की बाजी लगाकर भी सकटग्रस्त प्राणियो के सकट का निवारण करता था तथा शरणागत की रक्षा करने से कभी मुँह नही मोडता था चाहे वह शत्रु पक्ष का ही क्यो न होता।

राजा अधिकतर क्षत्रिय ही होते थे और इसीलिए उन पर जनता को खुशहाल रखने की तथा उनके दुखो को दूर करने की जिम्मेदारी होती थी। वीरत्व क्षत्रियो का ही मुख्य गुण माना जाता है। वैश्य लोग कलम चला सकते है, तलवार चलाना नही जानते। तलवार के धनी क्षत्रिय ही होते है, और इसीलिए वे अपने वीरत्व का रचमात्र भी अपमान नही सह सकते। एक उदाहरण है—

क्षत्रियत्व का सबूत

एक राजा के दरबार मे दो क्षत्रिय युवक आए, और उन्होने राजा से अपनी सेना मे भर्ती करने की प्रार्थना की।

राजा ने उन्हे कभी देखा नही था अत परदेशी मानकर कहा—"तुम लोग मेरे राज्य के निवासी नही हो अत तुम्हारे वीरत्व और क्षत्रियत्व का मैं कैसे विश्वास करूँ ?

अपने क्षत्रियत्व और वीरत्व के बारे मे राजा का अविश्वास जानकर दोनो युवको के गौरव को बडी चोट पहुँची। उन्होने राजा से कहा—

"महाराज ! हम आपको अपने वीर और क्षत्रिय होने की किसी से गवाही तो नही दिलवा सकते क्योकि यहाँ हमे जानने वाला कोई नही है। किन्तु आप इस बात पर तो विश्वास कर ही सकते है कि जो व्यक्ति वीर और क्षत्रिय न हो वह इस प्रकार अपने प्राण कदापि नही दे सकता।"

यह कहने के साथ ही दोनो युवकों ने अपनी तलवारें एक दूसरे के हृदय के आर-पार कर दी और क्षण भर मे ही अपने सच्चे क्षत्रिय होने का सबूत देते हुए चिर-निद्रा मे निमग्न हो गए।

समस्त दरबारी युवको की ओर दौडे पर युवक तो उसके समीप आने से पहले ही अपना कार्य समाप्त कर चुके थे। राजा यह देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। अपनी वीरता की इस प्रकार परीक्षा देने वाले युवको के लिए उसका हृदय महान् पश्चात्ताप से भर गया और उसी समय दरबार स्थगित कर उन दोनो सच्चे क्षत्रियो का अत्यन्त सम्मान और आदरपूर्वक अन्तिम संस्कार करने की लोगो को आज्ञा दी।

बन्धुओ, इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि क्षत्रियो के वीरत्व का मुकाबला और किसी भी वर्ण का व्यक्ति नही कर सकता। ऐसे ही क्षत्रिय दीन-दुखी प्राणियो की रक्षा करने मे समर्थ हो सकते है। तथा पद्य के अनुसार रक्षा-बन्धन का त्योहार क्षत्रियो को इसी बात की प्रेरणा देता है।

पद्य मे आगे कहा है —

ब्राह्मण सेठ क्षत्रिय के बांधे, देखो रक्षा जाई रे।
धर्म और धार्मिक की रक्षा, करो सवाई रे॥
रक्षा जाई रे।

ब्राह्मण जो है, वे वैश्य और क्षत्रियो को राखी बाँधते हुए कहते हैं—'धर्म और धर्मात्मा दोनो की रक्षा करो।' सच्चा धर्म पापो को समूल नष्ट करके मुक्ति का मार्ग-प्रदर्शन करता है। वह किसी भी अन्य धर्म का विरोध नही करता। और वह सच्चा धर्म ही नही होता जो ऐसा करता है। कहा भी है —

धर्मो यो बाधते धर्म न स धर्म कुधर्म तत्।
धर्माविरोधी यो धर्म स धर्म सत्यविक्रम॥

—जो धर्म अन्य धर्म को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नही कुधर्म है। किन्तु जो धर्म का अविरोधी है, सत्य पराक्रमशील है, धर्म वही है।

तो सच्चे धर्म की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। साथ ही धर्म का स्वय कोई रूप नही होता अत जिस व्यक्ति के हृदय मे वह स्थित है ऐसे धार्मिक व्यक्ति की रक्षा करना भी अनिवार्य है। यही पद्य मे लिखा है—

धर्म और धार्मिक की रक्षा करो सवाई रे!

सीधे-सादे शब्दो मे कितनी महत्त्वपूर्ण बात कह दी गई है? संस्कृत मे भी यही कहा गया है —

न धर्मो धार्मिकैर्बिना।'

धर्म धर्मी के बिना नही रहता। दोनो एक दूसरे पर अवलंबित होते है। धर्म

धर्मी की अपेक्षा करता है और धर्मी धर्म की। धर्म के अभाव मे जीवन एक विडबना बन जाता है। महात्मा गांधी ने धर्म का महत्त्व बताते हुए कहा है—

'बिना धर्म का जीवन बिना सिद्धान्त का जीवन होता है। और बिना सिद्धात का जीवन वैसा ही है जैसे कि बिना पतवार का जहाज। जैसे बिना पतवार का जहाज मारा-मारा फिरेगा उसी तरह धर्महीन मनुष्य भी ससार सागर मे इधर से उधर मारा-मारा फिरेगा और कभी भी अपने अभीष्ट स्थान तक नही पहुँचा सकेगा।'

—गांधीजी

महापुरुषो के विचारो का साराश यही है कि धर्म का त्याग करना जीवन मे अमगल को आमन्त्रित करने के समान है क्योकि धर्म आत्म-विकास का साधन है और हमे आचरण की शिक्षा देने वाला है। आचरण हीन जीवन जीवन नही है। दूसरे शब्दो मे जिस क्षण मनुष्य का आचरण गिरना अथवा गलत होना शुरू हो जाता है, वही उसके जीवन की समाप्ति प्रारम्भ हो जाती है।

इसीलिए, अहिंसा, सयम, और तप जो कि आत्मा के निज गुण है तथा दूसरे शब्दो मे धर्म के नाम से पुकारे जाते है, इनके विपरीत चलना, विपरीत आचरण करना धर्म को नष्ट करना है। और ऐसा करने से इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है इस विषय मे कहा गया है —

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतो वधीत।

—वेदव्यास

मारा हुआ धर्म हमको मारता है और हमसे रक्षा किया हुआ धर्म हमारी रक्षा करता है, इसीलिए धर्म का हनन नही करना चाहिए, जिससे तिरस्कृत धर्म हमारा विनाश न करे।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आज के इस शुभ दिवस पर हम केवल प्राणियो की रक्षा करने का ही व्रत न लें, अपितु धर्म की तथा धर्मी की रक्षा करते रहने का भी निश्चय करे। जो भी साधु, साध्वी और धर्मात्मा श्रावक व श्राविकाएँ है, उनकी रक्षा करने का भरसक प्रयत्न करे। साधु-सन्त आपसे शारीरिक सेवा नही लेत। उनकी अपनी जो मर्यादा है, उसे ध्यान म रखते हुए सेवा करनी चाहिए। रक्षा-बन्धन का दिन यही सन्देश देता है।

अब पद्य का अन्तिम चरण आपके सामने आता है :—

रक्षा बन्धन को यो मतलब, सारो समझो भाई रे।
चौथमल ने राणाजी को, रक्षा सुनाई रे।
रक्षा आई रे॥

इस कविता के रचयिता प्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमलजी महाराज है। आपने जिस प्रसंग पर इसका निर्माण किया था वह अपनी कविता मे बता दिया है। कहा है—'यह रक्षा-बन्धन का दिवस प्रेरणा देता है, यह सब मैंने राणाजी को सुना दिया है।'

बन्धुओ! आशा है, आप भी 'रक्षा-बन्धन' के इस दिन का महत्त्व भली-भाँति समझ गये होंगे कि यह दिन केवल बहनो का भाई को राखी बाँधना और बदले मे भाई का बहन को रुपया-पैसा या वस्त्र और आभूषण दे देना ही नहीं बताता। यह दिवस स्व और पर की तथा धर्म और धर्मी की रक्षा करने की प्रेरणा भी देता है। और इस प्रकार आत्मोन्नति का साधन बनकर जीवन के लिए वरदान-रूप साबित होता है।

१८ | अमरता की ओर !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल खग्रास चन्द्रग्रहण था अत आज अस्वाध्याय होने के कारण शास्त्रीय मूल पाठ नही बोला जा सकता, क्योकि खग्रास या चन्द्रग्रहण मे स्वाध्याय नही करना चाहिए यह शास्त्र की आज्ञा है ।

इसलिए आज एक दूसरा ही वाक्य कहता हूँ —

"आयाण जाणाहि"

इसी का सस्कृत अनुवाद है —

"आत्मान विद्धि।"

दोनो का अर्थ है—आत्मा को पहचानना । प्रश्न उठता है कि आत्मा किसे कहते है ? एक जैनाचार्य ने आत्मा की व्याख्या इस प्रकार की है—

"अतति सातत्येन गच्छति चतुरशीतिलक्षयोनौ कर्मवशात् इति आत्मा ।"

अर्थात्—जो, कर्मों के वश म होकर चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता है, वह आत्मा है ।

कर्मों के बन्धन म बँधे रहने के कारण ही आत्मा को नाना-योनियो में भटकना पडता है । जिस दिन कर्मों का क्षय हो जाएगा, उस दिन उसका भटकना बन्द हो जाएगा तथा कर्मो से मुक्ति मिल जाएगी ।

प्रत्येक मनुष्य जो भी जप, तप, सत्सग, शास्त्र-श्रवण, परोपकार, दान व धर्मक्रियाएँ करता है, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिए ही करता है । किन्तु उसमे श्रद्धा व भावना की कमी अथवा अभाव होने के कारण उसे इच्छितफल प्राप्त नही हो पाता अर्थात् वह कर्म-मुक्त नही हो पाता तथा उसकी आत्मा का भव-भ्रमण जारी रहता है ।

हमारे शास्त्रो मे आत्मा आठ प्रकार की बताई गई है। सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि वह तो एक ही है फिर आठ प्रकार उसके कैसे हुए ? मैं आपको यही बताने जा रहा हूँ, पर पहले यह बतादू कि वे आठ प्रकार कौन-कौन से है जो शास्त्रो मे वर्णित है।

जिन व्यक्तियो को 'पच्चीस बोल' का थोकडा आता है, वे आठो प्रकार की आत्माओ को समझते होंगे कि वे इस क्रम से हैं—(१) द्रव्य-आत्मा (२) कषाय-आत्मा (३) योग-आत्मा (४) उपयोग-आत्मा (५) ज्ञान-आत्मा (६) दर्शन-आत्मा (७) चारित्र आत्मा (८) वीर्य-आत्मा।

१ द्रव्य-आत्मा

द्रव्य-आत्मा प्रत्येक म है। जो जीव है उन सब मे द्रव्य आत्मा है। मैंने आत्मा की व्याख्या तो की, पर जीव की व्याख्या क्या है ? जो भूतकाल मे जीता था, वर्तमान मे जीता है और भविष्य म जीयेगा, उसे जीव कहते हैं। जीव का कभी नाश नही होता। कर्मों का क्षय हो जाने पर सिद्धगति मे जाएगा तब भी जीव का जीव रहेगा। उसका कर्मों से सम्बन्ध कब तक है ? जब तक वह चौरासी-लक्ष योनियो मे भटकता है तभी तक। और तब तक ही वह द्रव्य आत्मा कहलाता है।

२ कषाय-आत्मा

द्रव्य आत्मा के पश्चात् दूसरा नम्बर आता है, कषाय-आत्मा का। कषाय-आत्मा हम किसे कहेगे ? क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार प्रकार के कषाय हैं जो आत्मा को कम-बन्धनो म जकडते है। कहा गया है।

"आत्मान कषयति इति कषाय ।"

अर्थात् जो आत्मा को कसते ह, वे कषाय है। दूसरे शब्दो मे जिनके कारण आत्मा को पुन -पुन जन्म-मरण की प्राप्ति हो उन्हे कषाय कहा जाता है। इन चारो कषायो के कारण आत्मा का जितना अहित होता है, उतना और किसी भी निमित्त से नही हो सकता। कषाय कर्म-बन्धन के मुख्य और प्रबल कारण होते है। इनके द्वारा कलुषित हुई आत्मा मे सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र का समावेश नहीं हो सकता। जैसा कि सूरदास जी ने कहा है —

'सूरदास की काली कमरिया चढ़त न दूजो रग ।'

जिस प्रकार काले रग के कम्बल पर दूसरा कोई भी रग चढाना चाहे तो नही चढ सकता, इसी प्रकार कषायो से जो आत्मा काली हो जाती है उस पर कोई भी अन्य सद्गुण-रूपी रग नही चढता अर्थात् किसी भी गुण का हृदय मे प्रवेश नही हो सकता। आत्मा के पतन मे मूल कारण कषाय ही होते है। ज्यो-ज्यो कषायों की तीव्रता बढती जाती है, आत्मा की स्वाभाविक चमक मद होती जाती है। तथा उसमे रहे हुए सद्गुण नष्ट हो चलते हैं। हमारे शास्त्रो मे कहा भी गया है —

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोभो सव्व विणासणो॥

—दशवैकालिक सूत्र

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता को नष्ट करती है तथा लोभ समस्त सद्‌गुणो को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार कषाय आत्मा के सद्‌गुणो का नाश करके उसे दुर्गुणो का भडार बना देते है तथा उन अवगुणो के द्वारा बँधने वाले कर्मों के कारण आत्मा को ससार सागर मे भटकना पडता है।

अब प्रश्न यह है कि आत्मा को कषाय-आत्मा क्यो कहा गया है? एक उदाहरण से आप इसे समझ सकेंगे। जैसे जल अपने स्वाभाविक रूप मे श्वेत शुद्ध और निर्मल होता है किन्तु उसे ही बोतलो मे भरकर उनमे लाल, पीला या हरा रग डाल देने मे वह लाल, हरा या पीला जल कहलाने लगता है। उसी प्रकार आत्मा अपने सहज रूप मे शुद्ध और निर्मल होती है किन्तु उस पर क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायो का रग चढ जाने से अर्थात् उसमे कषायो का प्रवेश हो जाने से कलुषता आ जाती है तथा ऐसी आत्मा कषाय आत्मा कहलाने लगती है।

३ योग-आत्मा

योग-आत्मा आत्मा का तीसरा प्रकार है। योग तीन होते है, मनोयोग, वचन-योग और काययोग। इन तीनो योगो सहित जो आत्मा होती है उसे योग-आत्मा कहते है। आप शका कर सकते है कि पृथ्वी, पानी एव वनस्पतियो के मन योग नही है, वचनयोग भी नही है फिर क्या उनमे आत्मा नही है? उत्तर इसका यही है कि पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि मे मन और वचनयोग नही है पर काययोग तो है ही। अर्थात् शरीर उनमे है। तात्पर्य यह है कि तीनो योगो मे से जहाँ एक भी योग हो, उसे योग-आत्मा कहते है।

४. उपयोग-आत्मा

उपयोग बारह है। पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन ये बारह उपयोग होते है, और इन बारह उपयोगो मे से कोई भी उपयोग प्राप्त हो वह आत्मा उपयोग-आत्मा कहलाती है।

५ ज्ञान-आत्मा

आत्मा जब ज्ञान मे रमण करती है, अर्थात् चिन्तन करती है—आत्मा का निजी गुण क्या है? यह क्यो भव-भ्रमण करती है? इसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? मुझे क्या करना चाहिए? मनुष्य-जन्म सार्थक कैसे किया जा सकता है? ऐसा विचार करें तब वह ज्ञान-आत्मा कहलाती है।

ज्ञान का मूल्य बहुमूल्य रत्न से भी अधिक है। आत्मा मे ज्ञान की ज्योति

जलते ही मिथ्यात्वरूपी अधकार का समूल नाश हो जाता है । श्री कृष्ण ने गीता मे ज्ञान का महत्त्व बताते हुए कहा है —

यथैधासि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।

—भगवद्गीता

हे अर्जुन ! जैसे जलती हुई अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जलाकर नष्ट कर देती है ।

मानव का अस्तित्व आत्मा के सन्दर्भ से ही है । आत्मा के अतिरिक्त ससार मे जो कुछ भी है वह जड है तथा अनित्य है । अत जब मुमुक्षु अपनी आत्मोन्नति अथवा मुक्ति के विषय मे विचार करता है तो इसे स्वाभाविक रूप से ही आत्मा के विकास तथा विशुद्धि का विचार करना होता है । पर यह सब कैसे हो सकता है ? ज्ञान के द्वारा ही यह सम्भव है । कहा है —

"न ज्ञानात्पर चक्षु ।"

भौतिक पदार्थों के और आध्यात्मिक तत्त्वो के स्वरूप को समझने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त दूसरी कोई आँख इतनी शक्तिशाली नही हो सकती है ।

ज्ञान ही मानव की आत्मा का सबसे अधिक हितैषी है, अत उसका प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण उपयोग करना चाहिए । ज्ञान प्राप्त करके भी अगर उसका उपयोग नही करता तो उसका ज्ञानी बनना सर्वथा निरर्थक हो जाता है । ससार मे मनुष्य चार प्रकार के होते है —

(१) पहले तो वह, जो ज्ञान प्राप्त करके भी उस जीवन मे नही उभारते ।

(२) दूसरे वे, जो शास्त्र-ज्ञानी न होकर भी जीवन मे सिद्धान्त का साक्षात्कार करते हैं ।

(३) तीसरे वे, जो शास्त्र-ज्ञान भी प्राप्त करते हैं, और सत्य का आत्मानुभव भी करते है तथा—

(४) चौथे वे, जो न शास्त्र का अभ्यास करते हैं और न ही सत्य का आचरण करते है ।

इनमे से दूसरे और तीसरे प्रकार के व्यक्ति श्रेष्ठ होते हैं । दूसरे प्रकार के व्यक्ति जो ज्ञान प्राप्त न करके भी सिद्धान्त का साक्षात्कार करते हैं, उनमे सहज ही करुणा, सत्य, परोपकार और सेवा के भाव पाये जाते है अत वे अक्षर ज्ञान से अनभिज्ञ होते हुए भी ज्ञानी ही कहलाते है ।

और तीसरे प्रकार के व्यक्ति तो आगम का गहन ज्ञान करते ही हैं । साथ ही सत्य का आत्मानुभव भी करते है अत वे ज्ञान-प्राप्ति और जीवन मे उसका उपयोग भी करने के कारण श्रेष्ठतम माने जाते हैं । इसी प्रकार प्रत्येक मानव को अपनी

आत्मा मे ज्ञान की दिव्य-ज्योति जलाकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए तथा जन्म-मरण के दुःखो से मुक्त होने का प्रयास करते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने पर कोई कारण नही है कि कालातर मे आत्मा मुक्त न हो। शास्त्रो मे स्पष्ट कहा गया है —

"ज्ञानान्मोक्षः"

सम्यक्ज्ञान प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है।

तो मैं बता यह रहा था कि जो आत्मा सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लेती है तथा उसमे रमण करती है वह ज्ञान-आत्मा कहलाती है। जिन भव्य प्राणियो का हृदय चिन्तन, स्वाध्याय और तात्त्विक चर्चा आदि मे रस लेता है, ज्ञान-प्राप्ति मे तल्लीन हो जाता है उस समय उसकी आत्मा ज्ञान-आत्मा के रूप मे रहती है।

६ दर्शन-आत्मा

दर्शन यानि श्रद्धा। जिसकी श्रद्धा दृढ होती है, उसे देवता भी आकर चलायमान करना चाहे तो नही कर पाते। अरणक श्रावक के विषय मे आप जानते ही होगे। वे जब समुद्रयात्रा कर रहे थे, तब मिथ्यात्वी देवता ने आकर उनसे धर्म-त्याग करने को कहा और उसका त्याग न करने पर उनके जहाज को भयकर हिचकोले देते हुए डुबाने की धमकी दी। किन्तु क्या वे चलायमान हुए ? उनकी श्रद्धा रचमात्र भी कम हुई ? नही। इसी प्रकार कामदेव श्रावक को भी अपने धर्म से च्युत करने के लिए देवता ने तीन प्रकार के सकटो मे डाला। भयकर पिशाच, हाथी और सर्प के रूप मे आकर डराने और डिगाने का प्रयत्न किया किन्तु तिलमात्र भी डिगा नही सका। यह क्यो ? इसलिये कि उनकी दर्शन-आत्मा सर्वथा शुद्ध थी। उनकी श्रद्धा मजबूत और अडोल थी। वे जानते थे कि उपसर्ग से उनके शरीर का नाश हो सकता है, पर आत्मा का नही। श्रद्धा की शक्ति के द्वारा ही वे सकटो और पापो का मुकाबला करने के लिए तैयार होते है तथा उन पर विजय प्राप्त करते है। महाभारत मे कहा भी गया है —

"जहाति पाप श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम्"

—श्रद्धावान् पुरुष पापो का इस प्रकार परित्याग कर देता है जैसे सर्प अपनी जीर्ण-शीर्ण केंचुली का त्याग करता है।

महात्मा गाँधी जी ने भी श्रद्धा का बडा महत्त्व बताया है। कहा है—

"श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्म-विश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास।"

दृढ आस्था रखने वाले व्यक्ति का आत्मा पर या ईश्वर पर अखण्ड विश्वास होता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है।

एक बार ही राम-नाम लेना काफी है

एक बार एक राजा से ब्रह्म-हत्या हो गई। इस घोर पाप का प्रायश्चित्त लेने के लिए वह एक ऋषि के यहाँ गया।

ऋषि कही बाहर गए हुए थे, पर उनका पुत्र आश्रम मे था। राजा ने उसी से अपने पाप का प्रायश्चित बताने के लिए कहा।

ऋषि के पुत्र ने राजा की बात सुनकर कहा—"राजन् ! आप तीन बार राम का नाम लीजिये ! आपके पाप का प्रक्षालन हो जाएगा। राजा ने यह बात स्वीकार की और वहा से चला गया।

शाम को ऋषि आश्रम मे लौट कर आए तब उनके पुत्र ने राजा के विषय मे सारी बात बताई। पर ऋषि ने जब पुत्र के द्वारा दिये गए प्रायश्चित विधान की बात सुनी तो बहुत रुष्ट हुए और बोले—"तूने यह क्या किया ? दृढश्रद्धा-पूर्वक भगवान का नाम एक बार लेने से ही तो असख्य जन्मो के पाप नष्ट हो जाते है। फिर तूने राजा से तीन बार राम का नाम लेने के लिए कैसे कहा ? क्या तेरा विश्वास इतना कच्चा है जो तीन-तीन बार राम का नाम लेना पडेगा ?"

पुत्र अपने पिता की यह ताडना सुनकर अत्यन्त शर्मिन्दा हुआ और अपनी भूल के लिए क्षमा माँगी।

ऋषि के समान ही जिस व्यक्ति की श्रद्धा मजबूत होती है वही अपने पापो का समूल नाश कर सकता है, तथा आधि, व्याधि एव उपाधि रूप त्रयतापो से मुक्त हो सकता है।

श्रद्धा ही आत्मोत्थान का मूल कारण है। श्रद्धा के अभाव मे कोई भी मानव इस भव-सागर से पार उतरने मे समर्थ नही हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा मे दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि देव, गुरु और धर्म मे सच्ची श्रद्धा रखने से क्या नही हो सकता ? जब कि—

तारे गौतमादि कुवचन के कहनहारे,
गोशालक जैसे अविनीत को उबारे हैं।
चडकोश अहि देइ सम्यक् निहाल कियो,
सती चदना के सबे सकट विदारे हैं।
महा अपराधी के न आने अपराध उर,
शासन के स्वामी ऐसे बीन रखवारे हैं।
कहे अमीरिख मन राखरे भरोसो दृढ़,
ऐसे ऐसे तारे फिर तोहि क्यों न तारे हैं।

प्रौढ़कवि पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज दृढ विश्वास और आस्था-पूर्वक चेतन से कहते है कि जब शासनस्वामी भगवान महावीर ने कटुवचन बोलने

वाले गौतम को, अविनीत और निन्दक गोशालक को तथा महाविषधर चण्डकौशिक आदि को सम्यक्त्व प्रदान कर निहाल कर दिया, तथा चदना जैसी महासतियो के समस्त सकटो को दूर किया, ऐसे महान अपराधियो के अपराधो पर ध्यान न देने वाले वीर प्रभु तुझे क्यो नही तारेंगे । अर्थात् अवश्य तारेंगे और तू कर्म-मुक्त होकर शिवपुर का अधिकारी बनेगा ।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु के हृदय म सम्यक् श्रद्धा या सम्यक्दर्शन दृढ होना चाहिए तथा ऐसा दृढ सम्यक्त्व जिस आत्मा मे होता है वह आत्मा दर्शन-आत्मा कहलाती है ।

७. चारित्र-आत्मा

चारित्र कहलाता है—श्रावक धर्म, साधु धर्म तथा व्रत नियमादि अगीकार करना । जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से इन्हे ग्रहण करता है, उसकी आत्मा चारित्र आत्मा कहलाती है ।

चारित्र जीवन का अमूल्य धन है । तथा धर्म का मूल है । कहा भी है --

"क्रियाहीने न धर्म स्यात ।"

—व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि रूप क्रियाओ के अभाव मे धर्मोत्पत्ति नही होती है । क्योंकि —

"आचार प्रथमो धर्मो नृणा श्रेयस्करो महान् ।"

सात्विक आचार ही पहला धर्म है और यही मनुष्यो के लिए महान् कल्याणकारी है ।

चारित्र का जीवन मे बडा भारी महत्त्व है । यहाँ तक कि, मनुष्य चाहे जितना भी विद्वान और ज्ञानवान् क्यो न बन जाय, अगर उसमे चारित्र गुण नही है तो उसकी विद्वत्ता और उसका अगाध ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है । कहा गया है —

"क्रियाविरहित हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।"

—ज्ञान-सार

दु ख के साथ कहना पडता है कि उस ज्ञान को निरर्थक ही समझो, जो कि व्रत-नियम तथा त्याग-प्रत्याख्यान आदि क्रियाओ से रहित है ।

इसलिए मुक्ति के अभिलाषी प्रत्येक मानव को अपनी आत्मा, चारित्र-गुण से अलकृत करनी चाहिए । तथा उसे सच्चे अर्थों मे चारित्र-आत्मा साबित करनी चाहिए ।

८ वीर्य-आत्मा

जो व्यक्ति सम्यक्ज्ञान को धारण करता है, श्रद्धा के रहस्य को समझ लेता

है तथा चारित्र का भली-भाँति बोध कर लेता है और उनको अपने पराक्रम से अमल मे लाता है, उसका यह सब प्रयत्न या पुरुषार्थ वीर्य-आत्मा मे प्रवेश करता है।

चाहे मानव साधु के रूप मे हो या साध्वी के रूप मे, श्रावक के रूप मे हो या श्राविका के रूप में। सभी को अपनी शक्ति के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करनी चाहिये। इन सब का बोध प्राप्त करके उन्हे जीवन मे उतारना चाहिये। यह पुरुषार्थ से तथा पराक्रम से ही हो सकता है। क्योंकि जानकारी हो जाने पर भी तथा श्रद्धा जमजाने पर भी अगर उन बातो को अमल मे लाने के लिये पुरुषाथ नही किया जायगा, उन्हे आचरण मे नही उतारा जाएगा तो आत्मा का उद्धार होना कभी भी सभव नही है। इसलिये मानव को अपना विवेक जागृत करना चाहिये तथा अपनी अन्तरात्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयास कभी भी छोडना नहीं चाहिये।

एक भजन मे आत्मा को उद्‌बोधन देते हुए कहा गया है —

विवेक आत्मा रे, अरे तू अब निर्मल होजा !

कहा है—हे विवेकी आत्मा ! अब तो तू निर्मल बन। अपने अविवेक रूप कूडे-करकट को हटाकर अपने आपको पूर्ण शुद्ध बना।

विवेक ही बुद्धि की पूर्णता तथा ज्ञान का परिपाक है। जीवन के सभी मार्गों पर वह हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। जिसके हृदय मे विवेक जागृत रहता है वह कभी भी ठोकर नही खाता। कबीरदास जी का कथन है —

समझा समझा एक है, अनसमझा सब एक।
समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक ॥

समझदार केवल उसी व्यक्ति को माना जा सकता है, जिसके हृदय मे विवेक हो। अन्यथा तो ज्ञानी और अज्ञानी मे कोई अन्तर नही है।

इसलिये भजन मे कवि ने अपनी आत्मा से कहा है—हे आत्मा ! तू विवेकी बन। दूसरो को नसीहत देने की अपेक्षा अपने आप को समझा। दूसरो को उपदेश देने वाले तो बहुत मिल जाएँगे। कहा भी जाता है —

'परोपदेशे पाडित्य ।'

औरो को उपदेश देने मे ही अपनी विद्वत्ता मानना तथा अपने आपको पडित समझ लेना विवेकी बन जाने का प्रमाण नहीं है। आत्मा का कल्याण तभी होता है, जबकि दूसरो को उपदेश देने के बजाय उन उपदेशो को स्वय समझा जाय और उसे जीवन मे उतारा जाय। औरो को सुधारने से पहले अपना सुधार करना आवश्यक है अन्यथा वही हाल होगा कि मानव स्वय तो अपने लोटे मे जल छानकर पी नही सकता, पर पूरे तालाब का पानी छानकर लोगो को पिलाने का प्रयत्न करे।

जो जल अपने काम मे आए, पहले तो उसे ही छानना है न ! सम्पूर्ण तालाब

का पानी कैसे छाना जाएगा ? वह प्रयत्न तो ऐसा होगा, जैसे एक तिनके के सहारे सागर को तैरने का प्रयत्न करना। इसलिये सर्व प्रथम मानव को अपनी स्थिति सभालना आवश्यक है। अपने आपको सम्हाल लेने और शुद्ध बना लेने के पश्चात् ही उसे अपनी दृष्टि अन्य व्यक्तियो की ओर उठाना चाहिये।

क्योकि जब मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को सम्हाल लेगा, उसे निर्मल बना लेगा तभी उसकी विवेक-शक्ति बलवान बनेगी और वह औरो पर भी अपना प्रभाव डाल सकेगा। आत्मा को निर्मल बनाने का मार्ग भी भजन मे आगे बताया है —

गुरु सेवा की गगा इसमे पाप मैल को धो जा।
भारी हो रहा बहुत दिनो से, हलका करले बोझा॥

यह जीवात्मा अविवेक की स्थिति मे रहने के कारण तथा शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते रहने के कारण मलिन बन गया है। अविवेक के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष आदि की गदगी आत्मा पर जम गई है, अत जिस प्रकार मलिन वस्त्र को आप साफ जल से शुद्ध करते है, उसी प्रकार आत्मा को भी शुद्ध करने का प्रयत्न करे। पर समस्या यह है, कि आत्मा को किस प्रकार शुद्ध किया जाय ?

भजन मे यही उपाय कवि ने बताया है। कहा है—आत्मा के पाप-मल को धोने के लिये तू गुरु-सेवा और सत्सग रूपी गगा के पास जा। और अपने समस्त पाप-मल को सत्सगति की गगा मे जाकर धोले। कबीर जी का कथन है कि जिस प्रकार गदा पानी भी गगा मे पहुचकर निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार तेरी मलिन से मलिन आत्मा भी सत्सग रूपी गगा मे पहुचकर निर्मल हो जाएगी —

कबिरा खाई काट की, पानी पिवै न कोय।
जाय मिलै जब गग से, सब गगोदक होय॥

सक्षेप मे सत्सग का बडा भारी महत्व और लाभ है। सत्सगति बुद्धि की जडता को नष्ट करती है, विवेक को जागृत करती है तथा सज्जनो की सगति के कारण लोग यश प्रदान करते है।

सत महात्मा के पास जाओ

इगलैण्ड का बादशाह जेम्स अपना कोष भरने के लिए पदवियाँ बेचा करता था। वह जानता था कि उपाधि से कोई महान तो बनता नही, महान बनने के लिये तो सद्गुण चाहिये। किन्तु लोगो की अहकार वृत्ति का पोषण करने के लिये पदवियाँ दिया करता था।

एक बार एक व्यक्ति राजा जेम्स के दरबार मे आया। राजा ने उससे पूछा—"तुम्हे कौनसी पदवी चाहिये ?"

"मुझे सज्जन बना दीजिए !" व्यक्ति ने उत्तर दिया।

जेम्स यह सुनकर परेशान हो गया और धीरे से बोला—"भाई ! मैं तुम्हें लॉर्ड, ड्यूक आदि तो बना सकता हूँ लेकिन सज्जन नही बना सकता। अगर तुम्हे सज्जन बनना है तो किन्ही सन्त-महात्मा की सगति मे जाओ।"

बधुओ, आप समझ गये होगे कि सज्जन बनना कितना कठिन है और सज्जन कैसे बना जाता है। केवल सन्तो की सेवा-भक्ति और उनके सदुपदेशो को अमल मे लाने से ही मानव श्रेष्ठ बन सकता है तथा उसकी आत्मा उज्ज्वल हो सकती है। व्यासदेव ने भी सत्सगति का बडा भारी महत्त्व बताया है। कहा है —

तुलयाम लवेनापि, न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सगिसगस्य, मर्त्यानां किमुताशिष ।।

—यदि भगवान मे आसक्त रहने वाले लोगो का क्षणभर भी सग प्राप्त हो, तो उससे स्वर्ग और मोक्ष तक की तुलना नही कर सकते, फिर अन्य अभिलषित पदार्थों की तो बात ही क्या है ?

तो बधुओ, इसीलिय कवि ने कहा है—'तू गुरु-सेवा की गगा मे अपने पाप-मल को धोकर निर्मल हो जा ! अनन्त काल से तेरी आत्मा पर कर्मों की परते चढती जा रही है और कर्म-भार से वह बहुत ही बोझिल हो गई है। अत इस सुयोग को खो मत, और अपना बोझा हलका कर ले।'

आगे और भी कहा गया है —

ज्ञान-रूप दर्पण के अन्दर निज आतम को जो जा ।
बार-बार सत्गुरु समझावे, ऐब दोष सब धो जा ।।

कवि की चेतावनी है 'सदा ज्ञान-रूपी आइने मे अपनी आत्मा को देख ! तू जिस प्रकार कॉच मे अपना चेहरा प्रतिदिन देखता है तथा चेहरे के सौन्दर्य को निखारने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार ज्ञान-रूपी दर्पण मे अपनी आत्मा को देख, और देख-देखकर उसके सहज और स्वाभाविक रूप को निखारने की कोशिश कर।'

'प्रतिदिन ज्ञान-दर्पण मे अपनी आत्मा को देखकर विचार कर कि आज मैंने कितना क्रोध किया ? कितना अहकार मन मे आया ? कितने व्यक्तियो को धोखा दिया ? कितनो का मन दुखाया और इस प्रकार कितना पापोपार्जन किया।

सत-महात्मा तुझे बार-बार यही उपदेश देते है कि इस दुर्लभ मानव-जीवन को व्यर्थ मत खो। यह अपूर्व अवसर चूक गया तो पुन' प्राप्त होना कठिन है।' पूज्यपाद अमीऋषि जी महाराज ने भी यही सीख दी है —

सुनहु सुजान प्यारे पाप के समय सार,
भूलि हूँ न ऐसो कहूँ औसर बिताइये ।
परम पुनीत जिनमत सुखधाम सही,
हरख सहित ज्ञान-नद मे नहाइये ।

कहते है—'हे सुजान ! बडी कठिनाई से यह सुअवसर मिला है, अत' इसे भूलकर भी व्यर्थ मत जाने दो। तुम्हे परम पवित्र और सुख का धाम जैन धर्म प्राप्त हुआ है अतः असीम उत्साह और हर्षपूर्वक ज्ञान-गगा मे गोते लगाओ और अपने पापों का प्रक्षालन करो।'

आगे जिनवाणी का महत्त्व बताते हुए कहा है —

सार जिनवाणी सुखरानी हितकारी मानी,
आनी निजरूप पर सग विसराइए।
तिरने को दाव नाव सकरी समान यह,
कहे अमीरिख पूरे पुन्य जोग पाइए॥

अर्थात्—जिनवाणी आत्मा को अनन्त सुख प्रदान करने वाली है और उसके लिये अत्यन्त हितकर है। उस जिनवाणी यानि जिन-वचनो के ऊपर विश्वास करके अपने शुद्ध-स्वरूप को समझकर पर-पदार्थों पर से महत्त्व हटाना चाहिय तथा भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि यह मानव पर्याय भव-सागर को तैरने के लिय नाव के समान है तथा महान् पुण्यो के योग से प्राप्त हुई है अत कही व्यर्थ न चली जाए।

महापुरुष इसी प्रकार अज्ञानी प्राणियो को बार-बार बोध देते है तथा अपने अवगुणो को त्यागने का उपदेश प्रदान करते हैं। वे कहते है—जब तक तुम अपने दुर्गुणो का त्याग नही करोगे तथा सम्यक्ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझकर अन्य समस्त पर-पदार्थों पर से आसक्ति नहीं हटाओगे, तब तक तुम्हारी आत्मा का उद्धार नही हो सकेगा। आत्मोद्धार के लिये और क्या करना चाहिये ?

मुक्ति का मेवा चखे तो, ममता दही बिलो जा।
जो अब मौका चूक गया तो, खुले नर्क मे रो जा॥

कवि ने कहा है—'अगर तुझे मुक्ति रूपी मेवा चखना है, उस अमृत का आस्वादन करना है, तो ममता-रूपी दही का मन्थन कर ! तभी उससे शाश्वत सुख-रूपी मक्खन निकलेगा और उसे ग्रहण करने के पश्चात् तुझे किसी अन्य पदार्थ की आकाक्षा नही होगी।

किन्तु वह मक्खन निकलेगा कैसे ? आत्म-स्वरूप म रमण करने से, गहन चिन्तन-मनन करने से ही ज्ञान की ज्योति हृदय मे जगती है। जब तक मानव सासारिक पदार्थो म आसक्त रहता है, उसका हृदय आत्म-चितन मे नही लगता। और आत्म चितन म लगे बिना, या आत्म-स्वरूप म रमण किये बिना मुक्ति का मेवा प्राप्त नही होता।

यह समय बडी कठिनाई से प्राप्त हुआ है। मनुष्य जन्म बार-बार नही मिलता। अगर यह अवसर चूक गया तो फिर नरक मे गये बिना छुटकारा नहीं होगा। तथा न जाने कितने समय तक उस नारकीय जीवन की यातनाओ को रो-रोकर

भोगना पड़ेगा । किन्तु फिर पाश्चत्ताप के सिवाय और क्या हो सकेगा ? तभी तो कहते हैं —

मानुष जनम शुभ पाय के भुलाय मत,
ओसर गमाय खिस्त, फेर पछितावेगो ।

किन्तु समय चूक जाने के पश्चात् फिर पाश्चाताप करने से क्या हो सकता है ? कुछ भी नही । इसलिए प्रत्येक मानव को अगर मुक्ति-रूपी अमृत फल की इच्छा हो तो कवि ने आगे कहा है —

अमृत फल की इच्छा हो तो बीज धर्म का बो जा ।
कर नेकी का काम बदी से, अब तो दूर चला जा ॥

—'जिस मुक्ति-रूप अमरफल को प्राप्त कर लेने के बाद पुन मरण का दुख नही भोगना पडता, ऐसे अमर-फल की अगर तुझे वास्तव मे ही आकाक्षा है तो तू आत्मा मे धर्म का बीज बो ले । पर, धर्म का बीज जमे कैसे ? यह समस्या है । यह समस्या तभी सुलझेगी जब तू ससार के समस्त प्राणियो के प्रति सद्भावना रखेगा तथा नेकी के काम करेगा । बदी करते-करते तो अनेक जन्म बीत गए और अगर यही हाल रहेगा तो न जाने कितने जन्म और बीत जाएँगे पर कही मुक्ति के आसार दिखाई नही देगे । इसीलिए अब तू चेत और धर्म की आराधना कर । क्योकि—

"ससारो स मरुस्थले सुरतरुनास्त्येव धर्मात्पर ।"

इस ससार रूप विशाल रेगिस्तान मे धर्म के सिवाय दूसरा कोई कल्पवृक्ष नहीं है ।

किन्तु आवश्यकता है धर्म को सच्चे हृदय से धारण करने की । धर्म मे दिखावा नही चल सकता । बिना भावना के किये हुए सभी धम-कार्य शून्य के समान साबित होते है । तथा ऐसे धर्मात्मा की ईश्वर के यहाँ कोई कद्र नही होती । सच्चा धर्मात्मा और सच्चा भक्त बनने के लिए बडा भारी त्याग करना पडता है तथा कभी-कभी तो जीवन का मोह भी छोडना होता है । सच्चा भक्त बनना सरल नही है, बडी टेढी खीर होती है ।

पापी मर जायगा

कहते है काशी के घाट पर ग्रहण के अवसर पर एक बार बडा भारी मेला लगा तथा उसमे शिव और पार्वती भी आए ।

महादेव और पार्वती ने देखा कि लाखो की सख्या मे अपने आपको भक्त कहलवाने वाले व्यक्ति पूजा-पाठ, यज्ञ, होम तथा अन्य नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाए कर रहे है तथा तिलक-छापे लगाकर भक्त बने बैठे है ।

कौतूहलवश शिवजी और पार्वती की इच्छा हुई कि यहाँ परीक्षा की जाय, भक्तो की इतनी बडी सख्या मे सच्चा भक्त कौन है ?

यह विचार कर शिवजी साधारण व्यक्ति के रूप मे मृतप्राय से लेट गये और पार्वती उनके पास अत्यन्त शोकमग्न होकर बैठ गई । पार्वती ने अपने पति के मृत्यु सम्बन्ध मे लोगो को बतलाया और कहा—जो निष्पाप भक्त होगा, वही मेरे पति को स्पर्श करके इन्हें जीवित कर सकता है । कृपा करके आप लोगो मे से जो भी निष्पाप और सच्चे भक्त हो मेरे पति को स्पर्श करके इन्हे जीवित करे, किन्तु एक बात है कि पापी होगा वह इस शव को स्पश करते ही मृत्यु को प्राप्त हो जायगा ।"

मले म जितने भी भक्त आये थे सभी अपने आपको सच्चा भगत मानते थे किन्तु पार्वती की बात सुनकर किसी ने भी शिवजी के शव को स्पर्श करने का साहस नही किया । और सब एक के बाद एक धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गए । मरने के लिये कौन तैयार होता ?

किन्तु सबसे अन्त म बचा हुआ एक हरिजन बोला—"देवी ! मैं शीघ्र ही स्नान करके आता हूँ, फिर आपके पति को स्पर्श करने की कोशिश करूँगा ।"

हरिजन लगभग दौडता हुआ सा गया और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक गगास्नान करके लौट आया । आते ही उसने महादेव के शव को स्पर्श किया और स्पर्श करते ही वे उठकर खडे हो गये ।

बन्धुओ, इस उदाहरण से स्पष्ट हो गया होगा कि भक्त और धर्मात्मा कहलाने वाले तो अनेक होते है किन्तु सच्चा भक्त और धर्मात्मा गुदडी के लाल के समान विरला ही मिलता है । धर्म का दिखावा मात्र करने स ही कोई धर्मात्मा नही बन पाता ।

इसलिए आवश्यक ही नही अनिवाय है कि धर्म को उसके सच्चे रूप मे ग्रहण किया जाय तथा प्रत्येक क्रिया केवल कर्म-निर्जरा की भावना से की जाय । चाहे दान देना हो, चाहे शील का पालन करना हो तथा तप ही करना हो, वे सब इसलिये न की जायें कि दुनिया उसे दानी कहे, तपस्वी कहे और धर्मात्मा कहकर उसकी पूजा करे ।

कर्मों से मुक्ति किसी भी कामना या यश-प्रतिष्ठा की इच्छा स धर्म किया जाने स नहीं होती । इन सबका त्याग करने से होती है मुक्ति त्याग से मिलती है, भोग से नही ।

'ज्ञाता धर्म कथा सूत्र मे शैलकराजर्षि का वर्णन आता है । एक बार राजर्षि बीमार हो गए । उनका उपचार करने के लिए उनका पुत्र मडूक आया तथा वैद्यो के कथनानुसार उपचार किया गया । किन्तु स्वास्थ्य ठीक हो जाने पर भी वे खाने पीने मे मशगूल रहे । परिणाम यह हुआ कि उनकी साधना मे शैथिल्य आ गया ।

किन्तु उनके सुयोग्य शिष्य पथक की धैर्यता ने उन्हे पुन स्थिर किया तथा वे खाने-पीने की ममता का त्याग करके मुक्ति के अधिकारी बने। सक्षेप मे उनका उद्धार तभी हुआ जबकि उन्होने खाद्य पदार्थों की ममता का त्याग किया। कहा भी है—

मन और इन्द्रियाँ वश मे हैं हो जाती,
जिनकी चेतन मे चित्तवृत्ति रम जाती।
धारा जिन सत्पुरुषों ने सुविरति बाना,
कर कर्म-निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।

—प० शोभाचन्द्र भारिल्ल

जिन महापुरुषो की इन्द्रियाँ और मन उनके वश मे हो जाते है तथा चित्तवृत्ति आत्म-स्वरूप म रमण करती है, और जो भोगो से विरक्त होकर सयम को अपनाते है वे ही भव्य-प्राणी अपने कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त करते है।

सयम नेकी का मार्ग है, इस पर चलकर ही आत्मा विकास की ओर अग्रसर होती है। तथा कालातर मे मुक्ति का आनन्द प्राप्त करती है। भजन मे कहा गया है—

सत्य धर्म की सेज बिछी है, सोना है तो सोजा।
कहे मुनि नदलाल का शिष्य, मिले मोक्ष की मोजां॥

भजन के रचयिता है चर्चावादी नन्दलाल जी महाराज के सुशिष्य पूज्य-श्री खूबचन्द जी महाराज ! जिन्हे आचार्य पदवी प्रदान की गई थी। बडे ही आत्मार्थी सत थे। मुझे भी उनके दर्शन करन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जब मैं छोटा था, तब वे एक बार रतलाम मे बिहार करने पर मुझे पहुँचाने आए थे।

उन्ही महान् सत का कथन है—"देखो भाई ! 'सत्य-धर्म' की इस सुखकर शैय्या पर सोने की इच्छा हो तो विलम्ब मत करो। इस शान्तिदायक शैया पर सोओगे तभी तुम्हे मुक्ति की मौज का अनुभव होगा।

वास्तव मे ही अगर सत्य और धर्म का आचरण किया जाय तो ससार की कोई भी शक्ति मानव को शिव पुर पहुँचने से नहीं रोक सकती। प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने धर्म का महत्व बडे सुन्दर ढग से समझाते हुए उसकी स्तुति की है —

ससार सारा जिसके बिना है,
अत्यन्त निस्सार समान जैसा।
साकार है शान्ति वसुन्धरा की,
हे धर्म ! तू ही जग का सहारा।
दानादि हैं रूप अनेक तेरे,
जो विश्व को स्वर्ग बना रहे हैं।
निष्पाप निस्ताप विशुद्ध तेरा,
है चित्त ही आलय एक रम्य।

कितनी सुन्दर रचना है ! कहा है—"जिसके बिना समस्त जगत निस्सार और श्मशानवत् शून्य है, ऐसे धर्म ! तुम्ही इस पृथ्वी पर शान्ति एव आनन्द का साकार रूप हो ।"

"दान, दया, अहिंसा, परोपकार, तप तथा शील आदि सब तुम्हारे ही भिन्न-भिन्न रूप है जो इस पृथ्वी को स्वर्ग के समान बना देते है । जब महापुरुष इन्हे अपना लेते है उन महापुरुषो का पापरहित तथा तीनो ताप रहित शुद्ध हृदय ही तुम्हारे निवास के लिये एक मात्र सुरम्य मदिर है ।"

इसीलिए मुनि श्री ने अपने भजन मे कहा है—'हे विवेकी आत्मा ! अगर तुझे मुक्ति-सुख की सच्ची अनुभूति करनी है तो सत्य-धर्म की इस शैय्या पर शयन कर ।'

सत्य दर्शन

सत्य अनत रूप मे असत्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है । तथा असत्य जबकि निश्चय ही एक न एक दिन हारता है, सत्य की कभी हार नही होती । महात्मा गाँधी ने तो यहा तक कहा है —

"परमेश्वर सत्य है, यह कहने के बजाय 'सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना अधिक उपयुक्त है । किन्तु सत्य का मार्ग जितना सीधा है उतना सकरा भी है । तलवार की धार पर चलने के समान है । नट लोग जिस रस्सी पर एक निगाह रखकर चलते है, सत्य की रस्सी उससे भी पतली है ।"

सत्य की प्राप्ति और सत्य के दर्शन मे क्या कठिनाई है ? इस विषय मे कहा गया है —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।
तत्व पुषन्नपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये ।।

—ईशावास्योपनिषद्

—सत्य का मुँह स्वर्णपात्र से ढका हुआ है । हे ईश्वर ! उस पात्र को तू उठा दे जिससे 'सत्य-धर्म' का दर्शन हो सके ।

बधुओ ! आप शायद समझ गए होगे कि स्वर्ण-पात्र से सत्य से ढके रहने का क्या अर्थ है ? अगर न समझ पाए हो तो भली-भाति समझ लीजियेगा कि स्वर्ण अर्थात् धन, जब तक हृदय मे धन की लालसा बनी रहेगी, तब तक सत्य के दर्शन नही हो सकेंगे । सत्य के ऊपर लोभ का गहरा आवरण छाया हुआ है, जब तक वह हटेगा नहीं, सत्य का दिखाई देना कठिन है ।

इसलिये धन लिप्सा तथा अन्य समस्त सासारिक पदार्थो पर से आसक्ति हटाने पर ही सत्य-धर्म की अन्तर मे स्थापना हो सकती है । तथा मुमुक्षु उससे मार्ग-दर्शन पा सकता है । क्योकि सत्य एक प्रज्ज्वलित दीपक की भाति है जिसके एक बार जल जाने पर पुन बुझाया नही जा सकता, तथा अन्धकार मे छिपाया नही जा सकता

क्योंकि वह अपना प्रकाश स्वय ले चलता है। अत प्रत्येक प्राणी को अगर अपनी आत्मा का कल्याण करना है, तो उसे सर्वप्रथम आत्मा मे सत्य का प्रकाश करना होगा। और उस प्रकाश के सहारे से उन्नति के पथ पर बढ़ना होगा।

जब अन्त करण सत्य-मय हो जाता है तो मानव का स्वय ही विकास होने लगता है तथा मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट हो चलता है। क्योकि अपनी सत्यमय दृष्टि मे साधक जो कुछ भी ग्रहण करता है वह सम्यक् होता है।

कबीर को सत्य-धर्म पर कितना दृढ़ विश्वास था ! उनका कथन है —

सांचे साप न लागई, सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिलै, सांचे मांहि समाय ॥

सीधी-सादी भाषा मे कितनी सुन्दर बात कही गई है कि सत्य को कभी किसी का श्राप नही लगता, उसे काल नही खा सकता तथा सत्य-धर्म ग्रहण करने वाले का उसी के समान भव्य प्राणियो से मिलन होता है और अन्त मे वह उस सत्य-रूप ईश्वर मे ही समा जाता है।

इसलिये, प्रत्येक मुक्ति के अभिलाषी प्राणी को सत्य-धर्म अगीकार करना चाहिये और विश्वास रखना चाहिए कि उसके ग्रहण करने पर आत्मा मे अन्य समस्त सद्‌गुणो का स्वय ही आविर्भाव हो जाएगा तथा वह कर्म-रहित होती हुई अन्त मे अमरत्व की प्राप्ति करेगी। ☆

१९ | मानव जीवन की महत्ता

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

शास्त्रो मे वर्णन आता है कि देवता अपना दूसरा शरीर बना सकते है, जो वैक्रिय शरीर कहलाता है। तभी कहा है—

'देवाण वाच्छाण ।'

—देवताओ मे वह शक्ति है, जिसके द्वारा वे अपने शरीर को इच्छित रूप मे बदल सकते है।

श्री 'रायप्रसेनी सूत्र' मे सूर्याभ देवता के हुक्म से उनके आभियोगिक देवता ईशान दिशा की तरफ जाकर अपने शरीर का रूपान्तर करते है। ऐसा वे क्यो करते है ? क्योकि उन्हे आमलकप्पा नगर मे विराजित भगवान महावीर प्रभु की सेवा मे पहुचना है।

शका होती है कि देवता अपने स्वाभाविक रूप मे क्यो नही आते ? इसका उत्तर यही है कि अगर देव अपने मूल-रूप मे यहा आ जाएँ तो उनके शरीर के तेज को सहन करने की ताकत मनुष्य म नही है। मनुष्य की आखो मे वह शक्ति नही है कि वह देवताओ के तेज को सहन कर सके। इसीलिये देव मनुष्य लोक मे रूप बदल कर आते हैं।

देवत्व मे भी भिन्नता

हमे लगता है कि वे देवता कैसे बने ? देवता बनने के लिये उन्होने उत्तम करनी की। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि आभियोगिक देवताओ की करनी मे कुछ कसर रही। अन्यथा वे भी इन्द्र देवता बनते। इन्द्रदेव की करनी उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट थी।

जैसे आपके यहाँ एक सेठ है, और दूसरा गुमाश्ता है। क्या फर्क है दोनो मे ? क्या सेठ के दो आँखो की जगह चार आखें है ? या दो हाथो के स्थान पर चार हाथ है ? नही दोनो का शरीर समान है, दोनो ही मनुष्य हैं, दोनो के अगोपाग और उनकी

शक्ति एक सी है। फर्क है केवल की हुई करनी का। या दूसरे शब्दो मे पुण्यवानी का। सेठ के पास पुण्यवानी अधिक है अत उसके यहाँ ढेरो नौकर-चाकर और गुमाश्ते हैं। पर गुमाश्ते की पुण्यवानी मे कसर रही है अत उसे सेठ के यहाँ गुमाश्ता बनना पडा है। कहा भी है :—

"वश्यतां नयति पूर्वभवात्त, पुण्यमेव भुवनानि किमन्यत् ।"

—पुण्य के विषय मे अधिक क्या कहे ? पूर्व-जन्म के संचित पुण्य ही तीन लोक को वशवर्ती अथवा आज्ञानुयायी बना देते हैं।

इस पुण्य के प्रभाव से ही मनुष्य-मनुष्य की स्थिति मे अन्तर हो जाता है। एक राजा बन जाता है और दूसरा भिखारी। तथा केवल मर्त्य-लोक मे ही ऐसा नही होता, बारहवे देवलोक तक पुण्य का यही करिश्मा चलता है। देवो मे भी छोटे-बडे अपने पुण्य के प्रभाव से बनते है। पर बारहवे देवलोक से ऊपर सभी अहमिन्द्र है, वहाँ चाकर-ठाकुर कोई नही।

मानव जीवन की श्रेष्ठता

अभी मैने बताया कि उत्तम करनी करने से पुण्योपार्जन होता हैं, तथा पुण्य के द्वारा इस लोक तथा परलोक मे सुख मिलता है। करनी के अनुसार ही मानव देवगति मे जा सकता है, इन्द्र बन सकता है तथा तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन भी कर सकता है। पर ऐसी करनी कहाँ पर की जा सकती है ? केवल इस मानव जन्म मे ही। उत्तम करनी के लिये मनुष्य-जन्म ही सर्वश्रेष्ठ जन्म है। यही एक क्षेत्र ऐसा है, जहाँ से मानव जैसी करनी करे वैसा फल पा सकता है तथा जहाँ चाहे जा सकता है। पर करनी करनी मे भी बडा भारी अन्तर होता है। केवल कुछ न कुछ करने से ही लाभ नही होता। करनी अथवा कर्म ऐसे उत्तम किये जाने चाहिये, जिनसे उत्तम फल भी प्राप्त हो।

महात्मा कबीर ने कर्म-कर्म मे अन्तर बताते हुए कहा है —

एक कर्म है बोना, उपजे बीज बहुत।
एक कर्म है भूंजना, उदय न अकुर सूत ॥

कर्म दोनो ही है, बोना और भूंजना। दोनो मे ही परिश्रम पडता है, किन्तु उनके फलो मे कितना अन्तर है ? बीज बोने पर फसल के रूप मे अनेक गुना अन्न प्राप्त होता है पर भूंजने पर कुछ भी नही हासिल होता।

इसलिये, कर्म ऐसे ही करने चाहिये जिनका शुभ फल प्राप्त हो सके। व्यर्थ कर्म या कुकर्म करने से आत्मा की हानि ही होती है, लाभ कुछ भी नही। कर्म तो चोर, डाकू तथा जुआरी व्यक्ति भी करते है पर उसका क्या परिणाम होता होगा इसका अन्दाज आप लगा ही सकते हैं। अपना स्वार्थ-साधन करने के लिये औरो को

हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति मनुष्य होकर भी मनुष्य नही कहला सकते, ऐसे व्यक्तियो के लिये कहा जाता है —

'तेऽमी मानुषराक्षसा परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।"

जो अपनी हित साधना के लिये पर के हित का विनाश करते हैं, वे मनष्य के रूप मे राक्षस ही होते है ।

इसीलिये महापुरुष तथा सत-महात्मा बार-बार कहते हैं—मनुष्य-जन्म का लाभ उठाओ ! यह दुलभ देह बार-बार नही मिलती । अगर यह श्रेष्ठ भव पाकर भी तुमने धर्म के मर्म को नही समझा, जिनवाणी को हृदयगम नही किया तथा शुभ-कार्य करके पुण्योपार्जन नही कर सके तो यह देवताओ को भी दुलभ मानव पर्याय निरर्थक चली जाएगी ।

पडित पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी महाराज ने भी उस मनुष्य का जन्म व्यर्थ बताया है जिसने —

धरम न जाण्यो सत करम न जाण्यो,
कछु मरम न जाण्यो मत जैन जिनवाणी को
दानहू न दीनो ना शीयल चित्त भीनो,
तप विधिसु न कीनो नहीं सेवे गुरु ज्ञानी को ।
कीनो नाहीं तत्व अनतत्व को विचार भूरि,
भावना न रुचि चित्त नेक अभिमानी को ।

जिस व्यक्ति न धम को नही समझा, सत्कर्म क्या होते हे उन्हे नही जाना, तथा जिनधम और जिनवाणी के अर्थ को जानने का प्रयत्न नही किया और न ही कभी दान दिया, शील का पालन किया तप किया, और अगम्यज्ञान के धारक गुरु की श्रद्धा एव विधिपूर्वक सेवा की । इतना ही नही, जिसने तत्त्व-ज्ञान का सही ज्ञान भी अपने अह के कारण नही किया और कभी भी उत्तम भावनाओ को हृदय मे स्थान नही दिया, उसके लिये कवि ने आगे कहा है—

कहे अमीरिख यथा मालती अरण्य मध्य,
त्यो ही गयो अफल जन्म तिह प्राणी को ।

जिस प्रकार शून्य अरण्य मे मालती के फूल खिलें, पर कोई भी मानव उनके सौन्दर्य और सौरभ का उपयोग न करे, तथा उनका वहाँ पर खिलना व्यर्थ हो जाए, उसी प्रकार इस ससार मे प्राणी मानव जन्म प्राप्त करले किन्तु उससे कोई लाभ न उठाए तो 'मालती अरण्यवत्', उसका अनेकानेक लाभ प्रदान करने वाला यह शरीर निष्फल माना गया समझना चाहिये ।

किन्तु प्राणी को यह नही भूलना चाहिये कि मानव-जन्म की श्रेष्ठता किसमे है । धन की दृष्टि से मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ नही है । धन देवताओ के पास कितना होता है, यह आपके सुनने मे आया ही होगा ? समूचे भरत-क्षेत्र का धन एक तरफ और

वाणव्यन्तर देवता की 'मू जड़ी' एक तरफ। अतः धन की दृष्टि से अगर मानव-जीवन की श्रेष्ठता मानी जाती तो देवताओ का जीवन श्रेष्ठ कहलाता।

किन्तु ऐसा नही है, देवता तो स्वय ही मानव जीवन के लिये तरसते हैं अत उसकी श्रेष्ठता धन के अलावा किसी और बात मे है यह साबित हो जाता है। वह श्रेष्ठता क्या है, यह आप जानते है ? वह है, उत्तमोत्तम करनी कर सकने की क्षमता मे। मैंने यही बताया था कि मनुष्य चाहे तो देवत्व प्राप्त करता है, तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन कर सकता है और अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त करके मोक्ष मे भी जा सकता है। ऐसी क्षमता देवताओ मे नही है। इसीलिये मनुष्य-जन्म को सभी जन्मो से श्रेष्ठ माना गया है।

पर केवल मनुष्य शरीर मिल जाने से ही तो उसकी श्रेष्ठता साबित नही हो जाती। मनुष्य होकर भी अगर वह कुकर्म कर-करके नरक मे चला गया तो फिर क्या लाभ हुआ नर-देह पाने का ! इसका लाभ तभी हासिल हो सकता है, और तभी इसकी श्रेष्ठता सच्चे मायने मे मानी जा सकती है, जबकि मानव धर्माराधन करे, दान, शील, तप और भावनामय जीवन व्यतीत करे तथा अपनी आत्मा को कर्म-भार से मुक्त करे। अन्यथा तो यह नर-देह एक कोरे लिफाफे के समान ही कीमत-रहित मानी जाएगी।

लिफाफे के अन्दर चाहे दो वाक्य ही लिख आए हो तो उसका मूल्य होता है। पर अन्दर कुछ भी न हो, एक शब्द भी लिखा हुआ न हो तो आप उसे खोलकर प्रसन्न होगे क्या ? नही ! खाली लिफाफे का कोई महत्त्व नही होता, उसका कोई मूल्य नही माना जाता। ठीक इसी प्रकार उत्तम क्रिया या उत्तम करनी किये बिना इस शरीर का भी कोई मूल्य नही है तथा इसे पाना न पाना समान है। जो प्राणी अपने जीवन को इस प्रकार निरर्थक बिता देते है उन्हे देखकर महापुरुष दुख से कह उठते है —

दुर्लभ मानुष जन्मामूल्य एकोऽपि तत्क्षण।
तथापि काकिणी तुल्य तद्व्यय कुर्वते जना ॥

—मनुष्य का जन्म दुर्लभ है, उसका एक क्षण भी अमूल्य है। तो भी बडा दुख है कि मनुष्य कौडियो के समान उसका व्यय करते हैं।

मानव शरीर पर अनेको कवियो ने भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएँ की हैं। सभी ने मनुष्य-जन्म को उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न किया है। किसी ने इसे चरखे की उपमा दी है, किसी ने इसे रेल के समान बताया है। जैसे —

इस काया की रेल, रेल से अजब निराली।'

कवियो का प्रयत्न यथार्थ है तथा चिन्तनीय और मननीय है। प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमप्रभ ने अपने 'सूक्ति मुक्तावली' नामक सस्कृत ग्रन्थ मे भिन्न-भिन्न विषयो

पर अनेक सुन्दर श्लोक लिखे हैं। उनमे के एक श्लोक मे उन्होने मानव शरीर को वृक्ष के समान बताया है तथा उसके छ फल भी लिखे है। श्लोक है :—

> **जिनेन्द्रपूजा, गुरु-पर्यु पास्ति,**
> **सत्त्वानुकपा शुभपात्रदानम्।**
> **गुणानुराग श्रुतिरागमस्य,**
> **नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ॥**

आचार्य ने मनुष्य-शरीर को वृक्ष की उपमा दी है और उसके छ फल बताए हैं। क्योकि वृक्ष है तो उसके फल भी होने चाहिए। फल-हीन वृक्ष किस काम का ? तो लोक मे जो छ प्रकार के फल बताए है, उनमे से प्रथम है—

(१) **जिनेन्द्र पूजा**—भगवान के प्रति असीम भक्ति और श्रद्धा का भाव रखते हुए भक्त जो भी पूजा-पाठ आदि करता है, वह मनुष्य-जन्म का पहला फल है।

(२) **सद्गुरु की उपासना**—सद्गुरु की सेवा-भक्ति करना तथा उनके सदुपदेशो को ग्रहण करना।

(३) **सत्त्वानुकपा**—प्राणी मात्र पर करुणा और दया की भावना रखना।

(४) **सुपात्र दान**— सुपात्र को दान देना तथा शुभ कार्य मे खर्च करना।

(५) **गुणानुराग**—गुणी जनो के गुणो को देखकर हृदय मे प्रसन्नता का अनुभव करना।

(६) **श्रुतिरागमस्य**—आगम का श्रवण करना, तथा उनमे रुचि रखना।

ये छ फल मनुष्य-जन्म के बताए है जो अभी मैंने सक्षिप्त मे आपके सामने रखे हैं। अब हम इनमे से प्रत्येक का क्रमानुसार विस्तृत विवेचन करेगे।

जिनेन्द्र पूजा

यह मानव-शरीर रूपी वृक्ष का पहला फल है। 'जिनेन्द्र पूजा' मे तीन शब्द आते है—जिन, इन्द्र और पूजा ! जिन किसको कहा जाता है—

'जयति रागद्वेषादि शत्रून् इति जिन ।'

राग-द्वेष आदि जो भी आभ्यतर शत्रु हैं, इन्हें जो जीत लेता है वह 'जिन' कहलाता है।

राग-द्वेष आत्मा के सबसे बडे दुश्मन हैं तथा आत्मा को भारी बनाने मे मूल कारण बनते हैं। किसी के प्रति आसक्ति होने से जो प्रेम उत्पन्न होता है, वही राग कहलाता है तथा कर्म-बधन का कारण बनता है। तथा राग के विपरीत किसी पर द्वेष रखना, इर्ष्या करना, तथा निंदा करना ये भी कर्म-बध के कारण है।

इनमे से कोई भी दुर्गुण अगर आत्मा मे प्रवेश कर जाय वह भी आत्मा को पतित बनाकर छोडता है।

कहते हैं कि एक बार गौतम बुद्ध के शिष्य आपस मे विवाद करने लगे कि—ससार का कौन सा दुर्गुण आत्माओ का पतन करता है ?

किसी ने कहा—'धन आत्मा को पतन की ओर ले जाता है। किसी ने कहा—'शराब आत्मा को पतित बनाती है।' और किसी ने कहा—'नारी मानव के पतन का कारण बनती है।'

विवाद बढ गया, पर शिष्य कोई समाधान प्राप्त नही कर सके। अत वे सब बुद्ध के पास पहुँचे और उन्हे अपने विवाद के विषय मे बताया।

बुद्ध अपने शिष्यो की बात सुनकर मुस्कराए और बोले—"अगर एक छिद्र रहित सूखे हुए तुम्बे को जल मे डाल दिया जाय तो क्या वह डूबेगा ?"

'नही भगवन् !' सभी शिष्य एक स्वर से बोल उठे।

'अच्छा, अगर तुम्बे मे एक छिद्र कर दिया जाय तो ?" बुद्ध ने पुन प्रश्न किया।

"वह जल मे डूब जायगा भते !"

"और उसमे कई छिद्र कर दिए जायँ तो ?' बुद्ध का प्रश्न था।

"तब भी वह डूबेगा प्रभु !" शिष्य गुरुदेव के प्रश्नो का कुछ चकित होकर उत्तर दे रहे थे।

अत म तथागत ने कहा—"भिक्षुओ ! धन-वैभव तथा सुरा सुन्दरी आदि सभी आत्मा के लिए छिद्र है। जैसे अनेक छिद्र या एक ही छिद्र भी तूम्बे को जल मे डुबा देता है। ठीक इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग द्वेष आदि सभी दुर्गुण आत्मा के पतन का कारण बनते है। दुर्गुण-रूप अनेक या एक ही छिद्र आत्मा के सहज गुणो को नष्ट करके उसे पतित बना देता है।

तो बन्धुओ, आप समझ ही गये होगे कि राग-द्वेष आदि सभी दोष आत्मा को कर्म-भार से बोझिल बनाते हैं। इनकी करामातो के विषय मे क्या कहा जाय ? मनुष्य मनुष्य का आपस मे झगडा होता है, अर्थात् पडौसी-पडौसी लड पडते है, किन्तु एक की गाय या पाला हुआ कुत्ता भी अगर दूसरे के दरवाजे पर आ जाए तो वह व्यक्ति लाठी लेकर उन मूक जानवरो को बुरी तरह से मारता है तथा उन्हे द्वेषपूर्ण निगाहो से देखता है।

अब ऐसे व्यक्तियो से पूछो कि उन जानवरो से तुम्हारा द्वेष-क्यो ? उन बेचारो पर तुम्हारा क्रोध क्यो ? तुम क्यो भूल जाते हो कि सीधे-सादे सन्त कबीर की ससार के समस्त प्राणियो के प्रति कैसी भावना थी। वे कहते थे —

दया कौन पर कीजिए, का पर निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय॥

कैसी दिव्य-दृष्टि थी उनकी ! ससार की समस्त आत्माओ को आत्मवत् समझते थे अत विचार करते थे—किससे द्वेष ? सभी तो परमात्मा की सतान है, उसका ही अश है । फिर हमे क्या अधिकार है किसी को भी दुख या पीड़ा पहुँचाने का ?

ऐसी दृष्टि ही कर्म-बध से बचा सकती है । अन्यथा राग और द्वेष तो ऐसी चीजें है जो कि तुरन्त ही आत्मा से चिपक जाती है । किस प्रकार चिपकती है ? यह आचाराग सूत्र की टीका मे बताया गया है—जैसे एक व्यक्ति ने अपने घर के बाहर चबूतरे पर पैर धोये और उसके पश्चात् अन्दर गया । पैर गीले होने के कारण घर के फर्श पर की सूक्ष्म रज उनके पैरो से चिपक जाती है । उसी प्रकार राग-द्वेष भी आत्मा से अति शीघ्र चिपक जाते है ।

किन्तु महापुरुष इससे बचने का प्रयत्न करते है । जिस प्रकार मनुष्य घर के अन्दर फर्श पर बिछी हुई रज को झाड़ू से साफ कर देता है उसी प्रकार महान आत्माएँ भी राग-द्वेष रूपी कचरे को सामायिक, प्रतिक्रमण तथा अन्य शुभ क्रियाओ के द्वारा साफ करते है । घर का कचरा अगर बाहर नही निकाला जाय तो वह बढता चला जाता है अत गृहस्थ एक समय ही झाड़ू लगाकर नही रह जाता, वह सुबह-शाम दोनो वक्त कचरे की सफाई करता है ।

इसी प्रकार हमारे यहाँ सुबह भी प्रतिक्रमण करना पडता है तथा शाम को भी । श्रावक और साधु दोनो के लिए यही विधान है । जो भव्य-आत्मा अपनी सम्यक् साधना के द्वारा इस राग-द्वेष रूपी कचरे को पूर्णतया साफ कर देती है, दूसरे शब्दो मे इन आभ्यतर शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर लेती है वे ही 'जिन' कहलाते है ।

'जिन' कितने प्रकार के

'ठाणाग सूत्र' मे तीन प्रकार के 'जिन' कहे गए है ।

(१) **अवधिज्ञानी जिन**—देवता अवधिज्ञानी जिन कहलाते हैं । पुण्योपार्जन के कारण ही वे देव गति प्राप्त करते है । तथा शास्त्रकार उन्हें अवधिज्ञानी जिन कहते है ।

(२) **मन पर्यायज्ञानी जिन**—मन पर्याय ज्ञान मुनिराजो को होता है । मुनिराजों के अलावा अन्य किसी को यह प्राप्त नही हो सकता । तथा मुनियो मे भी वे ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, जो अप्रमादी हो । सम्यक् रूप मे सयम का पालन करते हो तथा चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर चुके हो ।

मन पर्यायज्ञान जिन्हे होता है वे कहाँ तक के प्राणियो के विषय में जान सकते है, इस विषय मे बताया है—ढाई द्वीप के अन्दर जिसमे जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, और अर्ध पुष्कर द्वीप है । अर्ध पुष्कर द्वीप इसलिये कहा गया है कि पुष्कर द्वीप के आधे मे पहाड है और आधे मे मनुष्य की बस्ती । इस प्रकार कुल ढाई-द्वीप हुए ।

अब ढाई द्वीप की लम्बाई-चौडाई के विषय मे आपको जिज्ञासा हो सकती है कि यह कितना बडा होगा । इसका समाधान यह है—एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है, जम्बूद्वीप के चारो ओर दो लाख योजन का लवणसमुद्र है । चार लाख योजन का धातकी खड, आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र और सोलह लाख योजन का पुष्कर द्वीप है । पुष्कर द्वीप के सोलह लाख योजन मे से आठ लाख योजन मे मनुष्यो की बस्ती है ।

तो मन पर्यायज्ञानी जिन इस ढाई द्वीप के समस्त सज्ञी अर्थात मन वाले प्राणियो के मन की बात जान लेते हैं । उनके हृदय मे चल रहे प्रत्येक विचार को समझ लेत है ।

केवलज्ञानी जिन—तीसरे प्रकार के जिन केवलज्ञानी होते हैं । जिन्हे सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान काल की प्रत्यक बात को जानने मे समर्थ होते है वे केवलज्ञानी जिन कहलाते है ।

बधुओ, आपको ध्यान होगा कि मूल श्लोक मे मानव-शरीर के छ फलो मे से पहला फल जिनेन्द्र-पूजा है । जिसमे जिन, इन्द्र और पूजा तीन शब्द निहित है । प्रथम शब्द 'जिन' के विषय मे आपको विस्तृत बता दिया गया है, तथा अभी-अभी तीन प्रकार के जिनो के बारे मे आपने जान लिया है । अब हम दूसरे शब्द 'इन्द्र' को लेंगे ।

जिनो के इन्द्र

जिन तीन प्रकार के हुए, पर उनके इन्द्र कौन ? तीर्थंकर महाराज । देवाधिदेव तीर्थंकर उनके इन्द्र है तथा उनकी पूजा करना मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का पहला फल है ।

पूजा कैसी हो ?

पूजा दो प्रकार की होती है । प्रथम द्रव्य-पूजा और दूसरी भाव-पूजा । द्रव्य पूजा करने मे अनेक पदार्थों का योग मिलाना पडता है तथा आरम्भ-समारम्भ करना भी आवश्यक हो जाता है । क्योकि द्रव्य पूजा करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थ काम मे लेते है । यथा-फल, फूल तथा अन्य प्रकार के खाद्य पदार्थ ।

दूसरी है भाव-पूजा । भाव-पूजा द्रव्य पूजा से श्रेष्ठ है, क्योकि उसमे किसी भी प्रकार का दोष नही लगता । जिनेश्वर भगवान ने अहिंसा का विधान छहो प्रकार के जीवों का रक्षण करने के लिए बनाया है । इसलिए भाव-पूजा को ही उत्तम माना गया है । भगवान पर श्रद्धा रखना, उनके वचनो पर विश्वास रखते हुये उनके निर्देशित मार्ग पर चलना ही भाव-पूजा और सच्ची पूजा है । एक श्लोक मे भाव-पूजा का महत्त्व बताते हुए लिखा है —

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मित सुरस्त्री लोचनै सोऽर्च्यते, ।
यस्त वंदति चैकशस्त्रिजगता सोऽहर्निश वंद्यते ।
यस्तं स्तौति परत्रवृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते,
यस्त ध्यायति कृत्स्नकर्मनिधन स ध्यायते योगिभि ।

जो प्राणी जिनेश्वर भगवान की पूजा करता है, उसकी पूजा देवागनाएँ स्वय ही अत्यन्त हर्षित होती हुई तथा मधुर मुस्कानें चेहरे पर लिए हुए करती है ।

पर वे पूजा किस पुजारी की करती हैं ? वृक्ष से तोडकर लाये हुये फूलो से जिनेश्वर की पूजा करने वाले पुजारी की नही, वरन् अन्तरात्मा की प्रगाढ श्रद्धा रूपी सुमनो से जो जिनेन्द्र की पूजा करता है उसकी । कहा भी है—

"भक्त्या तुष्यति केवलम् ।"

—भगवान केवल भक्ति से अर्थात् श्रद्धापूवक जाप करने से ही प्रसन्न होते है ।

दृढ़ श्रद्धा और अन्तरतम की प्रगाढ भक्ति जिसके हृदय म जिनेन्द्र के प्रति होती है वही पुरुष देवागनाओ द्वारा पूजित होता है तथा देवताओ को अपने चरणो मे झुका सकता है । वे ही देवता जो सच्चे भक्तो को, सच्चे धम के अनुयायियो को तथा पतिव्रता नारियो को धर्म से डिगाने आते है, स्वय ही हार मान लेते है ।

जो जिनेन्द्र भगवान को सुबह्-शाम वदन करते है वे सन्त-मुनिराज अन्य प्राणियो के द्वारा रात-दिन वदन करने लायक बनते हे । आप देखते ही है, दो वक्त नियमित रूप से वदन करने वाले सन्तो को रात-दिन प्राणी वदन करते है । यह भाव-पूजा का ही माहात्म्य है । साधु का इतना महत्व क्यो माना जाता है इस विषय मे बताया गया है —

महाव्रत पच आदि सप्तविंश गुण आमे,
जानि दु ख मूल अग भोग भये त्यागी हैं ।
निशदिन करत अभ्यास जिन आगम को,
आतम स्वरूप साधबे की मति जागी है ।
पुद्गल चाह तजी, बाराविध धारे तप,
परीषह दुक्कर सहत शिवरागी है ।
कहे अमीरिख सबै करम कलग मेटी,
पामे मोक्षवास ऐसे साधु बडभागी हैं ।

बधुओ, दिन-रात वदन करने योग्य व्यक्ति सहज ही नही बन जाता । उसको कितना त्याग करना पडता है ? कितने बधनो मे बँधना पडता है ? मन को कितना सयमित करना पडता है ? इसका अन्दाज लगाने से नही लगता । फिर भी पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने सक्षेप मे समझाने का प्रयास किया है । कहा है—

वही बडभागी अर्थात् बडे भाग्यवान सन्त है जो पाँच दुष्कर महाव्रतों का पालन करते हैं, सत्ताईस गुणो से युक्त होते है तथा जगत के भोगो को दु ख का मूल मानकर त्याग देते हैं ।

जिनागमो को निरन्तर पढते है, उन्हे समझते है तथा उन पर गहन चिंतन करते हुए आत्म-स्वरूप मे रमण करने का प्रयत्न करते है ।

सच्चे सत अपने नश्वर शरीर के मोह का सर्वथा त्याग करके बारह प्रकार की तपस्या मे सलग्न रहते है तथा नाना प्रकार के भयकर कष्ट सहन करके भी मुक्ति-प्राप्ति के प्रयत्न को नही छोडते ।

कवि ने कहा है—ऐसे ही बडभागी साधु आत्मा पर चढ़े हुए कर्म-रूपी कलको का समूल नाश करके मोक्ष को प्राप्त होते है ।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि ऐसे ज्ञानी, त्यागी, आत्मा के सही स्वरूप को जानने वाले और भगवान के सच्चे उपासक ही अन्य प्राणियों के लिये वन्दनीय बनते है ।

श्लोक मे अपनी बात बताई गई है कि जो भगवान की स्तुति करता है, उसकी स्तुति इन्द्र-लोक मे होती है । दृढव्रती अरणक श्रावक की स्तुति इन्द्र महाराज ने की थी। कामदेव श्रावक की प्रशसा भी इन्द्र को करनी पडी । तो जो अपने धर्म पर दृढ रहता है तथा भगवान की स्तुति और पूजा करता है, उसके गुण-गान देवलोक मे भी होते है ।

इस सबके अलावा भगवान का ध्यान, उनके विषय मे चिन्तन और उनकी आन्तरिक पूजा जो व्यक्ति करता है, उसका ध्यान योगी भी करते है । योगी भी उनकी प्रशसा और स्तुति करते नही थकते ।

मतलब यही है कि जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करना मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष का पहला फल है । भक्ति के बिना आत्म-रूप परमात्मा की प्राप्ति सभव नही है । भक्ति को चाहे आप भक्ति कहलें, श्रद्धा कहलें, यकीन कहलें या अंग्रेजी मे 'बिलीव' कहे । बात एक ही है । विश्वास ही मुमुक्षु को अपनी मजिल तक पहुँचने का मार्ग बताता है । एक पाश्चात्य विद्वान ने तो कहा है —

"Faith is the root of all blessings"

—विश्वास सारे वरदानो का आधार है ।

तात्पर्य यही है जब आत्मा मे दृढ़ श्रद्धा पैदा होती है तभी भगवान की भक्ति, चिन्तन-मनन, स्वाध्याय और पूजा सार्थक हो सकती है । और इसके लिये मन को साधने की आवश्यकता सर्वप्रथम एव अनिवार्य चीज है । ससार के सभी महापुरुष मन की शुद्धता, पवित्रता और मन के सयम पर जोर देते हैं । कहते है —

मोक्ष मिले नहीं गायन से, शिव नाहिं मिले तन भस्म रमाये।
छांडि के गेह बसे बन हुं नही मोक्ष मिले बक-ध्यान लगाये।
चारहुं धाम भ्रमे न मिले शिव नाहीं मिले मुख मौन रहाये।
कद भखे न मिले शिव अमृत मोक्ष मिले मन को वश लाये।

जोर-जोर से भजन-कीर्तन करने से, घण्टे बजा-बजा कर आरती करने से अथवा शरीर पर भस्म रमाने और तिलक-छापे लिखने से मोक्ष नही मिलता। न ही मोक्ष पर छोडकर वन जाने और वहाँ पर बगुले के समान ध्यान लगाने से ही मिलता है। मोक्ष चारो धाम के मदिरो मे सिर पटकने से या मौन ले लेने से भी नही मिलता। अन्न-त्याग कर केवल कद-मूल का भक्षण करने से भी मुक्ति रूपी अमृत प्राप्त नही होता वह तो मन को वश मे कर लेने पर ही मिल सकता है।

मन पर सयम करने पर ही मानव सच्चे आनन्द की अनुभूति कर सकता है। अन्यथा वे सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य और उससे भी अधिक मिल जाने पर भी उसे शाति नही मिल सकती।

राज्य की सीमा कहाँ है ?

मिथिला नरेश महाराजा जनक के राज्य मे एक ब्राह्मण रहता था। उससे एक बार कोई बडा भारी अपराध हो गया।

ब्राह्मण को दरबार मे उपस्थित किया गया। जनक उसके अपराध से बहुत कुपित हुए और उसे अपने राज्य की सीमा से बाहर निकल जाने का आदेश दिया।

ब्राह्मण ने महाराज के आदेश को शिरोधार्य किया पर हाथ जोडकर पूछा— "महाराज! मैं इसी वक्त आपके राज्य से बाहर निकल जाता हूँ, किन्तु कृपया मुझे बता दीजिये कि आपके राज्य की सीमा कहाँ है ?"

ब्राह्मण के प्रश्न से विद्वान एव आत्म-ज्ञानी जनक के मन को एक गहरा झटका लगा। वे सोचने लगे इस पृथ्वी पर तो अनेक शक्तिशाली राजा राज्य कर रहे हैं। अत मुझे तो अपना राज्य मिथिला ही लगता है। पर फिर ख्याल आया कि राज्य मेरा कहाँ से आया ? क्या यह मेरे साथ चलेगा ?

ज्यो-ज्यो जनक की विचार-धारा आगे बढी उनके अधिकार की सीमा सकुचित होती चली गई पहले प्रजा पर, फिर सेवको पर और फिर अपने अत पुर पर ही उन्हे अपना अधिकार लगा। पर जब जनक चिंतन की ओर भी गहराई मे उतरे तो उन्हें लगा कि इन पर भी मेरा अधिकार कहाँ से आया ? यह सब नाशवान हैं, मेरा अधिकार तो केवल मेरी आत्मा पर ही है।

ऐसा विचार आने पर वे बोले—"बन्धु, मेरे राज्य की सीमा कहीं नही है, ससार की किसी भी वस्तु पर मेरा अधिकार नही है। आप जहाँ चाहें, प्रसन्नतापूर्वक रहिये।"

यह होता है मन का सयम। मन पर इस प्रकार का सयम होने पर ही मुक्ति का अभिलाषी पुरुष दृढ श्रद्धा सहित जिनेन्द्र की सच्ची पूजा कर सकता है तथा देवताओ को भी अपने चरणो पर झुका सकता है।

बधुओ, आज आपने मनुष्य-जन्म क पहले फल जिनेन्द्र-पूजा के विषय मे ज्ञान किया। बाकी पाँच फलो के विषय मे हम सुविधानुसार अगली बार विवेचन करेगे।

☆

२०

बलिहारी गुरु आपकी . .

धर्मप्रमी बधुओ ! माताओ एव बहनो !

कल के प्रवचन मे मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के छ फलो का उल्लेख किया गया था। उनमे स पहला फल जिनेन्द्र पूजा था और उसके विषय म आपको कल विस्तार-पूर्वक बताया गया था।

आज हम मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष क दूसरे फल 'गुरुपर्युपास्ति' पर विचार-विमर्श करना है। 'गुरु-पर्युपास्ति' म दो पद ह एक गुरु और दूसरा पर्युपास्ति। गुरु शब्द का अर्थ है सद्गुरु । यह आप लोग सभी जानते हे पर गुरु के अन्य और भी अर्थ होते है।

व्याकरण शास्त्र मे स्वर दो प्रकार के माने गए है। ह्रस्व और दीर्घ। ह्रस्व स्वर होते ह- अ, इ, उ तथा दीर्घ या गुरु कहलाते है—आ, ई, ऊ, ए, ऐ और ओ, औ आदि। तो आप समझ गए होगे कि व्याकरण मे दीर्घ को गुरु कहते है।

किन्तु ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो वहाँ दीर्घ को गुरु नही कहा जाता। वरन् वृहस्पति नाम का एक ग्रह है। जिसे गुरु कहते है। तो ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि स गुरु का अर्थ वृहस्पति लेना पडेगा।

अब गुरु शब्द का तीसरा अर्थ लिया जाएगा धर्म-शास्त्र की दृष्टि से। धर्म-शास्त्र की दृष्टि से गुरु धर्मोपदेशक को कहा जाता है। अर्थात् जो धर्म के विषय मे पढाये, धर्म के विषय म समझाए और धर्म विषयक उपदेश दे वह गुरु माना जाएगा।

तो गुरु शब्द का अर्थ व्याकरण की दृष्टि मे अलग है, ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से अलग है और धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी अलग है। हमे यहाँ गुरु शब्द को धमशास्त्र की दृष्टि से ही लेना है क्योकि हमारा विषय आध्यात्मिक विवेचन को लेकर है।

अब हमारे सामने पर्युपास्ति शब्द आता है। पर्युपास्ति. मे 'परि' और 'उप'

उपसर्ग है। परि का अर्थ है चारो तरफ से, उप का अर्थ है नजदीक, तथा अस्ति का अर्थ है रहना। इस प्रकार पर्युपास्ति का अर्थ हुआ नजदीक रहना पर नजदीक किसके रहना ? इसका उत्तर पहले ही दे दिया गया है, गुरु पर्युपास्ति अर्थात् गुरु के नजदीक रहना।

बलिहारी गुरु आपकी

हमारे आध्यात्मिक शास्त्रो म गुरु का बडा भारी महत्त्व माना गया है, इसीलिए मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का दूसरा फल गुरु की सेवा करना बताया है। कोई अगर कहे कि गुरु की सेवा हम क्यो करे ? तो उसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है—हमारे शास्त्रो मे तीन तत्त्वो की पहचान करनी चाहिए ऐसा उपदेश है। वे तीन तत्त्व है—देव, गुरु और धर्म। गुरु जो कि देव और धर्म के बीच मे है इसलिये देव और धर्म की पहचान कराते है। किस प्रकार पहचान कराते हैं इस विषय मे कहा गया है —

"अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन, तस्मैश्री गुरवे नम ॥"

अज्ञान रूपी तिमिर से जो अन्धे हो गए है उन चक्षुओ को ज्ञान रूपी अजना की शलाका से उन्मीलित करने वाले गुरुओ को हम नमस्कार करते हैं।

वास्तव मे ही अपने चर्म-चक्षुओ के द्वारा यद्यपि हम ससार के प्रत्येक पदार्थ को देख सकते है किन्तु जिन ज्ञान-रूपी नेत्रो से हम अपनी अन्तरात्मा को देखते है उन्हे उघाडने मे गुरु के अलावा और कोई भी समर्थ नही होता।

अधेरे मे जिस प्रकार व्यक्ति को कोई भी अन्य पदार्थ दिखाई नही देता, यहा तक कि अपने हाथो मे जुडी हुई अगुलियो तक को वह नही देख पाता, उसी प्रकार अज्ञान रूपी अन्धेरे मे ज्ञानमय नेत्रो के बिना मानव अपनी आत्मा के निजी गुणो को नही पहचान पाता। वह यह भी नही जान पाता कि इस ससार मे हेय क्या है और उपादेय क्या है ? पाप क्या है, और पुण्य क्या है ? सवर क्या है, और निर्जरा क्या है ? बध क्या है, और मोक्ष क्या है ? इन्ही सब बातो को जानने के लिए गुरु की आवश्यकता है और केवल गुरु ही मानव के अन्तर्चक्षुओ को ज्ञान-रूपी अजन के द्वारा ज्योतिर्मय बनाकर उन्हे यह सब देखने मे समर्थ बना सकते है।

इसीलिए गुरु का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है यहाँ तक कि परमात्मा से भी पहले उन्हे नमस्कार करना चाहिए। कबीर जैसे सत कह गए है—

गुरु गोविन्द दोनो खडे, का के लागू पाय ?
बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दिया बताय।

मानव अगर परमात्म-पद प्राप्त करना चाहता है, अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने की आकांक्षा रखता है तो उसे गुरु की शरण मे जाना अनिवार्य है। गुरु के अभाव मे अन्य कोई भी शक्ति उसे ऐसा करने मे समर्थ नही बना सकती।

देव, गुरु और धर्म म गुरु का पद मध्यस्थ है और मध्यवर्ती होकर वे देव और धर्म की पहचान कराते है। नमस्कार मत्र मे भी आप जानते ही है कि पाँच पद होते हैं। अरिहन्त और सिद्ध पहले, उसके पश्चात् आचार्य अर्थात् गुरु और बाद मे उपाध्याय तथा साधु।

मध्यवर्ती स्थान का महत्त्व आप जानते ही होगे एक उदाहरण स यह स्पष्ट हो जाएगा। आप अपनी तस्वीर खिचवाते है। अगर परिवार के सम्पूर्ण सदस्यो के साथ तस्वीर खिचवाई जाती है तो आप अपने पिता, दादा या अन्य गुरुजनो को सबके मध्य मे बिठाते है। तथा स्कूल म खिचवाते है तो अपने शिक्षको को बीच म बैठाते है क्योकि वे आपसे बड और पूज्य होते है। इसके अलावा कोई बडा नेता, मिनिस्टर या अन्य सम्मानीय व्यक्ति आ जाए तो आप उसे अपने शिक्षको के भी मध्य मे बैठने के लिए कुर्सी प्रदान करते है, तथा तस्वीर खिचवाते है।

इससे साबित होता है कि व्यक्ति सबमे अधिक महान् और उच्च होता है उसे अन्य सब के मध्य मे प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होता है। इसी प्रकार गुरु को महान् होने के कारण देव गुरु तथा धर्म मे और नमोक्कार मत्र के पाँच पदो म भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मध्य-स्थान दिया गया है।

गुरु कैसे होने चाहिए ?

बन्धुओ, अब हमारे सामने यह प्रश्न है कि गुरु कैसे होने चाहिए ? आज के युग मे गुरु कहलाने वालो की कमी नही है। अपने प्रत्येक शिक्षक को आप गुरु कहते है। किन्तु उनके द्वारा जो शिक्षा छात्रो को प्राप्त होती है, क्या वह पूर्ण कही जा सकती है ? नही, आज की शिक्षा आदर्श और पूर्ण कदापि नही मानी जा सकती। आज के शिक्षक अपने विषय की पाठ्य-पुस्तके छात्रो को पढा देते है, उनमे रही हुई बाते रटा देते है। और छात्र भी जैसे-तैसे विषय को रट-रटाकर परीक्षाएँ पास कर लेते है और डिग्रियाँ पा लेते है। पर उससे क्या होता है ? केवल ऊँची-ऊँची पदवियाँ और नौकरियाँ ही तो प्राप्त हो सकती है। उस शिक्षा से शिष्यो का जीवन कहाँ उच्च बनता है ?

जिस शिक्षा के द्वारा छात्रो मे शिष्टता, सदाचार, विनय, अनुशासन, कर्त्तव्य-परायणता तथा सेवा आदि की भावनाएँ जन्म न ले, उनमे नैतिकता और धार्मिकता के अकुर न फूटे उस शिक्षा से क्या लाभ हो सकता है ? कुछ भी नही। उलटे उसका परिणाम भयानक ही दिखाई देता है। आए दिन हम सुनते है कि अमुक स्कूल के विद्यार्थियो ने अपने मास्टरो को गालियाँ दी और पीटा अथवा अमुक कालेज के छात्रो ने प्रोफेसर को छुरा दिखाकर मार डालने की धमकी देते हुए परीक्षा के समय अपनी कॉपी म नम्बर बढ़वा लिए। बात-बात मे विद्रोह करना तो स्कूल और कॉलेज के छात्रो का खेल ही हो गया है।

यह सब क्यों होता है ? इसलिए कि, आज के शिक्षक छात्रों को महीने भर तक पुस्तक-ज्ञान कराकर अपनी तनख्वाह ले लेना ही अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। इतने मात्र से ही उनके कर्त्तव्य की इति श्री हो जाती है। छात्रो का चरित्र-निर्माण होता है या नही इस बात मे उन्हे कोई मतलब नहीं रहता। उनका एकमात्र और मुख्य उद्देश्य शिक्षण के द्वारा अर्थोपार्जन करना होता है। इसलिए महापुरुष ज्ञान के सच्चे अभिलाषी को सीख देते हैं —

लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारण हार।
जो तू तिरणो चाहिए, निर्लोभी गुरु धार ॥

क्या सीख दी गई है इस पद्य मे ? यही कि अगर तू ससार-सागर से पार उतरना चाहता है तो ऐसा गुरु खोज जो कि स्वय भी इस ससार-सागर को तैर कर पार करने मे समर्थ हो और दूसरो को भी पार उतारने की क्षमता रखता हो।

सच्चे गुरु केवल अपनी वाणी से ही शिष्यो को शिक्षा नहीं देते वरन् अपने जीवन से भी मूक शिक्षा देते है। शिष्य उनकी वाणी से आध्यात्मिक या पारमार्थिक शिक्षा प्राप्त करता हुआ उनके जीवन से भी निर्लोभ, नि स्वार्थ, नैतिकता, सदाचार तथा चारित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करता चला जाता है। सद्गुरु किसी प्रकार के लोभ या स्वार्थ की पूर्ति के लिये अपने शिष्यो को ज्ञान-दान नहीं देते। उनका उद्देश्य अपने शिष्यो का जीवन-निर्माण करना होता है और इसलिये उनका ज्ञान-दान सर्वांगीण होता है। वे अपने शिष्यो को मन, वचन और शरीर से पूर्ण शुद्ध, पवित्र और उच्च बनाने का प्रयत्न करते हैं। तथा इसी उद्देश्य को सामने रखकर पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा सयम की साधना कराते हुये लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान प्रदान करते है।

शिष्य कैसे होने चाहिये ?

अभी हमने सद्गुरु अर्थात् सच्चे गुरु के महत्त्व और लक्षणो के विषय मे जाना, पर अब यह जानना भी आवश्यक है कि शिष्य के लक्षण और कर्तव्य क्या है ? आज के युग मे देखा जाता है कि स्कूल या कॉलेज का समय होते ही छात्र अपनी पुस्तकें लेकर वहाँ पहुँचते है और बचे हुए समय मे किताबे पढ़-पढकर छुट्टी की घन्टी बजते ही वहाँ से घर के लिए रवाना हो जाते है। स्कूल के समय से पहले और बाद मे शिक्षको से उनका कोई सरोकार नही रहता। परिणाम यह होता है कि स्कूल मे वे किताबी ज्ञान तो कुछ हासिल कर लेते है पर जीवन-निर्माण के लिए जो ज्ञान आवश्यक है वह उन्हे नहीं मिल पाता।

इसीलिये हमारे श्लोक मे मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष के दूसरे फल मे 'गुरुपर्युपास्ति' लिखा गया है। अर्थात् गुरु के अधिक से अधिक नजदीक या उनके आस-पास ही रहना। जब तक गुरु का सामीप्य अधिक से अधिक न मिले, तब तक छात्र को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसीलिये तो प्राचीन काल मे गुरु वनों या

जगलो के किन्ही सुरम्य स्थानो मे आश्रम का निर्माण कर वही रहते थे तथा उनसे ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक शिष्य भी उन्ही के पास रहकर अपने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए इहलौकिक और पारलौकिक ज्ञान का अर्जन करते थे ।

घर छोडकर गुरु के पास रहने मे यद्यपि उन्हे अनेको कठिनाइयो तथा कष्टो का सामना करना पडता था किन्तु गुरु की सेवा मे निरत रहने से उन्हें कोई भी कष्ट महसूस नही होता था । क्योकि वे भली-भाँति समझते थे कि —

यथा खनन् खनित्रेण, भूतले वारि विन्दति ।
तथा गुरुगता विद्या, शुश्रूषुरधिगच्छति ।।

—चाणक्य

—जैसे कुदाली से खोदकर मनुष्य पाताल के जल को पाता है, वैसे ही गुरु-गत विद्या सेवा से प्राप्त होती है ।

गुरु के अभाव मे

बिना गुरु की सेवा किये, बिना उनके सम्पर्क मे रहे और बिना कष्टो को सहन किये ही व्यक्ति अगर महापडित बनना चाहे तो यह कैसे सम्भव होगा ? कवि दलपतराय जी ने कहा भी है —

पढ़े के न बैठे पास, अक्षर न बाचि सके,
बिना ही पढ़े से कहो, आवे कैसे फारसी ?

कोई व्यक्ति गुरु के समीप जाकर बैठे ही नही, अक्षरो को पहचानने और उन्हे पढने का प्रयत्न भी न करे पर चाहे कि मै फारसी भाषा का विद्वान बन जाऊँ तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? उसके लिये तो काला अक्षर भैस के बराबर ही रहेगा । उर्दू लिपि मे हम देखते ही है कि उसमे आडी-टेढी लकीरे और बिन्दियाँ मात्र होती हैं पर वे लकीरे व्यर्थ नही होती उनका मतलब भी होता है और वह समझ सकता है उन्हे मेहनत करके जानने की कोशिश करने वाला व्यक्ति ही ।

जौहरी के मिले बिना, पारख न जाणि सके,
हाथ नग लिए रहे, सशय न टारसी ।

जब तक व्यक्ति जौहरी की सगति मे नही रहेगा, तब तक वह हीरा, माणिक या पन्ना किसी जवाहरात की परख नही सीख सकेगा । हथेली पर नग को रखे हुए भी वह नही जान पाएगा कि यह कौनसा रत्न है अथवा कितनी कीमत का है ?

हमारा चातुर्मास जब बम्बई मे था तो एक श्रावक नीलम लेकर आया । किसी दूसरे व्यक्ति ने उससे पूछा कि किसलिए लाए हो इसे ? बोला —'बेचने ।' पर जब दाम पूछे गए तो कहने लगा —'कीमत तो इसकी मुझे मालूम नही है जौहरी को दिखाने पर पता चलेगा ।' तो बताओ, बिना जौहरी को गुरु बनाए क्या वह

श्रावक नीलम की कीमत जान सकता था ? नही, बिना जौहरी की सगति किये वह बहुमूल्य पदार्थ की पहचान और उसकी कीमत नही आक सकता।

कवि ने आगे कहा है —

वैद्य के न मिल्या कहू, बूंटी को बताई बेत,
बिना भेद पाये, वह औषध है छार सी।

कहा है कि वैद्य से मिले बिना जडी-बूटियो की पहचान और उनके गुण अथवा नाना प्रकार की कीमती भस्मो के प्रभाव को कौन जान सकता है ?

मान लजिए, किसी के पिता नामाकित वैद्य थे। वे घर मे नाना-प्रकार की दवाइयाँ, काढे, अवलेह या भस्मे बनाया करते थे। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनका लडका, जिसने वैद्यक का नाम भी कभी पसन्द नहीं किया, क्या किसी को साधारण सिर-दर्द की दवा भी दे सकता है ? नही, उसके लिये तो सब जडी-बूटियाँ घास-फूस के समान, और भस्मे चाहे वे अभ्रक, लौह, या अन्य किसी भी कीमती पदार्थ की ही क्यो न हो, राख के समान ही है।

अन्त मे कवि ने कहा है—

दाखे दलपतराय, देखलो ये दाखला थीं,
बिना गुरु-ज्ञान जैसे अंधेरे मे आरसी।

कवि दलपतराय जी का कथन है—इन दृष्टान्तो से भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार अंधेरे मे रखे हुए दर्पण मे चेहरा दिखाई नही दे सकता, उसी प्रकार अज्ञान का अधकार होने पर चाहे पोथियो का अबार भी लगा रहे, मनुष्य उसमे से कुछ भी हासिल नही कर सकता। ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो उसे गुरु के सपर्क मे जाना ही होगा, उनकी सेवा मे बैठना होगा तथा विनय और श्रद्धापूर्वक उनसे ज्ञान हासिल करना होगा।

इसी विषय मे मराठी भाषा के प्रसिद्ध कवि सत तुकाराम जी कहते हैं —

सद्‌गुरु वांचो नी सापडेना सोय,
धरावे ते पाय आधीं-आधीं ॥१॥

सद्‌गुरु के बिना मानव को सही मार्ग मिलना सभव नही है। सद्‌गुरु की अथवा सतो की सगति करने पर तथा उनसे ज्ञान-चर्चा करने पर ही उसे इस सासारिक भूल-भुलैया से निकलने का रास्ता मिल सकेगा।

पद्य मे केवल गुरु ही नही, वरन् सद्‌गुरु का उल्लेख किया है। इस पर गहराई से विचार करना चाहिये। गुरु कहलाने वाले तो अनेक व्यक्ति हमे मिल सकते है। जो धन लेकर अथवा अन्य किसी स्वार्थ साधन के उद्देश्य को लेकर शिक्षा प्रदान करते है, किन्तु वह शिक्षा या ज्ञान मानव के जीवन को वैसा महान नही बना सकते

जैसा कि सद्‌गुरु बिना किसी भी स्वार्थ या लोभ-लालच के ज्ञान-दान देकर बना सकते है ।

सच्चे गुरु की एक और बडी भारी विशेषता यह होती है कि उनकी दृष्टि मे सभी ज्ञानार्थी समान होते है । सभी पर उनका वात्सल्य भाव एकसा रहता है । चाहे छात्र हो या शिक्षक, अमीर हो या गरीब, ऊँची जाति का हो या नीचीजाति का, वे समान स्नेह-पूर्वक उसे अपनाते है तथा ज्ञान-दान देते है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है ।

ज्ञानाभ्यास जरूर कराऊ गा !

कहते है कि एक गरीब वेश्या का बालक जो कि ज्ञान-प्राप्ति का बडा इच्छुक था अपनी मा से बोला—"मुझे ज्ञान प्राप्त करना है, मैं उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ ।"

पुत्र की बात माता को अत्यन्त प्रिय लगी पर एक तो अर्थाभाव दूसरे अपने बालक को अकुलीन समझकर डरने लगी कि इसे कौन पढाएगा ? फिर भी उसने हिम्मत करके अपने पुत्र को स्कूल मे भर्ती होने के लिये भेजा । पर परिणाम वही निकला जिसकी उसे आशका थी । यद्यपि वह बहुत काल से अपनी वेश्यावृत्ति का त्यागकर चुकी थी किन्तु फिर भी वेश्या-पुत्र मानकर उसे किसी भी स्कूल या पाठ-शाला म स्थान नही दिया गया ।

माता बहुत ही निराश हुई पर बार और साहस करके उसने पुत्र को एक सत के पास ज्ञानाभ्यास करने के लिये भेजा ।

लडका धर्मगुरु के पास आया और अत्यन्त विनयपूर्वक बोला—'गुरुदेव ! मुझे आप ज्ञान-दान देंगे क्या ?"

सत ने बालक की विनयशीलता और ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा को पहचानकर कहा—"बेटा ! तुम अपने पिता की अनुमति लेकर आ जाओ मैं तुम्हे विद्याभ्यास कराऊँगा ।"

सत की बात सुनकर बालक का चेहरा उतर गया तथा उसकी आँखो मे आँसू भर आए । रुँधे हुए कण्ठ से वह बोला—'भगवन् ! मेरे पिता को तो मैं पहचानता भी नही हूँ तथा मेरी मा को भी उनका नाम मालूम नही है । यही मा ने मुझे आपसे कह देने के लिये कहा है ।'

पलक झपकते ही सत सारी स्थिति समझ गए । अत्यन्त दयार्द्र होकर तथा बालक व उसकी माता की सत्यवादिता से प्रभावित होकर उन्होंने बालक के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"कोई बात नही वत्स ! तुम कल से समय पर विद्याभ्यास के लिये आ जाया करना ।" बालक ने गद्‌गद् होकर सत के चरण-स्पर्श किये और अगले दिन आने की स्वीकृति देकर घर चला गया । उसकी माता ने भी जब यह समाचार सुना तो ईश्वर का लाख-लाख शुक्रिया अदा किया ।

इधर जब लोगों ने सुना कि उनके धर्म गुरु ने एक वेश्या पुत्र को विद्याभ्यास कराना स्वीकार किया है तो वे भारी विरोध करने लगे। चारों ओर उनकी निन्दा तथा आलोचना होने लगी। कुछ व्यक्ति तो सत को समझाने उनके पास भी आए।

किन्तु सन्त ने स्पष्ट कहा—"घृणा पाप से करनी चाहिये, पापी से नही। धर्म और ज्ञान पतित-पावन हैं। वह पापी से पापी का भी उद्धार करते हैं। ससार के प्रत्येक मानव को चाहे वह किसी भी कुल का क्यो न हो उन्हें अपनाने का अधिकार है। तप कर्म के द्वारा तो वेश्या भी अपने पापो का प्रायश्चित करके पवित्र बन सकती है। फिर यह बालक तो एकदम निर्दोष है। मैं इसे ज्ञानाभ्यास अवश्य कराऊँगा।"

सत की बात सुनकर लोगो की आँखे खुल गईं और वे एक-एक करके वहाँ से चले गये।

वास्तव मे ही सद्‌गुरु ऐसे होते हैं। इसीलिए सत तुकारामजी कहते है कि सच्चे गुरु की शरण मे जाओ, तभी तुम्हे ज्ञान हासिल हो सकेगा। इतना ही नही, आगे भी उन्होने कहा है—

आपुल्या सारिखे करती तात्काल,
नाहीं कालबेल तया लागी ॥२॥

बताया है कि सतो की शरण मे जाने से वे तुम्हे तत्काल ही अपने जैसा बना देंगे। जरा भी समय उसमे नही लगेगा।

शास्त्रो मे वर्णन आता है कि आनन्द श्रावक ने भगवान के पास जाकर बारह व्रत अगीकार किये। और घर पर आकर अपनी पत्नी शिवानन्दा से कहा—"मैंने तो भगवान से बारह व्रत ग्रहण कर लिए है। अच्छा हो कि तुम भी उन्हे अगीकार करलो।"

उनकी पत्नी तुरन्त तैयार हो गई और भगवान के समीप इस इच्छा से आई। इधर मुनिराजों के लिए तो देरी ही क्या है ? ग्राहक जिस वक्त भी माल लेने आये वे अविलम्ब देने के लिए तैयार रहते है। इसीलिये कहा गया है कि सत अपनी शरण मे आने वाले को तुरन्त ही अपने जैसा बना देते हैं।

पारस पत्थर से भी महान

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि हम सासारिक प्राणी तो लोहे के समान हैं और हमारे गुरु पारसमणि! जिस प्रकार लोहा पारस का स्पर्श करके सोना बन जाता है, उसी प्रकार सांसारिक प्राणी सत-समागम से सुवर्ण के समान मूल्यवान बन सकता है। इस विषय मे भी सत तुकाराम जी का कथन है—

लोहपरी साक्षी न साहे उपमा,
सद्‌गुरु महिमा अगाधचि ॥३॥

कहा है कि लोहे को सोना बना देने वाले पारस की उपमा तो संत के लिए बहुत ही कम है। सद्गुरु की महिमा तो उससे भी बढ़कर है।

क्योंकि पारस ने अपने स्पर्श से लोहे को सोना बनाया तो क्या हुआ? काले रग से पीला रग प्राप्त हुआ तथा जो लोहा सेर के भाव से बिकता था वह तोले के भाव से बिकने वाला बन गया। अर्थात् उसके मूल्य मे अभिवृद्धि हो गई। पर सद्गुरु के सम्पर्क से तो एक तुच्छ और अधम प्राणी भी स्वय उनके समान ही बन जाता है। तो सद्गुरु का महत्त्व पारस से भी अधिक हुआ या नही?

उदाहरणस्वरूप—राजा सम्प्रति शिकार खेलने, अर्थात् जीव-हिंसा करने आया था पर उसे सत-समागम होते ही वह स्वय सत बन गया। राजा श्रेणिक उद्यान मे हवाखोरी के लिए गया था पर अनाथी मुनि ने अपने धर्मोपदेश से उसे धर्ममार्ग मे प्रविष्ट करा दिया। राजा परदेशी जो कि अपने हाथ खून से हर वक्त रगे रहता था, केशी मुनि के प्रभाव से साधु बन गया और चद दिनो मे ही समस्त कर्मों का क्षय करके ससार-मुक्त हो गया।

यह प्रभाव किसका? सत या सद्गुण का ही तो है। सद्गुरु के अलावा ससार मे और किसकी ताकत है जो नर को नारायण बना सके तथा आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर सके? आधुनिक युग मे विज्ञान की शक्ति सबसे महान् शक्ति मानी जाती है जिसके द्वारा मानव चन्द्रलोक की और मगललोक की भी सैर कर सकता है तथा अपने एक अणुबम से पृथ्वी को प्राणी रहित कर देने की क्षमता रखता है। किन्तु क्या वह किसी मानव को महामानव बना सकता है? किसी मानव के कर्मों का नाश कर सकता है? किसी आत्मा को शाश्वत शांति और अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष दिला सकने की क्षमता रखता है? नही, वह शक्ति सद्गुरु के अलावा और किसी मे भी नही हो सकती। फिर भी ससार इस बात को समझने की कोशिश नही करता। अत अपने अन्तिम चरण मे कवि कड़े शब्दों मे कहते हैं—

तुका म्हणे कसे आंधले हे जन,
गेले विसरून खऱ्या देवा ॥४॥

अर्थात् यह दुनिया कैसी अंधी है जो बोलते, चलते और धर्मोपदेश करते हुए देव को छोडकर दूसरी तरफ चलती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि वह सम्यक्ज्ञान हासिल करे। क्योंकि ज्ञान के अभाव मे आत्म-कल्याण की आकाक्षा कभी पूर्ण नहीं हो सकती। कहा भी है—

"ज्ञानभावनया कर्माणि नश्यन्ति न संशय ।"

—तत्त्वामृत

सम्यक्ज्ञान पूर्वक सात्त्विक भावनाओ का आराधन करने से कर्म नष्ट हुआ करते हैं, इसमे कोई सशय नही है।

इसलिए आवश्यक है कि मुमुक्षु प्राणी सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करे। और ज्ञान-प्राप्ति कैसे की जा सकती है इस विषय मे मैं काफी बता चुका हूँ। सक्षेप मे इतना ही कि व्यक्ति कितना भी चतुर और कुशाग्र बुद्धि क्यों न हो, सद्गुरु के अभाव मे सच्चा तथा ससार-मुक्त कराने वाला ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। जैसा कि कहा भी गया है—

बिना गुरुभ्यो गुणनीरधीभ्यो,
जानाति तत्त्वं न विचक्षणोपि।
आकर्ण—दीर्घामितलोचनोऽपि,
दीप बिना पश्यति नांधकारे॥

अर्थात् गुणसागर गुरु के बिना अति विचक्षण बुद्धि वाला व्यक्ति भी तत्त्वो को नही जान सकता। जिस प्रकार कि कानो तक फैले हुए विशाल नेत्रो वाला व्यक्ति दीपक की सहायता के बिना अन्धकार मे कुछ भी नहीं देख सकता।

इसीलिए गुरु के लिए कहा गया है 'गुरुस्तु दीपवत् मार्गदर्शक।' यानी गुरु दीप के समान मार्गदर्शन करते है।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होगे कि मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का दूसरा फल गुरू की उपासना क्यो बताया गया है, तथा गुरु का महत्त्व प्राचीन कवियो ने गोविन्द अर्थात् ईश्वर से भी बढकर क्यो माना है? कहने की आवश्यकता नही है कि हमे इस मानव-पर्याय को सार्थक करने के लिए सद्गुरु की शरण मे जाना चाहिये तथा उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर अपनी आत्मा को अजर-अमर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

समय हो चुका है, अत मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के तीसरे फल 'सत्वानुकम्पा' पर हम कल विचार-विमर्श करेंगे। ☆

२१ | अमरत्वदायिनी अनुकम्पा

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

जैनाचार्य श्री सोमप्रभसूरी ने एक श्लोक मे मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के छ फल बताए हैं। उनमे से पहला फल जिनेन्द्र पूजा और दूसरा फल सद्‌गुरु की सेवा-भक्ति करना है। इन दोनो के विषय मे पिछले दो दिनो मे विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। आज हम तीसरे फल सत्वानुकपा का विवेचन करेंगे।

मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का तीसरा फल है सत्वानुकपा। इसका अर्थ है—प्राणी मात्र पर अनुकपा करना अर्थात् दया भाव रखना। शास्त्रो मे कहा गया है—

> **"सव्वेपाणा सव्वेभूया सव्वेजीवा सव्वे सत्ता न हतव्वा।"**
>
> —आचाराग सूत्र

—सभी प्राणी, भूत तथा जीव सत्व है, इनकी हिंसा नही करनी चाहिये।

दशवैकालिक सूत्र मे भी यही बात कही गई है—

> **"अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो।"**

अहिंसा कैसी होनी चाहिए ? प्राणी, भूत मात्र पर सयम रखना, यानी किसी भी जीव को नही सताना। इसे सत्वानुकपा कहते है।

सत्व क्या ?

"सन्तो भावः सत्व।" जो हमेशा टिक कर रहने वाला जीव है उसे ही सत्व कहते है। प्राण, भूत, जीव या सत्व इन पर अनुकम्पा अर्थात् करुणा और दया का भाव रखना ही भगवान का आदेश है।

अनुकम्पा का शाब्दिक अर्थ अगर करना है तो कहा जा सकता है—दु.ख के कारण जो जीव थर-थर काँप रहा है, उसकी भयाकुल स्थिति को जानकर उसके प्रति दयार्द्र हो जाना अनुकम्पा कहलाती है। दूसरे शब्दो मे किसी भी दुखी प्राणी का अवलोकन कर हृदय मे कम्पन होना और उसे दुख से मुक्ति दिलाने की भावना

का जाग्रत होना अनुकम्पा है। सम्यक्दृष्टि मनुष्य का हृदय ऐसा ही सात्विक सुकोमल तथा अनुकम्पा युक्त बन जाता है।

अनुकम्पा या दया, धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है। इतना ही नहीं अगर हम जैन-धर्म को दयाधर्म भी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं है। वास्तव मे ही जैन धर्म का दूसरा नाम दया धर्म है। क्योकि धर्म मे से अगर दया निकाल दी जाय तो वहाँ कुछ भी शेष नही रह जाता। दया के अभाव मे धर्म थोथा, निस्सार और पाखड मात्र ही रह जाता है।

दया का मूल अहिंसा

जिस व्यक्ति के हृदय मे अनुकम्पा की भावना होगी, वही अपने मन, वचन तथा शरीर को हिंसा से बचा सकेगा। दूसरे शब्दो मे अहिंसा के मार्ग पर चल सकेगा। अहिंसा मनुष्य की प्रकृति का एक अविभाज्य अग है तथा आत्मा का निजी गुण है। किसी भी मनुष्य के अन्दर अगर मनुष्यता जैसी कोई वस्तु है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव म मनुष्य कभी सच्चा मनुष्यत्व प्राप्त नही कर सकता। अहिंसा का महत्त्व इतना अधिक क्यो माना गया है? इस विषय मे हमारे शास्त्र कहते है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवहं घोर,
निग्गथा वज्जयंति णं॥

—दशवैकालिक सूत्र

—ससार के सभी जीव, चाहे वे दरिद्र हो, रोगी हो, दुखी या किसी भी अवस्था मे हो, जीवित ही रहना चाहते है। मरना कोई भी नही चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ जैन मुनि इस महा भयावह हिंसा का सर्वथा त्याग करते है।

बन्धुओ, यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि अनुकम्पा या अहिंसा का महत्त्व केवल जैनधर्म या जैनशास्त्रो मे ही नहीं बताया गया है, वरन् सभी धर्मों मे एक स्वर से अहिंसा को ग्राह्य और हिंसा को त्याज्य माना है। समयाभाव के कारण मैं सभी धर्मों के उदाहरण आपको नही दे पाऊँगा पर कुछ के उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ।

वेदों मे अनेक स्थानो पर अहिंसा के प्रमाण मिलते हैं यथा—

'न किदेवा मिनीमसि, न किरा यो पयामसि।'

—ऋग्वेद १०-१३४-७

अर्थात्—हे देवताओ! हम न किसी को मारें, न किसी को दुखी करें। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है—

'यस्मादण्वपि भूतानां, द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य, भयं नास्ति कुतश्चन ॥'

—अध्याय ६-४०

—जिस द्विज से जीवों को तनिक भी भय नहीं लगता, वह जब परलोक में जाता है तो उसे किसी से भी भय नहीं लगता। अर्थात् जिस ब्राह्मण ने इस जीवन में अहिंसा का पूर्णरूप से पालन किया है, वह इतरलोक में पूर्णतः निर्भय रहता है।

ईसाई धर्मशास्त्र इञ्जील का मत भी है—

'Thou sholt not kill'

—तू किसी की भी हिंसा नहीं करेगा।

इनके अलावा जिस मुस्लिम जाति को हम निर्दयी मानते हैं, उनके एक बड़े आलिम फाजिल महापुरुष शेख सादी ने अपनी फारसी भाषा में लिखी हुई 'करीमा' नामक पुस्तक में अनुकम्पा के विषय में लिखा है—

करम मायए शादमानी बुवद,
करम हासिले जिंदगानी बुवद।

फारसी भाषा में दया को करम या रहम कहते हैं, तथा करम या रहम करने वाले ईश्वर को करीम और रहीम के नाम से सम्बोधित किया जाता है। करम करने वाला करीम और रहम करने वाला रहीम।

तो 'करीमा' पुस्तक के इस पद्य में यही कहा गया है—जिस व्यक्ति ने करम को हासिल किया, अर्थात् संसार के जीवों पर महरबानी की समझो कि उसने अपनी जिन्दगी को सफल बना लिया।

आगे कहा है—

बराये करम दर जहाँ कार नेस्त,
बजाँ गर्मतर हेच बाजार नेस्त।

अर्थात् दया के बिना दुनिया में, कोई काम, काम नहीं है। कार का मतलब है कार्य। तथा कारखाने का अर्थ है कार्य करने का स्थान। तो शेखसादी साहब संसार को कारखाना मानते हैं, जिसमें किये जाने वाले सभी कार्य दयापूर्ण हों।

आगे कहते हैं—इससे बढ़कर कोई गर्म बाजार दूसरे का नहीं है। बाकी सब ठण्डे बाजार हैं। आप जानते ही हैं कि जब तक बाजार गर्म होता है, अर्थात् भाव चढ़े हुए होते हैं, आप उससे कमाई करते हैं और बाजार भाव ठंडा होने पर या मंदा होने पर कुछ भी लाभ नहीं उठाया जा सकता।

तो कवि ने बहुत ही गूढ़ बात कही है कि दया का बाजार गर्म है और इस बाजार से अपने रहम रूपी माल का जो भी लाभ उठा सको उठा लो!

अब मराठी भाषा मे क्या कहा गया है यह देखिये ! इसमे हिंसक या दया हीन मनुष्य को बुरी तरह फटकारा है। कहा है—

धिक् भूमिवरी, जन्म त्याचा खरी,
नाहिं केली जरी, ज्यानें भूत दया।

—जिस मनुष्य के हृदय मे प्राणियो के लिए अनुकम्पा नही है। तथा दूसरो के दुखो को देखकर जिसका हृदय दया से पिघलता नही है, उस मनुष्य को बार-बार धिक्कार है तथा इस पृथ्वी पर उसका जन्म लेना निरर्थक है।

इस प्रकार जैन-धर्म के अलावा अन्य धर्मों मे भी अहिंसा तथा दया को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। भगवद्‌गीता मे दो प्रकार की सम्पत्ति मानी गई है। प्रथम दैवी सम्पत्ति और दूसरी आसुरी सम्पत्ति।

दोनों में अन्तर....।

प्रश्न उठता है कि दैवी सम्पत्ति किसे कहते है तथा आसुरी सम्पत्ति किसे ?

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, सतोष तथा सहनशीलता आदि सद्‌गुण दैवी सम्पत्ति कहलाते है। तथा झूठ, कपट, हिंसा, क्रोध एव कषायादि दुर्गुण आसुरी सपत्ति मे आते है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि दैवी सपत्ति बडी कठिनाई से जुटती है। उसके लिये महान परिश्रम, त्याग और सयम की आवश्यकता पडती है। किन्तु आसुरी सपत्ति अनचाहे और सहज ही इकट्ठी हो जाती है। उदाहरणस्वरूप कोई व्यक्ति किसी राजा, महाराजा या अन्य किसी महान व्यक्ति को अपने घर पर आमन्त्रित करें तो उसे कितनी सफाई, सजावट करनी पडती है ? खान-पान के प्रबध का तो पूछना ही क्या है, वह तो आमत्रण देने वाले रईस की प्रतिष्ठा का माप-दड ही बन जाता है। किन्तु इतना सब करने पर भी हो सकता है कि आमन्त्रित मेहमान किसी कारण-वश न भी आए। प्राय हम देखते है कि बडे-बडे नेता या अन्य महापुरुष अपने आने की स्वीकृति दे देने पर भी नही आ पाते और निमन्त्रण देने वाले व्यक्ति निराश होकर चुपचाप बैठ जाते हैं।

किन्तु आपको मालूम ही होगा कि शहर के कगले और भिखारी तो आपके द्वार पर थोडी सी भी हलचल देखते ही आकर खडे हो जाते है। क्या आप उन्हें कभी निमत्रण देते है ? नही, उन्हे न्योते-निमत्रण की आवश्यकता ही नही रहती। वे तो बिना बुलाये ही आने को तैयार रहते है और आ जाने पर भगाये नही भागते। चाहे उन पर कितने भी कटुवाक्यो और गालियो की बौछार क्यो न की जाय।

बधुओ, आपने समझ लिया होगा कि सद्‌गुण भी उन महान् या बडे आदमियों के सदृश होते हैं, जिन्हे बुलाने की लाख कोशिशे की जाती है तब भी उनका आना सदिग्ध होता है। अर्थात् सद्‌गुणो का या जिसे हम दैवी सम्पत्ति कहते हैं उसका मिलना अत्यन्त कठिन होता है।

किन्तु दुर्गुण जो कि मगते और भिखारियो के समान होते है, मौका पाते ही आ धमकते है तथा प्रयत्न करने पर भी लौटने का नाम नहीं लेते। यही आसुरी सम्पत्ति का सहज ही प्राप्त होना कहलाता है।

सद्‌गुणो की अपेक्षा दुर्गुण शक्तिशाली अधिक होते हैं। हम प्राय देखते भी है कि सहनशीलता, नम्रता या विनय आदि सद्‌गुणो को तो इन्सान तनिक सी भी मान हानि या कष्ट पाते ही त्याग देता है किन्तु क्रोध, कषाय या वैर-भाव पर वह सहज ही काबू नही पाता। कभी-कभी तो ईर्ष्या, द्वेष या वैर-भाव मनुष्य के हृदय पर उसके जीवन-पर्यन्त सिक्का जमाए ही रहते है। परिणाम यह होता है कि उसे न इस लोक मे शाति मिलती है और न उसके बाद भी उसकी आत्मा शाति को प्राप्त होती है।

ऐसे आसुरी सपत्ति के अधिकारी जीव को ही बार-बार चेतावनी दी जाती है —

"किं न पश्यसि दोषममीषाम् तापमत्र नरकं च परत्र ॥"

भावार्थ है—'क्या तू कषायो के इन दोषो को नही देखता है ? कषाय यहाँ पर भी दुःख देते है और मरने पर आत्मा को नरक मे ले जाते है।

कहने का अभिप्राय यही है कि आसुरी भावनाएँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं और वे दैवी भावनाओ पर अपना प्रभुत्व जमाये रखने का प्रयत्न करती है। किन्तु कहा जाता है—'बहुरत्ना वसुन्धरा।' इस पृथ्वी पर कोई-कोई नर पुगव ऐसे भी अवतीर्ण होते है जो आसुरी भावनाओ पर सम्पूर्णतया विजय प्राप्त कर ही लेते है। उन पर कितने भी कष्ट क्यो न आए, कितनी भी कठिनाइयाँ उन्हे क्यो न उठानी पडे, यहाँ तक कि जान पर भी खेल जाने की स्थिति उनके सामने क्यो न आ जाय, वे अपनी दैविक भावनाओ को बेकाबू नही होने देते।

आसुरी भावनाओ के विजेता

सेठ सुदर्शन एक ऐसे ही महापुरुष थे जिन्होने स्वय तो आसुरी भावनाओ पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर ही ली थी साथ ही अपने प्रभाव से महापापी अर्जुनमाली जैसे आसुरी भावनाओ के अधिकारी को भी अपने जैसा बना दिया था।

'अन्तगड सूत्र' मे वर्णन आता है कि जब एक यक्ष ने अर्जुनमाली के शरीर मे प्रवेश कर लिया तो वह नित्य छः पुरुष और एक स्त्री, इस प्रकार सात प्राणियो की हत्या करने लगा।

सम्पूर्ण नगर-निवासी उससे आतंकित थे और नगर से बाहर जाने की हिम्मत नही करते थे। पर जब भगवान महावीर वहाँ पधारे और नगर के बाहर ही उद्यान मे ठहरे तो सुदर्शन सेठ भगवान के दर्शन की आकाक्षा को नही रोक सके। दर्शनार्थ जाने के लिए तैयार होकर उन्होने अपने माता-पिता से जाने की आज्ञा माँगी।

पुत्र की बात सुनकर माता-पिता चौंक पड़े। तथा भय-विह्वल स्वर से बोले—"अर्जुनमाली के डर से राजा श्रेणिक ने तो मुनादी करवादी है कि कोई भी नगर से बाहर न जाय, चाहे कैसा भी जरूरी कार्य क्यो न हो। फिर तुम क्यो मौत के मुँह मे जाना चाहते हो ? तुम्हे भगवान को वन्दन करना है तो यहीं से करलो। भगवान तो सबके मन की बात जानते है।"

पर सुदर्शन सेठ माने नही। कहा—"भगवान तो सबके मन की बात जानते है पिताजी ! पर मुझे तो यहाँ से उनके दर्शन नही हो सकते। किसी दूर-देश मे उनके होने पर तो भाव-वन्दन किया जा सकता है। पर जबकि वे इसी नगर के बाहर विराजमान है तो मुझे यहाँ बैठे-बैठे उनको वन्दन करने से कैसे तृप्ति हो सकती है ? मैं तो उनके दर्शन प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ।"

माता-पिता ने बहुत समझाया और उन्हे रोकने की कोशिश की, किन्तु दृढ विचारो वाले सुदर्शन सेठ माने नही और भगवान के दर्शनार्थ चल दिये।

मार्ग मे उन्होने देखा कि विकराल आँखे किये अर्जुनमाली उन्ही की ओर भागा चला आ रहा है। मुद्गर वाला हाथ उसने ऊँचा उठा रखा है।

कोई साधारण व्यक्ति होता तो अर्जुनमाली की भयावनी शक्ल देखकर ही दम तोड देता। किन्तु दैवी भावनाओ के स्वामी सुदर्शन सेठ उसे देखकर रच-मात्र भी नही घबराए। मन ही मन भगवान को नमस्कार करते हुए बोले "प्रभु ! अगर इस उपसर्ग से बच गया तो आपके प्रत्यक्ष दर्शन करूँगा, अन्यथा यही से वन्दन कर रहा हूँ।"

ऐसी भावना भाते हुए धर्म-परायण सुदर्शन सेठ सागारी सथारा लेकर वही बैठ गए तथा ध्यान मे लीन हो गए।

इतने मे ही अर्जुनमाली दौडता हुआ उनके समीप आया और मुद्गर उठाए हुए ही उन पर झपटा। पर बडे आश्चर्य की बात हुई कि उसका हाथ मे उठाया हुआ मुद्गर नीचे नही गिरा तथा हाथ समेत ही वह ऊपर की ओर ज्यो का त्यो बना रहा। अर्जुनमाली ने सुदर्शन सेठ के मस्तक पर मुद्गर गिराने की बहुत कोशिश की पर नाकामयाब ही रहा।

अन्त मे दैवी भावना ने आसुरी भावना पर विजय प्राप्त की। अर्जुनमाली गश खाकर गिर पडा और यक्ष उसी क्षण उसके शरीर से निकल गया।

ऐसा क्यो हुआ ? क्योकि अगर अर्जुनमाली के पास देव का जोर था तो सुदर्शन श्रावक के पास तो देवाधिदेव का बल था। देवाधिदेव पर जोर कैसे चलता ? जिस प्रकार गवर्नर पर कलैक्टर का, कलैक्टर पर तहसीलदार का और एस पी पर साधारण सिपाही का अधिकार नही चल सकता। उसी प्रकार देवाधिदेव पर देव का भी अधिकर नही हो सकता।

सुदर्शन श्रावक के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा तथा समता दैवी शक्ति है तथा हिंसा आसुरी। पर आसुरी शक्ति कितनी भी अधिक क्यों न हो, अन्त मे तो उसे दैवी शक्ति से परास्त होना ही पडता है।

सुदर्शन सेठ ने अर्जुनमाली को अपनी हत्या करने के लिये दौडकर आते हुए देखा। किन्तु उनके हृदय मे उसके प्रति तनिक भी क्रोध की भावना नही आई। उलटे उनका हृदय अनुकम्पा से भर गया कि इसकी आत्मा पापो के बोझ से कितनी भारी होती जा रही है और इसके कारण इसे कितने कष्ट जन्म-जन्मातरो तक भुगतने पडेंगे।

इन शुद्ध भावो के परिणामस्वरूप ही उन्हें तत्क्षण उपसर्ग से मुक्ति मिल गई और भगवान के दर्शनार्थ उन्हे अकेले नही जाना पडा। अर्जुनमाली भी साथ गया और उसने भगवान से दीक्षा ग्रहण कर अपनी आत्मा का कल्याण किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव के हृदय मे अपने कट्टर दुश्मन या कि अपने हत्यारे के प्रति भी अनुकम्पा की भावना होनी चाहिए। तभी उसे मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष का फल मिलेगा।

दया से होने वाले लाभ

दया का महत्व बताते हुए एक जैनाचार्य सस्कृत मे लिखते है —

> **क्रीडा भू सुकृतस्य दुष्कृतरज सहार वात्या भवो—**
> **दन्वन्नौर्व्यसनाग्नि मेघपटली सकेत दूती श्रियाम्।**
> **नि श्रेणिस्त्रिदिवौकस प्रिय सखी मुक्ते कुगत्यर्गला,**
> **सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषै परै ॥**

आचार्य ने दया के अनेक आश्चर्यजनक लाभ बताए है। इससे सर्वप्रथम तो यह बताया है कि दया सुकृत्यो की क्रीडा भूमि है। अर्थात् इसके विद्यमान रहने पर यही अन्य अनेकानेक पुण्यकार्य किये जा सकते है। जब तक उसमे अन्य शुभ भावनाएँ पनप नही पाती।

दूसरा लाभ बताया है—दया दुष्कृत्य रूपी पापों की रज को उडाकर ले जाने वाली हवा के समान है। जिस प्रकार तेज हवा मिट्टी को उडाकर ले जाती है, उसी प्रकार अनुकम्पा रूपी हवा पाप रूपी मिट्टी को हटा देती है तथा आत्मा को निर्मल बनाती है।

तीसरा लाभ—जन्म-मरण रूपी इस ससार सागर मे दया ही वह नौका है जिसके सहारे से जीव इस समुद्र को पार कर सकता है। प्राणी अपने हृदय मे करुणा और दया की भावनाओ को स्थान देता है उससे कभी भी कुकर्म होना सम्भव नहीं होता और इसी कारण शनै-शनै वह ससार-सागर से पार हो जाता है। अर्थात् जन्म-मरण से छूट जाता है।

दया से चौथा लाभ है—जो व्यक्ति दया अथवा अनुकम्पा की भावनाओ को अपने हृदय मे प्रतिष्ठित करेंगे वे अनेकानेक व्यसनो से भी परे रह सकेंगे। क्योंकि दुर्व्यसनो के कारण अन्य अनेक प्राणियो को दुख पहुँचता है। यथा—चोरी करने से जिसका धन चुराया जाता है, जुए और शराब की लत होने से व्यर्थ धन का व्यय होने पर कुटुम्ब के व्यक्तियो को अर्थाभाव का कष्ट सहन करना पडता है तथा प्राय फाके करने की नौबत भी आ जाती है। दुराचार से पत्नी को मानसिक कष्ट बना रहता है। इसी प्रकार सभी दुर्व्यसन किसी न किसी को पीडा तथा दुख पहुँचाते ही है। श्री अमीऋषि जी महाराज ने अपने एक पद्य मे बताया है कि इन दुर्व्यसनो के कारण किस प्रकार पाण्डव, यादव, रावण तथा ब्रह्मदत्त आदि कुलीन और बडे-बडे राजाओ ने अपने सम्पूर्ण वश का तो नाश किया ही, स्वय भी कुगति मे जा पहुँचे। पद्य मे कहा है —

जूवा खेली पांडवा गमायो राज साज सब,
मांस भखी बकराय नरक सिधायो है।
मदिरा प्रसग सब जादव को नाश भयो,
वेश्या सग धम्मिलकुमार नेह गायो है॥
आखेट तें ब्रह्मदत्त, सत्यघोष ले अदत्त,
परदारा सग दशकध दुख पायो है।
कहे अमीरिख घने कुगति परे हैं तातें,
व्यसन तजन उपदेश बरसायो है॥

पद्य मे दिया गया उपदेश कितना यथार्थ है? वास्तव मे ही जुआ, चोरी, मदिरा, शिकार तथा दुराचार ने जब ऐसे महान् राजा-महाराजाओ को भी कही का न रखा, तो फिर साधारण प्राणी की तो बिसात ही क्या है कि वह इन व्यसनो मे पडा रहकर भी औरो को इनके दुखदायी प्रभाव से बचा सके।

इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य अनुकम्पा को हृदय मे स्थान दे तथा दुर्व्यसन जनित नाना प्रकार के अनर्थों से बचे। अनुकम्पा मे महान् शक्ति है। जैसा कि श्लोक मे कहा गया है—व्यसन-रूपी भयकर अग्नि को भी दयारूप मेघपटल अपनी शीतल व शातिमय वर्षा से शात कर देते हैं।

आगे कहते हैं—श्री का वरण करने के लिये भी दया सकेत रूपी दूती का काम करती है। अभी-अभी हमने श्री अमीऋषि जी महाराज के पद्य से जाना है कि दया हीन तथा दुर्व्यसनी व्यक्तियो का सुख और शाति के साथ-साथ ही लक्ष्मी ने भी परित्याग कर दिया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मी भी उन्ही श्रेष्ठ पुरुषो का वरण करती है, जो सयमी सदाचारी और दयावान होते है। दया-हीन व्यक्ति कभी भी श्री-सम्पन्न नही हो सकता।

दया से अगला लाभ है, सुगति की प्राप्ति होना। हृदय मे दया को धारण करने वाला प्राणी कभी निकृष्ट या निम्न गति मे नही जाता, निश्चय ही वह ऊँचाई की ओर बढता है। इसीलिये कहा गया है कि दया स्वर्ग के लिये एक नसैनी के समान है। जिसके सहारे से जीव ऊपर की ओर बढता है।

इतना ही नही, दया को मोक्ष प्राप्ति का कारण भी माना गया है। दया मानव की आत्मा के लिये एक अन्तरग सखी का काम करती है तथा उसे प्रतिपल सुकृत्य करने की प्रेरणा और सलाह दिया करती है। परिणाम यह होता है कि जीव कभी पथभ्रष्ट नही होता तथा निरन्तर सन्मार्ग पर चलता हुआ अन्त मे मोक्ष-धाम को प्राप्त करता है। इसीलिये दया को श्लोक मे कुगति के महाभयानक और विशाल काय द्वार की अर्गला माना है।

हमारे जैन-शास्त्र इसीलिये बार-बार कहते हैं—

जगत के जीव ताको आतम समान जान,
सुख अभिलाषी सब दुख से डरत हैं।
जाणी इम प्राणी पालो दया हित आणी—
यही मोक्ष की निसाणी जिनवाणी उचरत है।

जिनवाणी क्या कहती है? यही कि जगत के समस्त जीवो को अपनी आत्मा के समान समझो! और यही मानकर कि समस्त प्राणी दुख से डरते है तथा सुख की अभिलाषा रखते है, तुम दया का पालन करो! दयारूपी इस नसैनी के सहारे से ही तुम मुक्ति-महल की ओर चढ सकोगे।

अपने श्लोक मे आचार्य ने दया-पालन से प्राप्त होने वाले कई लाभ बताते हुए अन्त म केवल इतना ही कहा है—'अगर तुमसे और-और धर्म-क्रियाएँ नही हो सकती, नाना प्रकार के उपसर्ग और परीषह सहन नही होते तथा अन्य कडे नियमो का पालन भी नही हो पाता तो उन सबको परे रहने दो, पर एक दया की भावना को दृढता से धारण किये रहो तो भी निश्चय ही तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो जायगा।

सन्त तुलसीदास जी ने भी स्पष्ट और सरल शब्दो मे यही कहा है —

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँडिये, जब लग घट में प्रान॥

सन्त ने दया-पालन पर कितना जोर दिया है? कहा है—जब तक तुम्हारे शरीर म प्राण विद्यमान है, इसका त्याग मत करना, क्योकि धर्म का मूल ही दया है।

वास्तव मे ही दया एक ऐसा अलौकिक गुण है, जिसके प्रभाव से अन्य सभी सद्‌गुण धीरे-धीरे मानव के हृदय मे प्रवेश कर जाते हैं। जैसे चुम्बक लोहे की सभी वस्तुओ को अपनी ओर खीच लेता है, उसी प्रकार एक दया ही अगर चित्त मे बनी

रहे तो वह अन्य सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। तथा मनुष्य-पर्याय को सार्थक बना देती है।

जो व्यक्ति सच्चे हृदय से दया को अपना लेता है वह मरते-मरते भी उसे नहीं छोडता। एक उदाहरण है—

पानी पी लो!

रणक्षेत्र मे दो घायल योद्धा पडे हुए थे। उनमे से एक इगलैड के सुप्रसिद्ध लेखक और वीर सर फिलिप सिडनी थे जो महारानी एलिजाबेथ के शासन काल मे हुई लडाई के समय घायल होकर रणक्षेत्र मे गिर पडे थे, और दूसरा एक साधारण सिपाही था।

सर फिलिप सिडनी की प्यास बुझाने के लिये कुछ सिपाही दौडकर गए और बडी कठिनाई से खोजकर एक प्याले मे थोडा सा जल लाए।

सर फिलिप ने प्याला हाथ मे लिया और पानी पीने का प्रयास करने लगे। किन्तु वे जल पीते उससे पहले ही उनकी दृष्टि समीप ही पडे हुए उस घायल सिपाही पर पडी जो अत्यन्त तृषातुर था तथा एक टक उनके हाथ मे रहे हुए प्याले की ओर देख रहा था।

सिडनी को दया आई। उन्होने विचार किया कि मरना तो हम सभी घायल व्यक्तियो को है। कुछ समय पीछे या पहले। फिर ऐसी हालत मे भी मुझे अगर किसी की सेवा करने का मौका मिल रहा है तो इसमे बढकर सौभाग्य मेरा और क्या हो सकता है।

यह विचार आते ही उन्होने अपने पास पडे उस सिपाही की ओर प्याला बढा कर कहा— "भाई! तुम प्यासे हो, लो यह प्याला, और जल पीकर अपनी प्यास बुझाओ।"

सिपाही सिडनी की दया-भावना से गद्गद् हो गया। बोला —"नही सर! आपको भी तो प्यास लगी है। आप ही इस जल को ग्रहण कीजिये।"

तब सिडनी ने जबर्दस्ती प्याले को सिपाही के हाथो मे थमा दिया। यह कहते हुए—"इस समय पानी की आवश्यकता मुझसे अधिक तुमको है। लो पी लो!"

इस प्रकार दयालु सर फिलिप सिडनी मृत्यु शैय्या पर पडे हुए भी परोपकार से नहीं चुके। स्वय प्यासे रहते हुए भी उन्होंने दूसरे घायल सिपाही को जलप्रदान कर दिया। अपने मुँह मे उसमे से एक बूँद भी नही डाली। दयालुता का इससे बढ़-कर उदाहरण और क्या हो सकता है?

ऐसी दया को जब व्यक्ति अपने हृदय मे प्रतिष्ठित कर लेता है, तभी वह जगत के समस्त प्राणियो मे मैत्री तथा बन्धुभाव को देखता है। उसके अन्तस्तल मे 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का उदार स्वर सदैव ध्वनित होता है। परिणामस्वरूप वह कभी

भी, किसी भी प्राणी को कष्ट-मय अवस्था मे नहीं देख सकता। अपने तन, मन और धन की सम्पूर्ण शक्ति से उसके दुःख व सकट को दूर करने के लिये दौड़ पड़ता है।

राजा मेघरथ का कबूतर के साथ कौनसा रिश्ता था ? कोई नहीं। फिर भी उन्होंने उस कपोत की प्राण-रक्षा के लिये एक-एक करके अपने अगों को काट डाला और तब भी वजन कम होने पर स्वय ही तराजू के पलड़े पर बैठ गए। अनुकम्पा की पवित्र भावना को लेकर अपने प्राणो का भी बलिदान दे देने वाले महापुरुषो को कोटिश प्रणाम है।

पर-दुख कातर ऐसे महापुरुष ही वास्तव मे मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के फलो को सच्चे रूप मे प्राप्त करते है तथा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को सार्थक करने मे सफलता हासिल करते है।

बन्धुओ, आज सत्वानुकम्पा को आपने समझा है। हमारा अगला विषय होगा 'शुभ पात्र दानम्।'

☆

२२

दुर्गति-नाशक दान

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज हमे मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के छ फलो मे से चौथे फल पर विचार करना है। वह चौथा फल है—'शुभपात्र दान।' इसका भावार्थ यही है कि दान शुभ कार्य के लिये दिया जाय तथा योग्य पात्र को दिया जाय।

शुभ-पात्र शब्दों का रहस्य

यद्यपि केवल 'दान' शब्द भी अपने आप मे सम्पूर्ण है और प्रत्येक वह, जो कुछ दिया जाता है दान कहलाता है। किन्तु आचार्य सोमप्रभसूरी ने दान से पहले शुभ पात्र शब्द क्यो जोडे है, हमे इसके रहस्य को भी जान लेना चाहिये।

जिस प्रकार अधेरे मे ढेला फेंकने से निशाना चूकने की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार बिना पात्र की पहचान किये दान देने से भी परिणाम उलटा निकलने की सम्भावना होती है। उदाहरणस्वरूप एक दरिद्र किन्तु सदाचारी विद्वान को दान दिया जाए तो वह उस दान का उपयोग अपनी ज्ञान वृद्धि मे और उसके पश्चात् औरों की ज्ञान-वृद्धि मे करेगा।

किन्तु वही दान अगर एक कसाई को प्राप्त हो गया तो कसाईयों की पूरी एक टुकड़ी को प्रोत्साहन मिल जाएगा। आपको यह सुनकर आश्चर्य हुआ होगा। किन्तु मैं एक पद्य से इसे स्पष्ट कर देता हूँ कि कसाईयों की वह टुकडी कौनसी है ? पद्य में बताया गया है —

प्रथम कसाई पशु मारबे की सला देत,
दूसरो कसाई जो पशु को मारि डारे है।
तीजो अंग न्यारो करे, चौथो मोल लेनेवालो,
पाँचवो कसाई मांस बेचे सो उच्चारे है।

छट्ठो जो पकावे मांस, सातमो परूसे थाल,
आठमो कसाई खावे नरतन हारे है।
मनुस्मृति मे यों अमीरिख मनुजी कहत,
हिंसक कसाई दुष्ट आठों ही हत्यारे हैं।

बन्धुओ, यह पद्य मनुस्मृति के आधार पर प० श्री अमीऋषि जी महाराज ने लिखा है। अर्थात् मनुस्मृति मे आठ प्रकार के कसाई या हत्यारे माने गये हैं।

इसमे पशुओ को मारने की सलाह देने वाले, पशु को मारने वाले, अग-भग करने वाले, खरीदने वाले, तथा माँस बेचने वाले तो कसाई है ही अपितु बडे बडे राजपूत राजा-महाराजा तथा अन्य बडे-बडे घराने और ऊँची जाति के व्यक्ति भी कसाईयो की श्रेणी मे आते है जिनके घर मास पकता है और खाया जाता है।

अब बताइये कितने व्यक्ति आगए इनमे ? एक टुकडी नहीं हुई क्या ? अरे एक टुकडी तो क्या, पूरी एक सेना भी कसाईयो की कही जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। आज के युग मे माँस और मदिरा से परहेज रखने वाले हैं ही कितने ?

तो मैं कह यह रहा था कि आपका दिया हुआ दान अगर धोखे से किसी कसाई के पास पहुँच जाय तो ये आठो प्रकार के कसाई तो महापाप के भागी बनेंगे ही, साथ ही आप भी इनके पाप-कार्य मे मूल कारण बनकर अछूते नही रहेंगे। नौवे कसाई की श्रेणी मे आ जाएँगे।

यही हाल शराबी, जुआरी, दुराचारी अथवा किसी भी अन्य दुर्जन व्यक्ति को दान देने से होता है। ऐसे व्यक्तियो को दान देने से धन का अपव्यय तो होता ही है साथ ही किसी न किसी प्रकार से उलटे कर्म-बन्धन की सभावना बनी रहती है।

श्रीमद्भगवद्गीता मे भी दान के तीन रूप बताए हैं—सात्विकदान, राजस दान तथा तामसिक दान। इनमे से प्रथम कोटि का यानी सात्विक दान ही उत्तम है। शेष दोनो ही प्रकार के दान हीन कोटि के माने जाते है। और जैसा कि मैंने अभी बताया है उनसे लाभ के बजाय हानि की आशका ही बनी रहती है।

आशा है आप लोग अब शुभ पात्र शब्दों का रहस्य समझ गए होंगे तथा अनुभव कर रहे होगे कि सुपात्र को देना, अथवा सत्कार्य मे लगाना ही अपने धन का सदुपयोग करना है। तथा सात्विक दान ही वास्तव म सच्चा दान कहलाता है।

दान का महत्त्व

दान का सीधा और सहज अर्थ लिया जाय तो यही होता है कि किसी को कुछ देना। किन्तु हमारे धर्म शास्त्रो मे इसका कुछ विशेष अर्थ लिया जाता है। धर्म-ग्रन्थो के अनुसार धर्म के चार अग माने गए हैं—दान, शील, तप और भावना। इन चारो मे दान को सर्वश्रेष्ठ तथा प्रथम माना गया है।

धर्ममय जीवन का प्रारम्भ दान से ही माना जाता है। तीर्थंकर भी प्रथम

ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक निरन्तर दान देते है, जिसे वर्षीदान कहा जाता है। दान-क्रिया का प्रारम्भ भगवान ऋषभदेव से प्रारम्भ हुआ है। दान की महिमा अपरम्पार है जिसका शब्दो मे वर्णन नही किया जा सकता। ससार के सभी धर्मों ने दान की महिमा को एक स्वर से स्वीकार किया है। क्योंकि इसके द्वारा आत्मिकगुणो का पूर्ण विकास होता है।

मानव-जीवन की श्रेष्ठता दान-रूप धर्म का आचरण करने मे ही है। ऐसा न होने पर उसमे तथा एक पशु मे कोई भी अन्तर दिखाई नही देगा। उदर-पूर्ति तो पशु भी कर लेते है और मानव भी करे तो उसमें उसकी क्या महत्ता है? इसलिये प्रत्येक ज्ञानवान और विवेकी मानव को इस पशु-वृत्ति से अपने आपको ऊचा उठाकर दान-धर्म को अगीकर करना चाहिए तथा अपने जीवन को सार्थक करना चाहिये।

सद्गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य दान देना ही है। जिस मानव के हृदय मे दान देने की भावना नही होती उसका हृदय बजर भूमि के समान गुणहीन होता है। दान के गुण कहाँ तक गिनाए जायें, एक श्लोक मे कहा गया है —

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोपि बन्धुत्वमुपैति दानै—
र्दानं हि सर्वं व्यसनानि हंति॥

दान से समस्त प्राणी, वश मे हो जाते हैं, दान से चिर शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया व्यक्ति भी अपना हो जाता है तथा अधिक क्या कहा जाय? दान से समस्त विपत्तियो का नाश होता है।

दिया हुआ दान कभी निष्फल नहीं जाता, वह शुभ कर्मों के रूप मे ब्याज सहित पुन मिल जाता है। ज्ञानियो का कथन है —

"ब्याजे स्यात् द्विगुण वित्त, व्यापारे च चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुण प्रोक्त, दानेऽनन्तगुण भवेत्॥"

ब्याज से दुगुना, व्यापार से चौगुना, खेत से शतगुना, किन्तु दान देने से अनन्त गुना लाभ होता है। अन्य व्यवसायो मे तो फिर भी हानि की सभावना रहती है किन्तु दान देने से जो पुण्योपार्जन किया जाता है उसमे कभी टोटा आने की सम्भावना नही होती। इससे साबित होता है कि दान का महत्त्व कितना अधिक है।

दाता की भावना कैसी हो?

अभी हमने दान के महत्त्व को समझा कि दान से अनन्तगुना लाभ होता है। तथा उसमे घाटे की आशका नही रहती। किन्तु एक शर्त उसके साथ अवश्य है कि

दान देते समय देने वाले की भावना पूर्ण-रूप से विशुद्ध हो। दान-दाता के हृदय में दान देते समय किसी भी प्रकार के स्वार्थ-साधन की भावना नहीं होनी चाहिये।

दानदाताओ की सूची मे अपना नाम सबसे ऊपर लिखवाने की इच्छा से कि लोग उन्हे दानी मानें, दान देने से यशवृद्धि हो, याकि सब प्रशसा करें, इन भावनाओ को लेकर दान देने से उसका कोई महत्त्व नही होता।

ईसाईयो के धर्मग्रन्थ बाइबिल मे दान की सच्ची परिभाषा बताई है। कहा है --

"तुम्हारा दायाँ हाथ जो देता हो उसे बायाँ हाथ न जानने पाए।"

कितनी सुन्दर और सच्ची परिभाषा है ? वास्तव मे दान वही कहलाता है जो किसी को दिखाने के लिए न दिया जाय। अपितु किसी अभावग्रस्त या दुःखी प्राणी को देखकर उसका हित करने और उसे सुखी बनाने की इच्छा से दिया जाय। दाता के हृदय मे स्नेह, करुणा, अनुकम्पा और असमर्थ व्यक्ति का दुख दूर करने की भावना होनी चाहिये।

दान की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता देने वाले की भावनाओ पर अवलम्बित होती है। प्रेम तथा भक्तिपूर्वक दी गई वस्तु चाहे वह मूल्यवान हो या सामान्य श्रेष्ठ दान कहलाएगी। कहा भी है --

"दुल्लहाओ मुहादाई, मुहा जीवीवि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइ।"

इस ससार मे निःस्वार्थ भाव से देने वाले और निःस्वार्थ भाव से ही लेने वाले दुर्लभ है। किन्तु अगर देने वाला वास्तव मे ही किसी भी प्रकार के बदले की आशा रखे बिना देता है। और लेने वाला भी केवल सयम निर्वाह के लिए ही निस्वार्थ भाव से लेता है, तो दोनो ही उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

दान का कितना सुन्दर माहात्म्य है ? तथा कितना प्रभाव है ? जो कि देने वाले और लेने वाले, दोनो पर ही समान रूप से पडता है। बशर्ते कि देने वाले का हृदय निस्वार्थी और निष्कपट हो तथा लेने वाला भी ऐसी ही भावनाओ का अधिकारी और सुपात्र हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि दान जीवन को अलकृत करने वाला सबसे बडा आभूषण है जिसके अभाव मे मानव-जीवन असुन्दर और निरर्थक जान पडता है। पर राजा हरिश्चन्द्र और कर्ण जैसे महादानी इस ससार मे बिरले ही होते हैं। एक अनुभवी विद्वान का कथन है —

"शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पंडितः।
वक्ता दश सहस्रेषु, दाता भवति वा न वा॥"

अर्थात्—सैकडों पुरुषो मे से कोई एक व्यक्ति ही शूरवीर निकलता है तथा

हजारो मे से एकाध सच्चा पडित । वक्ता तो दस हजार व्यक्तियो मे से भी मुश्किल से एक निकल पाता है । और दाता का मिलना तो महा मुश्किल है । शायद लाखो या करोडो व्यक्तियो मे ढूंढने जायें तो भी मिले या न मिले । कहा नहीं जा सकता ।

इसीलिये ससार के सभी धर्म पुकार-पुकार कर कहते हैं कि दान दो सच्चे दानी बनो !

शेखसादी अपनी पुस्तक करीमा मे कहते हैं —

सखावत कुनद नेक बख्त इख्तियार,
के मर्द अज सखावत बुवद बख्तियार ।

फारसी भाषा मे सखावत दान को कहते हैं । शेखसादी ने कहा है—'ऐ नेक बख्त ! अच्छे नसीब वाले इन्सान ! अख्तियार कर । अर्थात् दान देना सीख । दीन-दु खियो की तरफ देखकर गरीबो की तरफ देखकर, असहाय बहनो को देखकर तथा निराश्रित बच्चो को देखकर दिल मे रहम पैदा कर तथा देने के लिए हाथ बढ़ा !'

शखावत अथवा दान करने का आग्रह क्यो किया गया है ? इसलिए कि दान देने से ही मनुष्य का नसीब खुलता है दूसरे शब्दो मे पुण्य कर्मों का सचय होता है । आप लोग व्यवसाय मे कम्पनियो या फैक्टरियो के हिस्से (शेयरो) खरीदते है कि भविष्य मे इनसे लाभ होगा । दया तथा दान आदि भी ऐसे ही हिस्से है जिनसे केवल इसी जन्म मे नही, वरन् अनेक जन्मो तक भी लाभ की सम्भावना होती है । पर वह लाभ हो कैसे, जबकि आप प्रयत्न ही न करे । बिना बीज बोये भी कभी फसल लहलहाती है ? नही । फसल पाने के लिए बीज बोना ही पडेगा । इसी प्रकार अगर पुण्य-कर्म रूपी फसल करनी है तो दान रूपी बीज भी जीवन मे बोने पडेंगे ।

आगे कहा गया है —

सखावत बसे ऐबरा कीमियास्त ।
सखावत हमा दर्द हारा दवास्त ॥

शेख सादी साहब ने बडी मार्मिक बात कही है । वे कहते हैं—सखावत यानी दान ऐसी चीज है जो इन्सान के समस्त ऐबों पर पर्दा डाल देता है ।

हम प्राय देखते है कि अनेक सेठ-साहूकार गरीबो का खून चूस-चूसकर धन इकट्ठा करते है तथा उस धन को अपने भोग-विलास, मदिरा-पान या सैर-सपाटे मे उडाते है किन्तु समय-समय पर कोई छोटी-सी रकम भी दान के नाम पर दे देते है तो लोग उन्हें दानी मानकर बडी प्रतिष्ठा प्रदान करते है । इसी को कहते है दान के द्वारा अपने अनेकानेक अवगुणो को ढक देना । शेर मे दूसरी बात यह बताई गई है कि तमाम दर्दों की दवा भी सखावत ही है । दान के अन्दर शारीरिक और मानसिक, सभी प्रकार के दु खो को नष्ट करने की ताकत है । आपके दिल मे प्रश्न खडा हुआ होगा कि यह किस तरह ? क्या दान से बीमारियाँ भी दूर होती है ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि अवश्य होती है ।

आपने सुना होगा और पढा भी होगा कि दान देते समय अगर उत्कृष्ट रसायन आ गई, अर्थात् भावना उत्कृष्ट हो गई तो तीर्थंकर नाम-कर्म-गोत्र का बन्ध हो जाता है। यह चमत्कार नही तो क्या है ? वस्तु साधारण थी। किन्तु भावना के असाधारण होते ही दान देते-देते तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन कर लिया तो उसे भविष्य मे कोई भी रोग, कैसी भी पीडा और किसी भी प्रकार के कष्ट की सम्भावना न रही। शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की वेदनाओ से सदा-सदा के लिए मुक्ति मिल गई।

तो शखावत सभी दर्दों की दवा हो गई या नही ? इसीलिये शेखसादी ने कहा है कि शखावत तमाम दर्दों की दवा है। जो इन्सान इसे समझ लेता है वह ससार के समस्त दु खो से छूट जाता है।

दान की भावना चारो भावनाओ मे श्रेष्ठ है यह मैंने अभी बताया था। दान देने वाले व्यक्ति का हृदय दुखी जीवो की कुछ सहायता कर पाने का मौका मिलने से आत्मसन्तुष्टि का अनुभव करता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने भी कहा है —

"As the purse is emptied the heart is filled"

—विक्टर ह्यूगो

—ज्यो-ज्यो धन की थैली दान मे खाली होती है, दिल भरता जाता है।

अर्थात्—तिजोरी मे से दिया गया रुपया-पैसा उसी क्षण सन्तोष धन के रूप मे अनेक गुना होकर हृदय रूपी खजाने मे आ जाता है।

इसीलिये वेदो मे भी कहा गया है —

"शतहस्तै· समाहर सहस्रहस्तैं सकिर।"

—अथर्ववेद

—सैकडो हाथो से इकट्ठा करो और हजारो हाथो से बाँटो।

अगर व्यक्ति ऐसा नही करता है, यानी धन इकट्ठा तो करता जाता है किन्तु सत्कार्य मे उसे नही लगाता, दान नहीं देता तथा अभावग्रस्त प्राणी के अभाव को दूर नही करता तो वह धन उसके लिए नाना प्रकार के दुखो का कारण बन जाता है।

दान न देने का परिणाम

एक कवि ने अपने श्लोक मे बताया है कि दान न देने से मनुष्य को क्या-क्या हानियाँ उठानी पडती है। श्लोक इस प्रकार है —

लक्ष्मी दायादाश्चत्वार,
धर्म - राजाग्नि - तस्करा।
ज्येष्ठ - पुत्रापमाने न,
त्रय कुप्यंति बांधवा·॥

—लक्ष्मी के चार पुत्र होते है। धर्म, राजा, अग्नि और तस्कर। इनमे से ज्येष्ठ पुत्र का अगर अपमान किया जाय तो अन्य तीनों बन्धु क्रोधित हो जाते हैं।

आप लोगो की समझ मे बात आई नही होगी। आए भी कैसे ? ये कवि लोग बातें ही इस प्रकार करते हैं। सीधी बात करना तो जानते ही नहीं ठीक है न ?

तो कवि के कहने का अर्थ यह है कि धन के अथवा लक्ष्मी के चार पुत्र हैं—धर्म, राजा, अग्नि और चोर। इनमे से अगर पहले का अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र धर्म का अपमान किया जाय तो बाकी सब क्रोधित हो जाते है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि धर्म का अपमान कैसे होता है ?

धर्म का अपमान तब होता है जब मनुष्य—

रीति तजी अनरीति करे जु—
हिताहित बैन नहीं चित धारे।
सत्य असत्य विज्ञान नहीं—
उर धर्म अधर्म समान विचारे॥

अर्थात् जो मनुष्य नीति का त्याग करके अनीतिपूर्ण कार्य करता है। जिनागम तथा महापुरुषो के द्वारा कहे गए हितकारी वचनो का अनादर करता है। सत्य और असत्य के अन्तर को नही समझता तथा अधर्म को ही धर्म मानकर क्रोध, कपट, हिंसा तथा असत्य आदि दुर्गुणो को अपनाकर दान, शील, तप और उत्तम भावनाओं से परे रहता है तो समझना चाहिये कि वह धर्म का अपमान करता है।

दूसरे शब्दो मे परोपकार तथा दान-पुण्य करना ही लक्ष्मी के ज्येष्ट पुत्र धर्म का दूसरा नाम है। जो व्यक्ति लोभ और लालच के वशीभूत होकर केवल धन-सचय करते रहते है। उसे दीन-दुखी और पीडाग्रस्त प्राणियो के लिये खर्च नही करते, यानी दान मे नहीं देते तो धर्म का अपमान होता है और इसके कारण धर्म के अन्य तीन बन्धु कुपित हो जाते हे।

परिणाम यह होता है कि धर्म-कार्य मे व्यय न किये जाने वाले तथा अनीति-पूर्वक अत्यधिक इकट्ठा कर लिये जाने वाले धन को राजा छीनना प्रारम्भ कर देता है।

आज हम देखत है कि सरकार इनकम टैक्स, सैलटैक्स, सुपर टैक्स, वैल्थ टैक्स आदि नाना प्रकार के टैक्स लगाकर अधिक धन इकट्ठा करने वाले लोगो से पैसा छीनती है। अधिक क्या कहा जाय व्यक्ति के मर जाने पर भी मृत्यु-टैक्स लगा कर बचा-खुचा धन लेना नही छोडती। अगर एक करोडपति मर गया तो अपना टैक्स लिये बिना वह लाश को भी उठाने नही देती।

इस प्रकार धर्म-कार्य मे खर्च न करने पर प्रथम तो राजा या सरकार ही धन छीनने का प्रयत्न करती है पर अगर उससे बच जाय तो मौका पाकर लक्ष्मी का

दूसरा पुत्र अग्नि उसे स्वाहा कर देता है। आए दिन सुनने को, अखबारो मे पढ़ने को मिलता है कि अमुक दुकान मे, अमुक फैक्टरी मे या अमुक कारखाने मे आग लग गई और इतना नुकसान हुआ।

अब तस्कर की बारी आती है। चोरो की आँख लोगो के धन पर ही टिकी रहती है। अगर धर्म, राजा और अग्नि से वह बचा रहा तो दाँव लगते ही चोर उसका सफाया कर देते है तथा लक्ष्मी का एक पुत्र होने के नाते वे भी अपना हिस्सा वसूल करते है।

साराश कहने का यही है कि अगर व्यक्ति ने अपने धन को शुभ-कार्यों मे लगाकर धर्म को सतुष्ट नही किया तो राजा, अग्नि और चोर ये तीनो भाई नाराज होकर किसी न किसी प्रकार उसे लूटने का प्रयत्न करेंगे।

इसलिये सर्वश्रेष्ठ उपाय तो यही है कि उसे दानादि धर्म-कृत्यो मे लगाकर पुण्य-फल के रूप मे सचित किया जाय। सत कबीर भी यही बात बहुत पहले कह गए हैं —

जो जल बाढ़े नाव मे, घर मे बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

महापुरुषो की बात चाहे वह कितनी भी सरल और सीधी भाषा मे कही गई हो, मानव के लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद और हितकारी होती है। कबीर का कथन है— अगर नाव मे जल किसी सुराख से अन्दर आकर अधिक मात्रा मे इकट्ठा हो जाय तो बिना विलम्ब किये उसे दोनो हाथो से उलीच देना चाहिए ताकि नाव मे बैठने वालो की रक्षा हो सके।

और इसी प्रकार अगर घर मे प्रचुर धन इकट्ठा हो जाय तो फौरन उसे सत्कार्यों मे खर्च करना प्रारम्भ कर देना चाहिये ताकि धन के कारण जन्म लेने वाले दुर्गुण पनप न पाएँ और आत्मिक गुणो की रक्षा हो सके।

अगर ऐसा नही किया जाएगा अर्थात् द्रव्य को शुभ-कार्य मे न लगाकर मनुष्य उसके सचय मे ही लगा रहेगा तो वह धन उसे कही का न रखेगा।

जीवन की सबसे बड़ी भूल

अधिकाश व्यक्ति ऐसा सोचते है कि जब तक हाथ-पैर चलते है, तब तक धन इकट्ठा कर लें, उसके पश्चात् जब वृद्धावस्था आएगी, इसका मोह छोडकर परलोक की कमाई कर लेंगे।

ऐसा विचार करने वाले बडे भ्रम मे रहते है क्योंकि तृष्णा तो आकाश के समान अनन्त है जो कि कभी भी शात नही होती। एक-एक दिन करके वृद्धावस्था आ जाती है और उसके पश्चात् जीवन की अन्तिम अवस्था भी। किन्तु लोभ की आग कभी बुझ नही पाती वह तो अधिकाधिक प्रज्ज्वलित होती जाती है।

एक उर्दू कवि ने इसीलिये कहा —

मुँह से बस न करते हरगिज खुदा के बंदे।
इन हरीसों को खुदा गर सारी खुदाई देता॥

—लोभियो को अगर ईश्वर सारे जगत की मिल्कियत सौंप दे तब भी ये खुदा के बन्दे मुंह से बस नहीं कहते।

यानी उससे भी अधिक पाने की लालसा करते है। ऐसे पुरुष उस धन के स्वामी नही कहला सकते वरन् धन ही उनका स्वामी कहलाता है। वे अर्थ का उपयोग नही करते किन्तु अर्थ ही उनका उपभोग करता है। वे धन का जितना सचय करते है, उससे कई गुना अधिक उपार्जन करने की आकाक्षा रखते हैं। इस वजह से धन से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता उनके अधिक धन पाने की लालसा से ढक जाती है।

वास्तव मे देखा जाय तो लोभी व्यक्ति अत्यन्त करुणा का पात्र होता है। वह सुख की सामग्री प्राप्त करके भी सुख से सदा वचित ही रहता है। लोभ उसके सभी सुखो का नाश करके केवल दुख, लालसा, तृष्णा जनित सताप और चिन्ता ही उसे देता है। उसका सारा जीवन ही हाय-हाय करते बीतता है। इसीलिये एक कवि उसे चेतावनी देता है —

गर हिरसो-हवा के फदे मे, तू अपनी उमर गवाएगा,
न खाने का फल देखेगा, न पीने का सुख पायेगा।
इक दो गज कपडा तार सिवा कुछ सग न तेरे आएगा,
ऐ लोभी बंदे! लोभ भरे, तू मरकर भी पछताएगा।

वस्तुत लोभी व्यक्ति जिस प्रकार इस लोक मे सुख से वचित रहता है, उसी प्रकार अगले भव मे सुख को प्राप्त नही कर पाता। मृत्युकाल आ जाने पर जब उसे यह लगता है कि यह सारी सम्पत्ति मुझसे छूट रही है, तो उसकी दशा बडी दयनीय हो जाती है और धन पर रही हुई गहरी ममता के कारण मरकर नरकगामी होता है।

भगवद्गीता में बताया भी है —

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत्॥

—नरक के तीन द्वार हैं, जो आत्मा का विनाश करने वाले हैं। वे है— काम, क्रोध और लोभ। अतएव इन तीनो का त्याग कर देना चाहिए।

बधुओ, मेरे कहने का आशय यही है कि मानव को लोभ और लालच का त्याग करके अपने धन को सुकार्यों मे लगाना चाहिये तथा सुपात्र को दान देना चाहिये। क्योकि कुपात्र को दिया हुआ दान भी निरर्थक चला जाता है।

दान तो जल के समान है, जिसे जिधर बहाओ उधर बहने लगता है।

संत तुकाराम जी कहते है—

उदका नेले तिकडे जावे,
सहज केले तैसे व्हावे।
मोहरी कांदा ऊस,
एक वाफा भिन्न रस।

उदक पानी को कहते है। पानी को आप जिधर ले जाएँगे, उधर ही चला जाएगा। जिस वृक्ष की जड मे डालेगे, वैसा ही फल प्रदान करेगा। नींबू को पानी दिया जाय तो नीबू, अनार को पानी दिया जाय तो अनार और नीम को पानी दिया जाय तो निबोली प्राप्त होगी।

एक किसान अपने खेत मे एक ही क्यारी के अन्दर तीन प्रकार की चीजे बोता है। उनके लिये जमीन एक है, कुए का पानी एक है, सींचने वाला एक है, आकाश एक है, हवा एक है। अर्थात् सभी कुछ एकसा है किन्तु बीज अलग-अलग है तो फल भी अलग-अलग तरह के मिलेंगे।

तुकाराम जी ने यही कहा है—एक मोहरी यानी राई का बीज डाला, एक कांदे का और एक गन्ना बोया। इस प्रकार राई मे तीखापन है, प्याज दुर्गंध वाला तथा गन्ना मिठास मय। पानी एक ही पिलाया। किन्तु गन्ना उत्तम, राई मध्यम और कांदा निकृष्ट निकला। अब चाहने पर भी तीनो को एक जैसा उत्तम नही बनाया जा सकता। क्योंकि जैसे बीज बोये वैसा ही फल मिलेगा। दुर्गंध वाले कांदे को लाख प्रयत्न करने पर भी सुगधमय नही बनाया जा सकेगा। कहा भी है —

बड़ा होय सो बडो विचारे, ओछो विचारे वावो।
केसर कस्तूरी मे डाटो, पण बास न छोड़े कांदो॥

भले ही कांदे को गन्ने के साथ एक ही क्यारी मे उगाया है, किन्तु गन्ने की मिठास वह प्राप्त नही कर सकता।

इन उदाहरणो के द्वारा कवि मनुष्य को यही शिक्षा देता है कि अपना पैसा सत्कार्य मे लगाओ, सुपात्र को दान करो। अगर कुपात्र को वह दे दिया गया तो फिर लाख प्रयत्न करने पर भी शुभ परिणाम नही ला सकेगा।

एक भजन मे भी दान का बडा भारी महत्व बताते हुए लोगो को दानी बनने की प्रेरणा दी है। कहा है :—

पुण्य कमाना हो तो प्यारे दानी बनो!
नाम कमाना हो तो प्यारे दानी बनो!
धन दौलत यहां पर रह जासी,
दिया लिया ही संग मे जासी,

यश कमाना हो तो प्यारे दानी बनो !
अनाथ रक्षा विद्यालय मे,
गऊ रक्षा और कन्यालय में,
धर्म कमाना हो तो प्यारे दानी बनो !

कवि कहता है—प्रिय बधुओ, अगर तुम्हे पुण्य कमाना है और अपना नाम अमर करना है तो तुम दान करना सीखो ।

हमने पजाब मे देखा । एक ही भाई एक कॉलेज चला रहे थे तथा सैकड़ों विद्यार्थी उस कॉलेज से ज्ञान-लाभ ले रहे थे । छोटी सादडी मेवाड मे भी गोदावत छगनलाल जी सेठ ने सवा लाख रुपया एक मुस्त गुरुकुल म लगाया तो आज भी चल रहा है तथा उसके द्वारा अनेक बालक अपने जीवन-निर्माण का प्रयत्न कर रहे है । बीकानेर मे भी देखते हैं कि अगरचन्दजी भैरोदान जी सेठिया ने एक साथ तीन लाख, सत्तर हजार रुपया सवत् १९७७ मे निकाला था एक बृहत् पुस्तकालय का निर्माण किया । उस पुस्तकालय मे हजारो पुस्तकें है जो ज्ञान-पिपासु व्यक्तियों की तृषा शान्त करती है । हैदराबाद के श्रीमत राजा बहादुर सुखदेवसहाय जी, ज्वालाप्रसाद जी ने भी लाखो रुपयो का दान देकर शास्त्रोद्धार का महान् कार्य करवाया है । करीब-करीब प्रत्येक स्थानक मे उनके द्वारा पहुँचाए हुए अमूल्य शास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध होते है ।

बधुओ, ऐसा दान ही दान कहलाता है तथा पुण्य कर्मों के बन्धन का कारण बनता है । इसलिए अगर दान करना है तो बडी सावधानी से और शुभ-पात्र मे ही करना चाहिए ।

कवि ने आगे कहा है—यह धन-दौलत तो सब यही रह जाने वाली है । एक कौडी भी साथ नही जायेगी । साथ जाएगा केवल तुम्हारे हाथ से दिए हुए दान का फल । इसलिये अनाथ तथा असहाय प्राणियो की तथा गाय जैसे मूक पशुओ की रक्षा मे अपना धन लगाओ । आज के बालक जो कि भविष्य मे समाज के कर्णधार बनेंगे, उन बालक बालिकाओ की शिक्षा-दीक्षा मे अपना पैसा खर्च करो तभी उससे सच्चा लाभ हासिल हो सकेगा । तथा तुम्हे सही अर्थों मे धर्म-लाभ होगा ।

किन्तु कवि के शब्दों मे एक बात और भी छिपी हुई है । वह यह कि तुम सब कुछ करो पर उसे अपना कर्तव्य समझ कर करो । यह मत समझो कि अगर तुम दीन-दु खियो की सहायता कर रहे हो या अपना पैसा स्कूल, कॉलेज या विद्यालय मे लगा रहे हो तो औरो पर उपकार कर रहे हो । नही, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह तन, मन और धन जैसे भी सक्षम हो, औरो की सहायता करें । क्योकि धन केवल उसी का नही होता जो उसे इकट्ठा कर लेता है, बल्कि उस प्रत्येक व्यक्ति का होता है जिसको धन की जरूरत है । एक पाश्चात्य विद्वान फ्रेंकलिन ने भी कहा है—

"Wealth is not his that has it, but his that enjoys it"

धन उसका नही है, जिसके पास है, बल्कि उसका है जो उसका उपयोग करता है।

एक दाना भी मेरा नहीं है

बहुत समय पहले गुजरात मे एक बार भयकर अकाल पडा। अनावृष्टि के कारण खेतो मे एक दाना भी पैदा न हुआ। लोग भूख से तडप-तडप कर मरने लगे।

देश की यह विषम स्थिति देखकर एक जैन श्रावक जगडूशाह ने गाँव-गाँव मे सदाव्रत खोल दिये और भूखो को अन्न बाँटा जाने लगा।

गुजरात के महाराज ने जगडूशाह के विषय मे यह सब सुना और एक दिन उन्हे सम्मान से अपने राजमहल मे बुलवाया। स्वागत-सत्कार के बाद महाराज ने उनसे कहा—

"सेठजी! आपकी दानवीरता की मैंने बडी भारी प्रशसा सुनी है। साथ ही यह भी सुना है कि आपके यहाँ सैकडो कोठार धान्य से भरे हुए हैं। मैं अपनी प्रजा को जीवित रखने के लिये उस अनाज को खरीदना चाहता हूँ। क्योकि राज्य का अन्न-भडार समाप्त हो गया है। क्या आप उस अनाज को मुझे बेचेगे? मैं आपसे वह जबर्दस्ती लेना नही चाहता, केवल प्रजा की रक्षा के लिए खरीदना चाहता हूँ?

जगडूशाह ने राजा की बात बडे ध्यान से सुनी और फिर उत्तर दिया— "महाराज! आपका प्रजा-प्रेम सराहनीय है। पर मेरे पास जो धान्य के कोठार हैं, उनमे से तो एक दाना भी मेरा नही है, फिर मैं आपको क्या बेचूं?

"तब फिर वह सब किसका है सेठजी?" राजा ने बहुत चकित होकर पूछा।

"आप स्वय ही देख लीजिले।" जगडूशाह ने बडी नम्रता से उत्तर दिया।

यह सुनकर राजा ने सेठजी के धान्य-कोठारो म से एक खुलवाकर देखा तो मालूम हुआ कि उसमे एक ताम्रपत्र रखा है और उस पर खुदा हुआ है—"यह अन्न गरीबो का है।"

बारी-बारी से सभी कोठार खुलवाए गये और सभी मे ऐसे ही ताम्रपत्र निकले।

यह देखकर जगडूशाह की उदारता और दानवीरता के समक्ष महाराज का मस्तक झुक गया। वे कह उठे—"सेठजी, इस देश के वास्तविक राजा आप है, मैं नही।"

"यह आप क्या कहते है महाराज! सच्ची बात तो यह है कि हम सभी एक दूसर के हैं। हमारे पास जो कुछ भी है, उस सब पर देश के प्रत्येक प्राणी का अधिकार है।"

कितने सुन्दर विचार थे जगडूशाह के ? वास्तव मे ही जब प्रत्येक देने वाले की भावना ऐसी हो, तभी उसका दिया हुआ दान सार्थक होता है तथा यश और कीर्ति उसे बिना चाहे प्राप्त होती है। यश और कीर्ति के लिए दिया हुआ दान ये चीजें भले ही दिला दें उस पुण्य-फल को नष्ट कर देता है जो नि स्वार्थ भाव से दान दिये जाने पर प्राप्त होता है।

भजन मे आगे कहा गया है—

फकत अकेला जाना तुम को,
लौट नहीं आना है तुम को,
लाभ कमाना हो तो प्यारे दानी बनो।
बार-बार नहि नरतन पावे,
गया समय वापिस नहि आवे,
भाग्य जगाना हो तो प्यारे दानी बनो।

इस ससार से तुम्हे अकेला ही जाना है। जिस पत्नी, पुत्र, पिता आदि सगे-सम्बन्धियो के लिए तुम रात-दिन परिश्रम करते हो तथा जिनके मोहवशात् अनेक-अनेक कर्मो का बन्धन करते चले जाते हो वह सब कुछ तुम्हारी आँखे मुदते ही छूट जाएगा। एक पद्य मे यही बात बडे सुन्दर ढग से समझाई गई है —

जीवन तन धन भवन न रहि हैं, स्वजन प्राण छूटेंगे,
दुनियां के सम्बन्ध विदाई की बेला टूटेंगे।
यह क्रम चलता रहा आदि से, अब भी चलता भाई!
सयोगो का एक मात्र फल केवल सदा जुदाई।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

कवि की इस चेतावनी से मनुष्य को भली-भाति समझ लेना चाहिये कि उसे यहाँ से अकेला ही जाना है और पुन इस रूप म, अपने परिवार तथा सगे-सम्बन्धियों के बीच मे नही आना है।

क्योंकि मृत्यु के पश्चात् तो अगर पुन मनुष्य भी बन गये तो पराया मानकर तुम्हें कौन अपनाएगा या पशु-योनि प्राप्त करली तो घर भी कैसे घुसने दिया जायेगा ?

वास्तव मे तो यह नर-देह पुन पाना सम्भव ही नही है। इसलिये इसी जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना बुद्धिमानी है। बीता हुआ समय पुन लौटकर नहीं आता। अत इस अल्प-काल मे ही आत्म-कल्याण का प्रयत्न कर लेना चाहिए और उसका सबसे सीधा मार्ग है नि स्वार्थ भाव से दान देना। जो व्यक्ति इस प्रकार का दान देगा, उसका भाग्य निश्चय ही जाग जाएगा।

दान की महिमा अपरम्पार है। जो व्यक्ति इस बात की सत्यता को सही रूप मे समझ लेते हैं उनके हृदय स्वत ही भोग-विलास तथा लोभ-लालच से दूर

मानते हैं। वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि आत्मा का वास्तविक धन तो चैतन्य है, और उसी के विकास तथा तथा सचय मे आत्मा का कल्याण है।

आत्म कल्याण के इच्छुक प्राणी अपने मन और इन्द्रियो पर भी पूर्णतया काबू रखते है। वे जानते है कि कोई भी पाप इन सबकी सहायता के बिना नही होता। इस विषय मे सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक टॉलस्टॉय ने एक बडा सुन्दर रूपक लिखा है। वह इस प्रकार है —

पापी कौन है।

एक बार मनुष्य के शरीर और आत्मा मे बहस छिड गई। दोनो एक दूसरे को बुरा भला कहने लगे। शरीर मारे क्रोध के तमक कर बोला—

"मैं तो जड हूँ मिट्टी का पिण्ड। मोह और आसक्ति पैदा करने वाली वस्तुओ को देख भी नही सकता। फिर भला मै पाप कैसे कर सकता हूँ?

शरीर की इस बात पर आत्मा को भी क्रोध आ गया। आग-बबूला होकर बोली—'मेरे पास तो पाप करने के साधन नही है, मैं पाप कैसे कर सकती हूँ? इन्द्रियो के बिना भी कोई कार्य हो सकता है क्या? जब भगवान ने शरीर और आत्मा की ये बाते सुनी तो वे मुसकरा दिय और बोले—"लडना बेकार है। क्योकि तुम दोनो ही बराबर के जिम्मेदार हो! शरीर के कन्धो पर जब आत्मा आ बैठती है, तब दोनो के सहकार से ही पाप का जन्म होता है।"

भगवान की इस बात को सुनकर दोनो ही खामोश हो गये?

बन्धुओ, इस उदाहरण के रहस्य को आप समझ गए होगे कि अगर मानव पापो का जन्म नही होने देना चाहता है, अर्थात् पाप-कर्मों के बन्ध से बचना चाहता है तो उसे अपने मन, वचन तथा शरीर, इन तीनो ही योगो को पूर्णतया विशुद्ध रखना होगा। ऐसा नही हो सकता कि मुँह से तो वह भजन-कीर्तन करे और मन से अपने वैरी का अनिष्ट चाहता रहे। या कि हाथो से दान देता रहे और काल्पनिक आँखो से दाताओ की लिस्ट मे अपना नाम पढता रहे अथवा वाह-वाह! या प्रशसा के स्वरो को सुनता रहे।

इन सब स्वार्थमय भावनाओ को छोडकर ही जब वह दान-धर्म की आराधना करेगा तो इस लोक मे यश और परलोक मे अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकेगा। ☆

२३

गुणानुराग ही मुक्ति-मार्ग है

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के छः फल बताए गए है। जिनमे से पहला जिनेन्द्र पूजा, दूसरा गुरु की सेवा, तीसरा प्राणी मात्र पर दया करना और चौथा है सत्-पात्र को दान देना। इन चारो का वर्णन पिछले चार दिनो मे किया गया है। आज पाँचवाँ फल जो कि गुणानुराग है, उस पर विचार करना है। गुणानुराग का अर्थ है—गुणो को देखकर प्रेम भाव उत्पन्न होना तथा हृदय मे प्रसन्नता का भाव आना।

गुण भी और अवगुण भी

प्राय देखा जाता है कि ससार मे जितने भी प्राणी या पदार्थ हैं सभी मे गुण तथा अवगुण दोनो ही होते हैं। सभी गुणवान हो, ऐसा नही होता तथा सभी निर्गुणी हो यह भी नही होता। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ मे जहाँ कुछ गुण मिलते है, वहा कुछ न कुछ अवगुण भी पाए जाते है। सक्षेप मे न एक ही स्थान पर केवल गुणो का ही भडार होता है, और न एक ही स्थान पर अवगुणो का समूह। एक श्लोक मे इसी बात की पुष्टि सुन्दर उदाहरणो के साथ की गई है। कहा है —

> यत्रास्ति लक्ष्मीर्विनयो न तत्र
> ह्यभ्यागतो यत्र न तत्र लक्ष्मी।
> उभौ च तौ यत्र न तत्र विद्या,
> नैकत्र सर्वो गुणसंनिपात ॥

—जहाँ लक्ष्मी रहती है वहा नम्रता नही है, और जहा अतिथि सत्कार की भावना होती है लक्ष्मी नही रहती। और जहा दोनो है वहाँ विद्या का ही अभाव रहता है, अत यह निश्चित है कि एक स्थान पर सब गुण समूह नही रहते।

पदार्थों की दृष्टि से देखा जाय तब भी यही बात है। गुलाब के फूल के साथ काँटे होते हैं और कमल कीचड मे रहता है। कस्तूरी जीवन-दायिनी होते हुए भी

काले रंग की होती है तथा किंपाक-फल सुन्दर होते हुए भी प्राण-नाश का कारण बनता है।

इस प्रकार सृष्टि के समस्त प्राणी और पदार्थ जहाँ कुछ गुण रखते है, वहाँ अवगुणो को भी छिपाये रहते है। किन्तु इस साधारण नियम के अपवाद स्वरूप एक स्थान ऐसा भी है जहाँ समस्त गुण ही गुण है, अवगुण एक भी नही। आपके हृदय मे जानने की उत्सुकता होगी कि कौन सा है वह स्थान जहाँ केवल गुण ही गुण है, अवगुणो का नाम भी नही है।

—सर्वगुण सम्पन्न कौन ?

सर्वगुण सम्पन्न केवल तीर्थंकर ही होते है, जिनमे एक भी अवगुण नही होता। भक्तामर स्तोत्र मे श्री मानतुंगाचार्य भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए एक श्लोक मे कहते है—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त - विविधाश्रयजात गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।

—हे भगवन। आप अनन्त गुणो के धारक है। ससार मे जितने भी गुण हैं, वे सम्पूर्ण गुण आप मे आश्रित हैं। पर समस्त गुण आपके आश्रय मे है इसमे भी आश्चर्य की कोई बात नही है। क्योंकि उन गुणो को एक साथ रहने के लिये अन्यत्र कोई स्थान ही नहीं है।

देखिये, कवि के कहने का ढंग भी कितना सुन्दर है कि—समस्त गुण आपके आश्रय मे है। अर्थात और कोई भी व्यक्ति ऐसे महान गुणो को अपने पास रखने की क्षमता नही रखता। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने घर मे हाथी नही बाँध सकता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य समस्त गुणो के समूह को अपने आश्रय मे नही रख सकता। यानी सर्वगुण सम्पन्न नहीं बन सकता। समस्त गुणधारी महान् और अवतारी पुरुष तो विरले ही हो सकते है जैसे तीर्थंकर प्रभु। उनके अलावा और कौन व्यक्ति अहिंसा, क्षमा, दया, अनुकम्पा सरलता, तप, त्याग तथा संयमादि अगणित गुणो का अपने मे समावेश कर सकता है ?

श्लोक मे आगे कहा गया है—

दोषैरुपात्त-विविधाश्रयजात गर्वै ,
स्वप्नान्तरेपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।

हे भगवन् ! ससार के समस्त गुणो ने तो एक साथ रहने का स्थान अन्यत्र न पाकर तुम्हारे अन्दर ही प्रवेश किया। किन्तु अवगुणों ने सहज ही विविध जनो का आश्रय पाकर वही अपना अड्डा जमा लिया। तथा अपने उन क्षुद्र स्थानो को

पाकर ही घमण्ड मे ऐसे चूर हुए कि स्वप्न मे भी तुम्हारे पास आने की कोशिश नही की।

दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि लोमडी के समान अगूर खट्टे हैं, यह कहकर अवगुण दूर से ही चलते बने और अपने लिये उपयुक्त स्थानो पर ऐसे जा छिपे कि पुन कभी आपके समीप आने का उन्हे साहस ही न हुआ। स्वप्न मे भी उन्हें आपकी ओर निहारने की हिम्मत नहीं पडी।

कुछ भी हो, निष्कर्ष यही है कि ससार के अन्य प्राणियो मे गुण और अवगुण कम या अधिक मात्रा मे सभी के पास होते है, किन्तु भगवान के पास दोषो का काम नही है। वे समस्त दोष-रहित तथा सम्पूर्ण गुण-सहित होते है।

गुणानुराग

जिन व्यक्तियो का गुणो के प्रति अनुराग होता है, वे दूसरो के गुणो को देखकर प्रमुदित होते हैं। दानी पुरुष को देखकर उसकी सहायता करते हैं। तपस्वी को देखकर मन मे श्रद्धा का भाव लाते है। शीलवान के प्रति अपना मस्तक झुकाते है तथा सयमी पुरुष के लिए हृदय मे पूज्य भावना रखते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति मे जो भी गुण होता है, उसके लिये वे महान् आदर का भाव रखते है। गुणानुरागी व्यक्ति सदा यही भावना रखता है —

गुणी जनो को देख हृदय मे,
मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा—
करके यह मन सुख पावे॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित,
दृष्टि न दोषो पर जावे॥

कितनी सुन्दर भावना है कि— गुणीजनो को देखकर मेरा मन खुशी से भर जाय। भले ही मुझ मे गुणो का अभाव हो। त्याग और तपस्या आदि मुझसे न हो पाएँ, और धन के अभाव मे दान का लाभ भी न उठा सकूँ। पर मैं चाहता हूँ कि गुणज्ञ पुरुषो की सेवा अपनी शक्ति के अनुसार करूँ तथा उससे ही मन मे असीम प्रसन्नता का अनुभव करूँ।

कबहूँ मन गगना चढ़े, कबहूँ गिरे पताल।
कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ आवे चाल॥

पर मन की गति विचित्र होती है—

इसलिये आशकित होता हुआ कवि प्रार्थना करता है—हे प्रभु! मेरे मन को सदा दृढ़ बनाये रखना ताकि मैं कभी भी गुणीजनो के प्रति कृतघ्न न बन जाऊँ, मेरे

मन मे कभी उनके प्रति द्रोह और द्वेष की भावना न आ जाय। मेरी तुमसे यही प्रार्थना है कि मेरे हृदय मे सदा गुण-ग्राहकता का भाव बनाये रखना तथा मेरी दृष्टि किसी के भी दोषो की ओर मत जाने देना।

पाश्चात्य विद्वान एमर्सन का कथन है—

"Every man I need is my superior in some way In that I learn of him

प्रत्येक मनुष्य जिससे मैं मिलता हूँ किसी न किसी रीति मे मुझसे श्रेष्ठ होता है। इसलिए मैं उससे शिक्षा लेता हूँ।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो जिज्ञासा होती है कि एक विद्वान को ऐसा सोचने की क्या आवश्यकता है ? वह स्वय भी तो बुद्धिमान और ज्ञानवान है। उसे अन्य प्रत्येक व्यक्ति से क्या लेना है ? पर नही, ससार मे गुण अनन्त है और एक व्यक्ति यह समझे कि मैं अपनी तीव्र बुद्धि से पढ-लिखकर ज्ञानी बन गया, अब मुझे और कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नही है। तो यह उसकी भूल है। प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति मे भी कोई न कोई गुण अवश्य होता है।

गुणग्राही बादशाह

हजरत इब्राहीम बलख के बादशाह थे। एक बार उन्होंने एक गुलाम खरीदा और अपनी स्वाभाविक उदारतापूर्वक उससे पूछा—

"तेरा नाम क्या है ?"
"जिस नाम से हुजूर मुझे पुकारें।"
"तू खायेगा क्या ?"
"जो आप खिलाये।"
"तुझे कपडे कैसे पसन्द है ?"
"जो आप पहना दें।"
"अच्छा तू काम क्या करेगा ?"—हजरत ने फिर पूछा !
"जो आप कराएँ।"
"तू क्या चाहता है ?"
"हुजूर ! गुलाम की चाह क्या ? जो आपकी इच्छा हो वही मेरी चाह है।"

यह सुनते ही बादशाह तख्त से उतर पडे और बोले—"तुम मेरे उस्ताद हो। आज तुमने मुझे बता दिया कि अल्लाह की भक्ति कैसे की जानी चाहिए।"

बन्धुओ, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि गुणग्राही व्यक्ति किस प्रकार गुणो का सचय किया करते है। अपनी गुणग्राहकता के कारण एक बादशाह ने भी अपने खरीदे हुए गुलाम से भक्ति कैसे की जाय यह सीख लिया।

इतना ही नहीं, सच्चे गुणग्राही पुरुष तो पूर्ण निर्गुणी से भी शिक्षा लेने से नहीं चूकते।

एक बार लुकमान हकीम से किसी व्यक्ति ने पूछा—"आपने तमीज किससे सीखी ?"

लुकमान ने सहज भाव मे उत्तर दिया—"बदतमीजो से।"

"वह कैसे ?" व्यक्ति ने साश्चर्य प्रश्न किया।

"क्योकि मैने उन लोगो मे जो कुछ बुरी बाते देखी उनसे परहेज किया।"

उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिस व्यक्ति की वास्तव मे ही गुण-दृष्टि होती है वह बुराइयो मे से भी अच्छाइयाँ खोज लेते है। पर ऐसे महापुरुष तो क्वचित् ही मिलते हैं। साधारणतया तो हम इससे उलटा ही देखते हैं।

उलटी जग की रीति

आपने प्राय सुना होगा, जवासिया एक छोटा सा झाड होता है। वर्षा ऋतु मे, जबकि सारी पृथ्वी हरी-भरी हो जाती है, वह सूख जाता है। और जब ग्रीष्म ऋतु आती है तथा धरती पर के सभी लहलहाते वृक्ष सूखने लगते हैं, उनके पत्ते झडने हैं तब वह हरा-भरा हो जाता है, फूल आ जाता है। अर्थात् पृथ्वी पर के फले-फूले और हरे-भरे वृक्षो को वह नही देख सकता तथा ईर्ष्या की आग के मारे स्वय ही सूख जाता है। पर जब अन्य वृक्ष सूख चलते है तो उसे इतनी खुशी होती है कि स्वय ही लहलहा उठता है।'

यही हाल इन्सान का भी है। ससार मे बहुत कम ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो औरो की उन्नति को देखकर सच्ची खुशी का अनुभव करते होगे। एक सुभाषित मे कहा गया है —

> नागुणी गुणिन वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी।
> गुणी च गुणरागी च, दुर्लभ सरलो जन ॥

इसका अर्थ है —अवगुणी व्यक्ति गुणवानो को नही जान सकता। यानी जिसमे स्वय ही गुण नहीं है वह गुणियो की परख कैसे कर सकता है ? गुणवानो को तो गुणवान ही पहचान सकते हैं।

किन्तु दुख की बात यह है कि गुणवान जो होते है वे गुणवानो को जानकर भी उनका आदर नहीं करते। तथा उनकी सराहना करने के बदले उलटा मत्सर भाव रखते है। एक विद्वान दूसरे विद्वान को देखकर ईर्ष्या करता है और एक श्रीमत दूसरे श्रीमत की धन-वृद्धि से जलता है। तो यह उलटी रीति ही हुई न ?

अरे भाई ! जब तुम्हारे पास भी लाखो की सम्पत्ति है तो तुम्हें दूसरो की धन-वृद्धि से क्यो जलन होती है ? और जब कि तुम स्वय भी विद्वान हो तथा औरो के द्वारा प्रशसा-प्राप्त व्यक्ति हो तो तुम्हे दूसरो की बढती हुई कीर्ति से नफरत क्यों ?

इससे तो साबित होता है कि तुम सच्चे अर्थों मे गुणवान या विद्वान् नहीं हो। केवल विद्वत्ता का बाना पहने हुए ईर्ष्यालु व्यक्ति हो। तथा तुम्हे गुणवान कहना ही गुणो का अपमान करना है।

इसीलिये श्लोक मे आगे कहा है —

सच्चे गुणी और गुणानुरागी मनुष्य मिलना बडा दुर्लभ है। ये दोनो चीजें एक ही स्थान पर नही मिल सकती। व्यक्ति स्वय गुणवान् हो तथा दूसरो के गुणो को देखकर आतरिक प्रसन्नता का अनुभव करता हो तो उससे बढकर अच्छाई और क्या हो सकती है ?

छिद्रान्वेषण मत करो

कविकुल-भूषण पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज अपने एक कवित्त के द्वारा प्राणी को सदुपदेश देते हैं कि तू औरो की निंदा मतकर, औरो के दोष मत देख ! अगर देखना ही है तो अपने स्वय के दोष देख ! जिससे आत्म-शुद्धि हो सके। काव्य इस प्रकार है —

> छिद्र पर देख निंदा करे केम, छोड के छिद्र सुगुण लहीजे।
> बबूल देख के काँटा ग्रहे मत, छाया ते शीतल होय सहीजे ॥
> तुच्छ असार आहार है धेनु को क्षीर विगय तामे सार कहीजे।
> तिलोक कहत स्वछिद्र को टालत, काहे को अन्य का छिद्र ग्रहीजे ॥

कहा गया है 'हे प्राणी ! तू दूसरो का छिद्रान्वेषण क्यो करता है ? पर दोष-दर्शन करके उनकी निन्दा करने से तुझे कौन सा लाभ होने वाला है ? कोई नही, अत दूसरो के दोष देखना छोडकर उनमे जो गुण है केवल उन्हे ही ग्रहण करना सीख।'

'बबूल का पेड तेरे समक्ष है तो क्या यह आवश्यक है तू उसमे से काँटे ग्रहण करे ही ? नही, काँटो का छूने की आवश्यकता नही है। असह्य धूप है, पैरो मे जूते नही हैं, तथा पास मे कोई अन्य वृक्ष नहीं है तो दो घडी तू बबूल की छाया मे बैठकर विश्राम कर। शूल दरख्त पर है तो रहने दे। छाया मे तो शूल नही है ? तू केवल छाया को ही क्यो नही देखता ? काँटो को किसलिए देखे जा रहा है ? बबूल के शूल-रूपी छिद्रो को देखने से मुझे क्या लाभ है ? और न देखे तो कौन सी हानि है ? फिर व्यर्थ का कार्य करना ही किसलिये ? उसे न करना ही अच्छा है।' यह तो अज्ञानी व्यक्तियो का कार्य है कि —

> दोष पराया देखि के, चले हसत हसत।
> अपने याद न आवई, जिनका आदि न अत ॥

अर्थात्—दूसरे मे तो अगर एक भी दोष दिखाई दे जाय तो व्यक्ति हँसने लगता है तथा प्रसन्न होता है किन्तु अपने उन दोषो को नही देखता जिनकी कोई गिनती ही नही है। यानी न जिनकी आदि है और न अन्त ही।

इसीलिये कवि श्री तिलोकऋषि जी महाराज का कथन है कि तू ऐसा उलटा काम कर ही मत। दूसरे के अवगुणो को देख-देखकर अपने अवगुणो मे वृद्धि मत कर।

एक गाय है। वह घास खाती है तथा कभी-कभी मलिन पदार्थ भी ग्रहण कर लेती है। किन्तु उससे तुझे क्या मतलब है ? गाय क्या खाती है, और क्या नही इसकी चिन्ता छोडकर तुझे तो केवल उसका दूध, दही, मक्खन और घी आदि सार पदार्थ ही ग्रहण करना है।

अन्त मे कहा गया है—'अरे अज्ञानी ! अगर तुझे दोष ही देखने हैं तो औरो के क्यो देखता है ? अपने ही क्यो नही देखता ! औरो के दोष देखने से आखिर तुझे क्या लाभ होगा ? अपने स्वय के देख लेगा तो कुछ आत्म-सुधार तो कर सकेगा ! इसलिये उचित यही है कि अपने आप मे झाँक, आत्मनिरीक्षण कर। जिन्होने ऐसा किया है, उनका कहना भी है —

बुरा जो देखन मे चला, बुरा न दीखा कोय।
जो घट सोधा आपना, मो सम बुरा न कोय।।

वस्तुत सच्चे महापुरुष अपना ही दोष-दर्शन करते है।

गनीमत है

कहते हैं कि सन्त उसमान हैरी किसी रास्ते मे जा रहे थे। कुछ दूर चलने के बाद एक मकान की खिडकी से किसी ने बिना देखे ही थाली भर राख नीचे फेंक दी।

राख हैरी के मस्तक पर गिरी। पर उन्होने बिना इधर-उधर देखे हुए हाथो से राख झडाई और हाथ जोडकर ऊपर की ओर देखते हुए बोले—

"दयामय प्रभु ! तुझे लाख-लाख धन्यवाद !"

यह सब देखकर एक व्यक्ति ने जो कि उनमे कुछ दूर पर ही खडा था, पूछा--"महात्मन् ! इसमे भगवान को धन्यवाद देने की क्या बात है ?"

उसमान हैरी मुस्कराते हुए बोले—"भाई, मैं तो आग मे जलाये जाने लायक हूं। लेकिन उस मेहरबान ईश्वर ने मुझे राख से ही निपटा दिया।"

सच्चे महापुरुष ऐसे ही होते है। आज के व्यक्तियो मे इतनी सहन-शीलता तथा ईश्वर के प्रति ऐसा अटूट विश्वास कहाँ पाया जाता है ? आप लोगो मे से किसी के साथ अगर ऐसी घटना घट जाती तो क्या होता जानते है ? उस गली मे ही

महाभारत खडा हो जाता । तथा गाली-गलौज की बौछार होने लगती । उस अवसर पर प्रभु का स्मरण करना किसी को याद आता क्या ? नही, उल्टे कटु-वाक्यो के आविष्कार का प्रयत्न किया जाता । ऐसा क्यो होता ? क्योकि आपकी दृष्टि दोष-दृष्टि होती है । दूसरे के अपराध पर ही झटपट निगाह जा सकती है ।

आपकी चतुराइ मे तो कोई कमी है नही ! अनाज खरीदने के लिये अगर आप बाजार जाते है तो भले ही निन्यानवे दाने गेहूँ के अच्छे हो पर एक भी दाना घुना हुआ हो तो फौरन आपकी दृष्टि उसे पकड लेती है । दाने सभी तो सडे हुए नही थे एक ही खराब था । पर उन सबको छोडकर आपने सडे हुए को ही क्यो देखा ? क्योकि बुराई जल्दी दिखाई देती है अच्छाई नही । अवगुण शीघ्र मिल जाते है, गुणो को खोजना पडता है ।

गुणो का महत्त्व

गुण अपने आप मे सम्पूर्ण होते है । उनमे कोई दोष नही होता जिसे हटाने की आवश्यकता होती हो तथा कोई अभाव नही होता, जिसे पूरा करने की जरूरत पडती हो । इसलिये उन्हे किसी की सिफारिश की आवश्यकता नही होती । अपने पद से ही वे सब स्थानो पर आदर प्राप्त कर लेते है । कहा भी है —

गुणा सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवशो निरर्थक ।
वासुदेव नमस्यति, वसुदेव न ते जना ।।

गुणो का ही सर्वत्र सम्मान होता है पिता के वश का नहीं । लोग वासुदेव (कृष्ण) की ही वन्दना करत है, उनके पिता वसुदेव की नही ।

गुणी व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या गरीब छोटा हो या बडा अपने गुणो के कारण ही प्रत्येक स्थान पर सम्मान प्राप्त करता है ।

चावल के पांच दाने

'ज्ञाता धर्म कथा सूत्र' मे गण का महत्व बताते हुए एक उदाहरण दिया गया है—धन्ना सेठ के चार पुत्र-वधुएँ थी । "चारो बहुओ मे से कौनसी बहू मेरे घर का भार सभालने लायक है इसकी परीक्षा की जाय ।" यह विचार एक दिन सेठजी के मन मे आया और उन्होने चारो को अपने पास बुलाया ।

जब चारो वधुएँ उपस्थित हो गई तो उन्होने प्रत्येक को शालि के पाँच-पाँच दाने दिये और कहा—"जब मैं इन्हे मांगू तो मुझे वापिस देना ।"

चारो अपने-अपने हाथो मे चावल के वे पाँच-पाँच एक सरीखे दाने लेकर अन्दर गई पर सबके हृदय मे भावनाएँ अलग-अलग प्रकार की पैदा हुई ।

बडी बहू ने सोचा—'ससुर सठिया गए हैं शायद, जो घर मे हीरे, पन्ने, मोती, माणिक तथा अतुल धन-राशि के होते हुए भी बहुओ को चावल के दाने देने बैठे ।

ऊपर से तुर्रा यह कि मांगने पर पुन लौटाना होगा।' मारे क्रोध और तिरस्कार के उसने उन चावलो को फेक दिया। मन मे कहा—"जब मागेंगे भडार भरे पडे है पाँच दाने लाकर दे दूँगी।'

दूसरी बहू ने विचार किया—'अब इन्हे कहाँ सम्भाल कर रखूँ ? गुम-गुमा जाएँगे। चलो, बडो की दी हुई चीज है तो प्रसाद के समान ही है, खा ही जाऊँ।' और उसने वे दाने खा लिये।

तीसरे नम्बर की बहू ने सोचा—'मुझे ससुर की आज्ञा का पालन करना चाहिए। उन्होने जब इन्हे सभाल कर रखने के लिये ही दिये है तो सुरक्षित स्थान पर रख लेती हूँ जब मागेंगे तो उनके दाने लौटा दूँगी।' और उसने पाचो दानो को तिजोरी मे अपने आभूषणो के साथ रख दिया।

चौथी बहू सबसे छोटी, पर बडी बुद्धिमान थी। उसने विचार किया—पिताजी ने आज जो पाँच-पाँच चावल के दाने दिये है वे क्या यों ही दिये होगे ? क्या घर के कर्णधार बहुओ से मजाक करेंगे ? नही, जरूर ही इन दानो के दिये जाने के पीछे कोई रहस्य है। उनके मन मे कोई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छिपा हुआ है। अत बहुत सोच-विचार कर उसने चावल के उन दानो को अपने पीहर भेज दिया और कहलाया कि जब तक मैं इन्हे वापिस न मगवाऊँ तब तक इन्हें पुनः-पुन बीज समझकर बोया जाय।

धीरे-धीरे समय बीत चला और कई वर्ष बाद अचानक सेठजी ने चारो बहुओ से अपने दिये हुए चावलो की माँग की।

पहली और दूसरी, दोनो ने भडार म मे दाने लाकर दे दिये। तीसरी ने तिजोरी में से लाकर दिये और सबसे छोटी बहू ने चावल के दानो के लिये अपने पीहर गाडिया भेजी।

धन्ना सेठ की परीक्षा हो चुकी। उन्होने दाने फैंक देने वाली बडी बहू को घर की झाडू-बुहारी करने का काम सोपा। दाने खा जाने वाली बहू को खाना बनाने के लिये रसोई का कार्य दिया। सभाल कर रख लेने वाली तीसरी बहू को सम्पत्ति का रक्षण करने के लिए भडार की चाबियाँ प्रदान की और सबसे छोटी बहू, जिसने दानो की वृद्धि की थी, इसे सम्पूर्ण घर का उत्तर-दायित्व समला दिया।

ऐसा सेठजी ने क्यो किया ? केवल गुणो की परख कर लेन के कारण। इस उदाहरण से साबित हो जाता है कि गुणो का ही सम्मान व आदर होता है, चाहे वे बडे मे हो या छोटे मे, पुरुष मे हो या स्त्री मे। कहा भी है —

"गुणा पूजास्थान गुणिषु न च लिग न च वयः।"

पूजा का स्थान केवल गुण ही है। उम्र अथवा लिग नही।

एक वृद्ध भी, अगर उसमे गुण नही हैं तो किसी के सम्मान का पात्र नही बन सकता, जितना कि एक गुणवान युवक। और एक निर्गुणी पुरुष सम्मान नही पा सकता, जितना कि एक गुणवती नारी। गुणो की दृष्टि से पुरुष और स्त्री मे कोई भेद नही माना जाता।

उदाहरणस्वरूप हम सभी प्रातःकाल के समय मे सोलह सतियो के नाम लेते है, उनका स्मरण करते है। आप पुरुष है, श्रावक है, और हम साधु। फिर हम सतियो के नाम लेने की क्या जरूरत है? क्यो हम उनको स्मरण और वन्दन करके अपने हृदय मे प्रसन्नता और सन्तुष्टि का अनुभव करते है।

केवल इसलिये कि उनमे शील, सयम और तपादि महान् गुण थे। उनके गुणो का ही स्मरण किया जाता है और उनके गुणो को ही नमस्कार सब करते है। पुरुष और स्त्री की देह तो नश्वर है किन्तु गुण सदा अमर रहने वाले है। देह मरती है गुण नहीं मरते।

सक्षेप मे प्राणी अपने गुण से महान् बनते है। वैभव-शाली, वृद्ध पुरुष या ऊँची-ऊँची पदविया प्राप्त कर कुर्सी धारी बन जाने से नही। कहा भी गया है —

गुणैरुत्तमतां यान्ति, नोच्चैरासनसस्थितै।
प्रासादशिखरस्थोऽपि, काक किं गरुडायते॥

—चाणक्य

अर्थात्—गुणो से ही मनुष्य महान होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नही। महल के ऊँचे शिखर पर बैठने से भी कौआ गरुड नही हो सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि महत्त्व केवल गुणो का होता है लिंग या वय का नही। हम श्रमणो मे तो अगर एक व्यक्ति तीस या चालीस वर्ष का भी हो पर गुणवान और योग्य न हो तो उसे दीक्षा का अधिकारी नही माना जाता किन्तु अगर एक बालक कुशाग्र बुद्धि, नम्र और गुणवान हो तो उसे साढे आठ वर्ष की उम्र के पश्चात ही दीक्षा दी जा सकती है। ऐसा शास्त्र कहते है।

आप की सरकार का तो नियम है कि अठारह वर्ष की उम्र होने पर नौकरी मे ले लेना और तीस वर्ष अथवा जो भी समय नियत किया गया हो उसके पश्चात् रिटायर कर देना। सरकारी नौकरी मे केवल डिगरियो को देखा जाता है, वहाँ आत्मिक गुणो से कोई मतलब नहीं। वे व्यक्ति मे हो चाहे नही।

पर हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। पात्र अगर योग्य है, उसमे उत्तम गुणो का निवास है तो साढे आठ वर्ष की उम्र मे साठ वर्ष की उम्र तक भी वह दीक्षा ले सकता है। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यहा रिटायर होने का काम ही नही है। जीवन के अन्त तक भी वह सुख-शांति और अपनी शारीरिक योग्यता के

अनुसार सयम का पालन करे, कर्मों की निर्जरा करता हुआ सुगति प्राप्ति का प्रयत्न करें इसकी सम्पूर्णतया छूट है।

गुणो का गर्व मत करो !

बन्धुओ, अभी मैंने गुणो का महत्त्व आपको बताया है, और यह भी बताया है कि गुणो की सर्वत्र पूजा होती है। पर साथ ही यह भी बताना आवश्यक है कि मनुष्य गुणो के साथ ही साथ कही गर्व का भी सचय न करले। अन्यथा उसके समस्त गुणों पर पानी फिर जाएगा।

आचार्य चाणक्य का कथन है —

परस्तुत गुणो यस्तु, निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति, स्वय प्रख्यापितै गुणै ॥

जिस गुण का दूसरे लोग वर्णन करते हे उससे निर्गुण भी गुणवान होता है। किन्तु अपनी प्रशसा स्वय करने पर तो इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है।

समझने की बात है कि एक गुणहीन व्यक्ति जिसके पास न धन है, न विद्या। न उसम त्याग करने की क्षमता है और न ही तपस्या करने की शक्ति। अर्थात् कोई भी गुण उसमे नहीं है। किन्तु अगर उसका हृदय गुणीजनो को देखकर प्रफुल्लता से भर जाता है, अपने सर्वान्त करण से वह गुणियो की प्रशसा करता है और उनके गुणो की सराहना करते नही थकता, तो ससार उसे भी महापुरुष मानता है तथा गुणवान की सज्ञा देता है।

किन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति सयम, तप, त्याग और दानादि अनेक गुणो का धारक होता है, वह भी अगर अपने गुणो का अहकार करे तो उसके सब गुण निष्फल हो जाते है। आत्म-प्रशसा सर्वप्रथम विनय गुण का और उसके पश्चात् अन्य गुणो का नाश करती है।

अभी मैंने कहा था कि गुणो को किसी की सिफारिश की आवश्यकता नही होती। कस्तूरी म सुगन्ध है। इस बात को सौगन्ध खाकर कहने की क्या आवश्यकता है ? उसकी सुगन्ध तो स्वयमेव ही चारो ओर फैल जाती है और लोग उसे पहचान लेते हैं। एक फारसी भाषा के कवि ने कहा है —

मुश्क आनस्त कि खुद बबोयद।
न आंकि अत्तार बगोयद ॥

अर्थात्—सुगन्ध वह है जो अपने आप फैले, न कि जिसका वर्णन अत्तार यानी गाँधी करे।

जिस प्रकार सुगन्ध छिपी नही रह सकती उसी प्रकार सद्गुण भी छिपे नहीं रहते। इसलिये वाणी के द्वारा उनके प्रकाशन की आवश्यकता नही होती।

पर जो व्यक्ति ऐसा करत है, समझना चाहिए कि वे स्वय अपने पैरो मे कुल्हाडी मारते हैं।

रावण, कौरव और कस क्या सर्वथा गुण-हीन थे ? नही, वे अनेक गुणो के धारक तथा धनुर्विद्या-धारी शक्ति-सम्पन्न योद्धा थे। किन्तु फिर भी उनका पतन और कुल-नाश हो गया। यह क्यो ? केवल इसलिये कि उन्हे अपने गुणो का गर्व था। यह अवगुण ही उनके समूल-नाश का कारण बना तथा सदा के लिये कलकित भी बना गया। एक अँग्रेजी की कहावत है—

"Pride goes before, and shame follows after"

—पहल गर्व चलता है और उसके बाद कलक आता है। इसीलिये कबीर ने कहा है —

कबिरा गर्व न कीजिये, कबहुँ न हँसिये कोय।
अबहुँ नाव समुद्र में, को जाने का होय।।

कितनी सच्ची शिक्षा है कि— 'किसी अन्य के अवगुणो को देखकर कभी उसका उपहास मत करो तथा अपने गुणो का गर्व मत करो। अभी तो स्वय तुम्हारी जीवन-नौका भी ससार-सागर के मध्य मे ही है। कौन जानता है कि पार उतरोगे या नही।"

वस्तुत सच्चा गुणवान वही है जो अपने आप मे सदा कमियाँ देखता है।

गुरु लाना

कहा जाना है कि यूनान का राजा सिकदर जब भारत-विजय की अकाक्षा से रवाना हुआ तो उसने अपन गुरु 'अरस्तु' से पूछा—"आपके लिये भारत से क्या लाऊँ ?"

अरस्तु बोल—"मेरे लिये वहाँ स ऐसा गुरु लाना जो मुझे ब्रह्मज्ञान दे सके।"

यह अरस्तु का उत्तर था जो कि स्वय महाज्ञानी और गुरु-पद पर प्रतिष्ठित थ। फिर भी उन्होने अपने आप म कमी महसूस की तथा अपन शिष्य सिकन्दर से गुरु लाने की ख्वाहिश प्रकट की।

गुणवानो का सच्चा लक्षण यही है कि वे अपने आप म उच्चता नही, वरन् लघुता महसूस करत ह। और उनकी लघुता की भावना ही उनकी महत्ता का प्रतीक होती है।

जो भव्य प्राणी इस प्रकार अपनी अहकार-रूप दुर्बलता का त्याग कर देते है, वे ही इस लोक मे प्रशसा और परलोक मे कल्याण के भाजन बनते है।

इसलिये बन्धुओ, हमे अपनी बुद्धि और विवेक को जागृत करते हुए अनन्त

पुण्यो के उदय से प्राप्त होने वाले इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए। और यह तभी हो सकेगा जबकि हम गुणानुरागी बनेंगे।

अगर हममे, प्रत्येक अन्य प्राणी के छोटे से छोटे गुण को भी ग्रहण कर लेने की लालसा बनी रहेगी तो एक दिन ऐसा अवश्य आएगा कि ससार के समस्त सद्‌गुण हमारे हृदय मे निवास करने को आतुर बनेंगे। दूसरे शब्दो मे मनुष्य-जन्म-रूपी वृक्ष का पाँचवाँ फल गुणानुराग एक दिन हमे वह क्षमता प्रदान कर देगा कि उसके बल पर हम मोक्ष पथ की समस्त कठिनाइयो को पार कर सकेंगे।

समय हो चुका है तथा आप भी मनुष्य-जन्म-रूपी वृक्ष के पाँचवें फल 'गुणानुराग' पर काफी सुन चुके है। अब इसके छठे फल 'शास्त्र श्रवण' पर कल विचार किया जायेगा। ☆

२४ | सर्वस्य लोचनं शास्त्र...

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष के छ फल आचार्य श्री सोमप्रभसूरी ने अपने एक श्लोक मे बताये है। उनमे से पाँच फलो का वर्णन आपके सामने हो चुका है। आज छठे 'शास्त्र-श्रवण' पर आपके सामने कुछ कहना है।

शास्त्र-श्रवण मानव जीवन को उन्नत बनाने का सर्वोत्तम साधन है। जब तक मनुष्य शास्त्र-श्रवण नही करता तब तक उसे यह मालूम नही पडता कि उसके लिए हेय क्या है और उपादेय क्या है ? अर्थात् उसके लिए छोडने योग्य क्या है, और ग्रहण करने योग्य क्या है ?

शास्त्र का महत्त्व बताते हुए कहा भी है--

"सर्वस्य लोचन शास्त्र, यस्य नास्यध एव स ।

अर्थात् शास्त्र सबके लिए नेत्र के समान है जिसे शास्त्र का ज्ञान नही, वह अन्धा है।

मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओ से जगत के समस्त दृश्यमान पदार्थों को देखता है किन्तु शास्त्र-श्रवण से जो उसके ज्ञान-नेत्र खुलते है, उनके द्वारा वह अपनी आत्मा को देखता है तथा आत्मिक गुणो की पहचान करता है। इसलिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि व्यक्ति जहाँ तक भी बन सके, शास्त्र-श्रवण करे।

शास्त्र-श्रवण किसलिये ?

अगर व्यक्ति धर्मशास्त्र सुनता है तो उसका चित्त एक अनिर्वचनीय सतुष्टि और प्रसन्नता से भर जाता है। हृदय मे रहे हुए पापपूर्ण एव कलुषित विचार नष्ट होते जाते है तथा उनके स्थान पर पवित्र एव शातिदायक विचार जन्म ले लेते है।

शास्त्र-श्रवण का मन पर बडा गहरा असर पडता है। भले ही कभी-कभी

उनकी भाषा समझ मे न आये किन्तु एक अवर्णनीय सन्तुष्टि मन पर इस प्रकार छा जाती है कि मानस शुद्ध और पवित्र बनने लगता है।

जिस प्रकार एक मत्रवादी सर्प के विष को उतारने का मत्र पढता है तो जिस व्यक्ति को सर्प ने काटा है, उसकी समझ मे मत्र की भाषा और उसका अर्थ नही आता। किन्तु तब भी उसका मन भय-रहित तथा आशापूर्ण हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप वह विष-रहित होने लगता है।

इसी प्रकार शास्त्रों की भाषा कभी समझ मे नही भी आती है, तब भी मनुष्य का मन एक नैसर्गिक पवित्रता के प्रकाश से भर जाता है और उसके फल-स्वरूप पाप की कालिमा धीरे-धीरे मिटने लगती है।

इसलिए शास्त्र-श्रवण प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार पौष्टिक भोजन से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म श्रवण से आत्मा को बल मिलता है। एक भजन मे कहा गया है—

एक वचन जो सत्गुरु केरो,
जो राखे दिल माय रे प्राणी।
नीच गति मे ते नहि जावे,
इम भाखे जिनराय रे प्राणी।

भजन शास्त्रानुकूल, पारमार्थिक एव अत्यन्त तात्विक है। भले ही इसकी भाषा सरल और सीधी है किन्तु शास्त्र-सम्मत है। मूल पाठ मे भी आता है—

"एगमवि आयरिय धम्मिय सुवयण सोच्चा।"

जो एक वाक्य भी भगवान के वचनो म से सुन लेता है वह नीच गति मे नही जाता। कवि ने भी कह दिया है कि अगर एक वचन भी सतगुरु का सुनकर हृदय मे धारण करले तो वह प्राणी निकृष्ट गति मे नही जाता ऐसा जिनराज का कथन है।

एक बात और कही गई है कि सत्गुरु के वचन को जो दिल मे रखले अर्थात् उसे ग्रहण करले तो वह कुगति म नही जाता। सुनने का सार भी यही है कि उसे ग्रहण किया जाय। भले ही व्यक्ति प्रतिदिन का सुना हुआ सभी याद न रख सके पर दो शब्द, या दो वाक्य भी वह हृदयगम करले तो धीरे-धीरे हृदय मे ज्ञान का उज्ज्वल आलोक जरूर प्रसारित होगा। एक न एक दिन आत्मा के द्वार खुलेंगे तथा उसमे धर्म का प्रवेश होकर रहेगा।

इसीलिये महापुरुषो के द्वारा पुन-पुन कहा जाता है कि शास्त्र के वचनो पर विश्वास रखना चाहिए तथा शास्त्र की आज्ञाओ का पालन करना चाहिए। चाहे साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जो भी शास्त्र के आदेशो के अनुसार चलता है वही अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। अन्यथा तो सारी रात पानी

बरसने पर जहाँ मिट्टी गद्‌गद् हो जाती है, पत्थर कोरा का कोरा ही रहता है। इसी प्रकार जीवन भर धर्मोपदेश सुनने पर भी मानव की आत्मा पूर्ववत मलिन बनी रहती है। तथा मानव की आकृति में पशु के समान ही प्राणी अपना जीवन-यापन करता है। वह यह नही समझ पाता कि —

"धर्मार्थकाममोक्षाणाम् मूलमुक्त कलेवर।"

—धर्मकल्पद्रुम

—धर्म का, धन का, विविध इच्छाओं का और मोक्ष का साधन यह शरीर ही है।

शरीर से लाभ कैसे लिया जाय ?

वस्तुत इस शरीर और इन्द्रियो का लाभ वही मनुष्य ले सकता है जो इनका सदुपयोग करे। एक श्लोक मे कहा गया है —

करे श्लाघ्यस्त्याग शिरसि गुरुपाद प्रणमनम्।
मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगत च श्रवणयो ॥
हृदि स्वच्छावृत्तिर्विजयि भुजयो पौरुषमहो।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मडनमिदम् ॥

कहा गया है—अगर हमे अपने शरीर के लिये हाथो की प्राप्ति हुई है तो इनसे दान करो। हाथो की शोभा दान करने से बढती है, ककण पहनने से नही। आभूषण तो ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हैं किन्तु दान सद्‌गुणो का प्रतीक माना जाता है।

इसी प्रकार अगर हमे मस्तक मिला है तो माता-पिता, गुरु तथा गुरुजनो के समक्ष झुकाकर उसकी भी शोभा बढाओ! बडो के चरणो मे नमन करने से ही मस्तक की सार्थकता है। आज के युग म माता-पिता, गुरु या किसी भी बडे के चरणो मे मस्तक झुकाने का तो जैसे रिवाज ही नही रहा है।

हमारे पास बच्चे आते है। हम कभी उनसे पूछ भी लेते है—"क्यो भाई, माता-पिता को प्रणाम करते हो ?"

बच्चे उत्तर मे गर्दन हिलाकर नकारात्मक उत्तर दे देते हैं। अगर हम उनसे पुन प्रश्न करते है—"क्यो नही करते ?" तो वे यही उत्तर देते है—"हमे शर्म आती है।"

कितने दुख की बात है ? छोटे-छोटे बालक भी बडो को प्रणाम करने मे शर्म का अनुभव करते है। पर आगे जाकर इसका परिणाम क्या होगा, आप जानते हैं ? यही कि जो मस्तक बाल्यावस्था मे माता-पिता के समक्ष नही झुका वह स्कूलो और कालेजो मे अपने शिक्षको के सामने कब झुकेगा। कभी नही झुकेगा, तथा अहकार से तनी हुई गर्दन के साथ वे अपने गुरुओ से वाद-विवाद करेंगे तथा उन्हे बुरी-भली कहेगे।

किन्तु अगर निष्पक्षता से विचार किया जाय तो दोष आज के बालकों का नही है, वरन स्वय उनके माता-पिता का ही है। अगर वे चाहें तो अपने भोले-भाले बच्चों में प्रारम्भ से ही बडो के समक्ष मस्तक नवाने की आदत डाल सकते है। यह किस प्रकार ? चलिये यह भी मैं ही बतादूं। बात यह है कि बालक कहा हुआ करने की बजाय, देखा हुआ जल्दी करते हैं। अगर वे अपने माता-पिता को, अर्थात् आप लोगो को अपने से बडो के सम्मुख मस्तक झुकाते हुए देखें तो निश्चय ही आपको बिना कहे अपना मस्तक आपके चरणो मे रखने लगेंगे। तथा बाल्यावस्था मे पडे हुए इस उत्तम सस्कार को अपने जीवन मे नही निकालेगे।

शास्त्रो मे हम देखते है कि बडे-बडे राजा भी अपने माता-पिता के दर्शन नियमित रूप से किया करते थे। तथा प्रात काल दर्शन करने के उपरान्त ही अन्य कार्य प्रारम्भ करते थे। माता का महत्त्व बताते हुए कहा भी है —

"शिशो शुश्रूषणाच्छक्तिनिर्माता स्यात् माननाच्च सा।"

— स्कन्दपुराण

शिशु की शुश्रूषा करने से माता को शक्ति, और सदा सन्मान देने के कारण उसे माता कहते है।

वास्तव मे माता के बलिदानो का बदला कोई-भी पुत्र नही चुका सकता, चाहे वह भूमण्डल का स्वामी ही क्यो न हो। माँ के ममत्व की एक बूँद भी अमृत के सागर से अधिक मीठी होती है।

एक पाश्चात्य विद्वान 'कोलरिज' ने भी अपनी कविता मे लिखा है —

"A mother is a mother still, The holist thing alive"

—माता माता ही है, जो जीवित वस्तुओ मे सबसे पवित्र है।

बन्धुओ, माता के समान पिता की सेवा का भी बडा भारी महत्त्व बताते हुए रामायण मे कहा गया है —

न सत्य दानमानौ वा
न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः।
तथा बलकरा सीते !
यथा सेवा पितुर्हिता॥

—वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड

—हे सीता ! पिता की सेवा करना जिस प्रकार कल्याणकारी माना गया है, वैसा प्रबल साधन न सत्य है, न दान सम्मान है और न प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि माता-पिता की सेवा, भक्ति तथा सम्मान करने से बढ़कर अन्य कोई भी धर्म या शुभ-कृत्य नहीं है। इसीलिये वासुदेव के अवतार

पुरुषोत्तम कृष्ण अपनी माता को नमस्कार करते थे ऐसा अन्तगडसूत्र मे आता है। ज्ञातासूत्र तथा निरियावलिका मे भी मूल पाठ है कि मत्री अभयकुमार जैसे बुद्धि के धनी पुरुष भी अपने पिता महाराज श्रेणिक को वदन करने आया करते थे। तथा रघुकुल शिरोमणि राम की कथा तो आज जगत प्रसिद्ध ही है, जिन्होने पिता के वचन की रक्षा के लिये चौदह वर्ष तक वन मे घोर कष्ट सहन किये। उदाहरण कहाँ तक दिये जायें ? बालक श्रवण को आज भी हम याद करते है और कल की दुनिया भी इसी प्रकार गद्गद् होकर स्मरण करेगी, जिसने अपने अधे माता-पिता को कधे पर रखी हुई डोली मे बैठाकर तीर्थयात्रा कराई थी।

बालक आज भी वैसे ही होते है और उन्हे जन्म देने वाले माता-पिता भी। पर कमी केवल सस्कारो की होती है। अत मेरा आप लोगो से यही कहना है कि अपने माता-पिता गुरु व गुरुजनो की भक्ति तथा सेवा का आप स्वय आदर्श उपस्थित करें। ताकि आपके बालक बिना आपके सिखाय ही नम्रता का पाठ पढे तथा बडो के समक्ष नत होकर अपने उत्तमाग की शोभा बढाएँ।

श्लोक मे आगे जबान की शोभा के विषय म बताया गया है कि जबान की शोभा सत्य बोलने मे है। हमारे आज के भाई पान क बीडे खाकर मुँह लाल करने मे, फिल्मी गीत गाने मे या बेसिर पैर की हाँककर लोगो को प्रभावित करने मे ही इसकी शोभा मानते हैं। तथा इससे आगे बढते है तो असत्य-भाषण कर औरो को बेवकूफ बनाते हुए किसी न किसी प्रकार अपना उल्लू सीधा करने मे ही अपनी जबान की चतुराई समझते है।

वे भूल जाते है कि असत्य को वचनो का बल प्रदान करके जितना ऊँचा उठाया जाता है, उतनी ही ग्लानि, उतना ही पाप रूपी कीचड और उतना ही अनाचार उसके नीचे इकट्ठा हो जाता है।

सिक्खो के धर्मशास्त्र मे कहा है —

"कहे नानक जिन सच तजिया,
कूडे लागे उनीं जन्म जुए हारिया।"

—रामकली मोह ३ अनन्द

गुरु नानक कहते है कि जिन लोगो ने सत्य को त्याग कर असत्य को अपना लिया, उन्होने मानो अपना जन्म ही जुए मे हार दिया।

और सत्य कितना महान होता है यह शेखसादी ने बताया है :—

"रास्ती मूजिब रजाए खुदास्त,
कस न दीदम कि गुम शुद अजराहे रास्त।"

—अर्थात् सत्य ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है। मैंने सत्य के मार्ग पर चलने वाले को कभी पथभ्रष्ट होते नही देखा।

इसलिये प्रत्येक मानव को असत्य का त्याग करके सत्य भाषण से ही अपनी जिह्वा को पवित्र बनाना चाहिए। यह कभी नही भूलना चाहिए कि आत्म-कल्याण के जितने भी साधन हैं, वे सब सत्य मे ही निहित हैं। हमारे जैन-शास्त्रों मे स्पष्ट कहा है —

"जे विय लोगंमि अपरिसेसा मन्तजोगा जवा य विज्जा य जंभकाय अत्थाणिय सिक्खाओय आगमाय सव्वाणि वि ताइ सच्चे पइट्ठिआइ।"

—प्रश्नव्याकरण, २-२४

भावार्थ है—इस लोक मे जितने भी मन्त्र, योग, जप, विद्याएँ जृम्भक, अर्थ-शास्त्र, शिक्षाएँ और आगम हैं, वे सभी सत्य पर आश्रित हैं। इन सबका मूल आधार सत्य है।

सत्य महान पराक्रमशाली और प्रचडशक्तिमान होता है। जिस प्रकार भुवनभास्कर सूर्य के उदित होते ही तिमिर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के प्रकाशित होते ही असत्य अस्तित्वहीन बन जाता है।

सत्य की शक्ति

एक महात्मा किसी भगी से छू गए। इस पर अत्यन्त क्रोधित होकर चिल्लाए—

"तू अन्धा है क्या ? देखकर नहीं चलता ? अब मुझे पुन स्नान करने के लिए नदी पर जाना पडेगा।"

भगी नम्रतापूर्वक बोला —"भगवन् ! स्नान तो मुझे भी करना पडेगा।"

"तुझे क्यो स्नान करना पडेगा ?" सन्त चकराये।

"इसलिये कि क्रोध मुझ से भी अधिक अपवित्र और चाडाल के सदृश है। आपके अन्दर प्रवेश करके उसने मुझे स्पर्श किया है अत मुझे भी नहाना होगा।"

सन्त यह सुनकर बडे शर्मिन्दा हुए और उन्होने भगी से क्षमा मागी।

यह सत्य की ही शक्ति थी, जिसने भगी की जबान पर आकर भी एक सत को अपने समक्ष झुका लिया। सत्य की आराधना करने वाला व्यक्ति ससार की किसी भी शक्ति से भयभीत नही होता तथा अनादि काल से चल रही अपनी इस विराट यात्रा का चरम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह अपनी जिह्वा के द्वारा सदा सत्य भाषण करे तथा सत्यालकार से उसे अलकृत करे।

श्लोक मे अगली बात यह बताई गई है कि मानव को अगर कान मिले हैं तो उनसे वह शास्त्र-श्रवण करे। शास्त्र-श्रवण ही हमारा आज का मुख्य विषय है। शास्त्र-श्रवण करना ही कानो का सदुपयोग करना है और उन्हें शोभित करना है।

हम अनेक पुरुषों को और प्राय समस्त नारियो को कानों मे कुछ न कुछ पहन कर उसकी शोभा बढाते हुए देखते हैं। पर क्या कानो मे हीरे के लौंग या कर्णफूल पहन लेने से ही उनके सौन्दर्य मे अभिवृद्धि हो जाती है ? नहीं। एक सस्कृत के विद्वान ने कहा है —

"श्रोत्र श्रुतेनैव न कुडलेन"

श्रोत्र यानी कान। इन कानो का होना कैसे सार्थक होता है, तथा इनकी शोभा कब बढती है ? जबकि शास्त्र के वचन कानो मे पहुँचे, तथा शास्त्रो की वाणी इन्हे अलकृत करे। कानो मे कुण्डल पहनने से, मुरकी और बालियाँ पहनने से इनकी शोभा नही बढ़ती। कान का सच्चा आभूषण शास्त्र-श्रवण करना है इसी से इनकी शोभा बढती है।

लोग इधर-उधर की बाते खूब रुचि से सुनते है। दूसरो की निन्दा कही हो रही हो, तो भी अपने कान उसी तरफ कर लेते ह किन्तु जहाँ शास्त्र का वाचन हो रहा हो तो आँखें बचाकर भागने की कोशिश करते हैं। उसमे उन्हे रस नही आता। पर ऐसा करना उनकी महान् भूल है। शास्त्र को माता के समान माना गया है। आपके सुनने मे या पढने मे 'प्रवचन-माता' शब्द अवश्य ही आया होगा। प्रवचन का अर्थशास्त्रो के वचन ही होता है। तो माता का दूध जिस प्रकार ससार के समस्त खाद्य पदार्थों की अपेक्षा शरीर की पुष्टि के लिए उत्तम माना गया है, उसी प्रकार शास्त्र-वचन आत्मिक गुणो के विकास और पुष्टि के लिए अन्य समस्त साधनो की अपेक्षा उत्तम होते है। अत शास्त्र-श्रवण करना प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी के लिए आवश्यक है।

श्लोक मे अगली बात बताई है कि अन्त करण की शोभा शुद्ध आचरण मे है। अगर मनुष्य का आचरण सुन्दर नही है तो उसके शरीर की तथा वस्त्रो की जो उपरी सुन्दरता है वह निरर्थक है। 'बाह्य सुन्दरता से आत्मा का तनिक भी लाभ होने वाला नही है। आत्मा का उत्थान केवल हृदय की पवित्रता-रूप सुन्दरता से ही हो सकता है। हृदय मे अगर पापो का कचरा है, और कषायो की कालिमा है तो मनुष्य कितनी भी धर्म-क्रिया करे, मदिरो और मसजिदो मे जाये अथवा तीर्थों मे भटकता फिरे उसमे कोई लाभ नही होता।

मुस्लिम जाति मे मक्के की हज्ज अर्थात्—यात्रा का बडा भारी महत्त्व माना जाता है। किन्तु शेखसादी कहते है —

"दिलबदस्त आवर कि हज्जे अकबर अस्त।
अज हजारा काबा मक बिल बेहतर अस्त॥"

यानी—अपने हृदय को वश मे कर। क्योकि यही एक महान् हज्ज है। अपने हृदय पर विजय प्राप्त करना हजार हज्जो मे भी बेहतर है।

महर्षि वेदव्यास जी का भी यह कथन है —

"तीर्थानां हृदय तीर्थं शुचीनां हृदय शुचिः ।"

तीर्थों मे श्रेष्ठ तीर्थ हृदय है, पवित्र वस्तुओ से अति पवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है ।

कहने का सार यही है कि हृदय की शुद्धता ही समस्त धर्म-क्रियाओं तथा तीर्थयात्राओं से श्रेष्ठ है । अगर मनुष्य का हृदय सरलता, पवित्रता तथा पर-दुख-कातरता मे परिपूर्ण है तो उसे अन्यत्र कही भी जाने की आवश्यकता नही है । पर अगर ऐसा नही है, अर्थात् उसके अन्त करण मे स्वच्छता नही है तो लाख-धर्म-क्रियाएँ करने पर भी उसकी आत्मा का कल्याण होना सम्भव नही है । एक कवि के उद्गार मुझे याद आ रहे है —

कैसे हो कल्याण करणी काली है ।
नहीं होगा भुगतान हुण्डी जाली है ।।

मनुष्य की इस आत्मा का उद्धार होना कैसे शक्य है, जबकि उसकी करनी कषायादि की कालिमा से काली हो चुकी है ।

कवि ने बडा मनोरजक दृष्टात दिया है—जैसे किसी व्यक्ति ने एक जाली हुण्डी दूसरे को भेज दी । वह व्यक्ति अगर उस हुण्डी का भुगतान करने के लिए जाए तो क्या कोई व्यापारी उसे लेने को तैयार होगा ? नही, पक्का व्यापारी उसमे भेजने वाले के हस्ताक्षरो की जाँच करेगा, तारीख देखेगा तथा उसमे जो कुछ लिखा हुआ है वह ठीक है या नही, इस बात पर भी गौर करेगा तथा सन्तोष न होने पर कोरी ही लौटा देगा । कपट-जाल मे होशियार व्यापारी नही फसेगा ।

इसी प्रकार मनुष्य की धर्म-क्रियाएँ अगर बनावटी है तथा केवल दिखावे के लिये ही की गई है तो उनका फल जाली हुण्डी के समान शून्य ही होगा ।

आगे कहा गया है ,—

तू तन का काला धब्बा, धोता ले फौरन पानी ।
तेरे मन पर कितने काले, धब्बो की पडी निशानी,
क्यो न निहारी है, नहीं होगा भुगतान हुण्डी जाली है ।

—'तेरे शरीर के किसी हिस्से पर तो थोडा-सा भी धब्बा, दाग का कीचड लग जाता है तो तू फौरन उसे साबुन से मल-मलकर धोने लगता है । पर कभी यह भी देखता है कि काम, क्रोध, मद, मत्सर मोह तथा दभ आदि के कितने धब्बे तेरे मन पर लगे हुए है ? उन्हे कभी क्यो नहीं देखता ?'

तेरा बिगडा पडा है इजिन, गाडी किस तरह चलेगी ?
दीपक मे तेल खतम है, बाती किस तरह जलेगी,
बुझने वाली है, नहीं होगा भुगतान' ' ।

इस पद्य में भी कवि ने दो दृष्टान्त देकर मानव को समझाया है इजिन,

बिगड़ जाने पर जिस प्रकार गाडी नही चलती और तेल समाप्त होने पर बत्ती नहीं जल सकती इसी प्रकार अगर तेरा विकृत हृदय शुद्ध नही होता तो इस मुक्ति-पथ पर तू आगे नहीं बढ सकता । यह भली-भाँति समझले कि तेरी यह यात्रा अब रुकने ही वाली है ।'

> **तेरे अन्दर ज्ञान नहीं है, कैसे फिर देह चलेगी ?**
> **तेरी नैया फूट रही है, कैसे फिर पार लगेगी,**
> **डूबने वाली है, नहीं होगा भुगतान ''''।**

'अरे अज्ञानी जीव ! तेरे अन्दर ज्ञान नही है । उसके अभाव मे तेरी इन्द्रियाँ और शरीर किस प्रकार शुद्ध क्रियाएँ करेंगे ?'

'इस कर्म रूपी सागर को एकमात्र धर्म की नौका से ही पार किया जा सकता है पर तेरी इस नाव मे तो दुर्गुणो के अनेक छिद्र हो रहे है । । फिर तू ही बता यह भव—सागर को कैसे पार कर सकेगी ? देख ! यह डूबने की तैयारी मे ही है, अब भी तू चेत जा !'

> **नकली हुण्डी को जला दे, इस मन को शुद्ध बनाले ।**
> **पी 'धन' ज्ञानामृत प्याले, क्यो मरता प्यास बुझाले,**
> **सुगुरु गुण-शाली है, नहीं होगा भुगतान ।**

अन्त मे कवि यही सीख देते है 'हे जीव ! अपनी इस नकली हुण्डी को जलाकर भस्म कर दे । अर्थात् तेरे जप, तप तथा धर्म-ध्यान आदि मे जो भी दिखावा और बनावटीपन है उसे नष्ट कर दे तथा मन को क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायो से रहित करके शुद्ध अवस्था मे ले आ ।'

'तेरा तो बडा सौभाग्य है कि तुझे अत्यन्त गुणवान गुरु का सयोग मिला है । अत. इस अवसर का लाभ उठा और जिनवचन रूपी ज्ञानामृत का पान कर ! व्यर्थ ही अपनी आत्मा को ज्ञान-पिपासा से व्याकुल क्यो किये हुए है ? इसकी अनन्त काल से चली आ रही प्यास को मिटा तथा सदा-सदा के लिए तृप्त कर । मत भूल कि यह मानव-पर्याय बार-बार नही मिलती और न ही ऐसे शुभ-सयोग पुन-पुन मिलते है ।

बन्धुओ, आपको ध्यान होगा कि हम एक सस्कृत के श्लोक का विवेचन कर रहे है । श्लोक मे अभी हृदय की स्वच्छता पर बताया जा रहा था और अब उसमे भुजाओ के पौरुष का महत्त्व बताया गया है । कहा है कि भुजाओ की सुन्दरता उनके पौरुष तथा शौर्य पर निर्भर होती है ।

जो व्यक्ति दुखी, असहाय तथा सकटग्रस्त प्राणियो की सहायता के लिए तत्पर रहते हैं, अनाथ तथा अबला नारियो के शील की रक्षा मे कटिबद्ध हो जाते हैं प्राणपण से उसके निवारण मे जुट जाते हैं वे ही सच्चे पुरुषार्थी कहलाते हैं ।

पुरुषार्थी और शूरवीर पुरुष अपने समाज और देश की रक्षा मे कभी पीछे नही रहते ।

अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही वे इच्छित वस्तु की प्राप्ति करते है, तथा विजय श्री का वरण करके ही छोडते है । कहा भी है .—

—पुरुषार्थियो के लिए दूर क्या है ? अर्थात् समस्त प्रकार की सिद्धियाँ उनके समीप ही होती है ।

"किं दूरं व्यवसायिनाम् ?"

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी को अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखना चाहिए । जो व्यक्ति ऐसा करता है, अर्थात् अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण भरोसा रखता है उसके लिए सासारिक पदार्थों की प्राप्ति तो क्या स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी दुर्लभ नही होती ।

निज पुरुषार्थ से मुक्ति

एक बार भगवान महावीर वन मे ध्यानस्थ खडे थे कि एक ग्वाला आकर बोला—"मेरे बैल यहाँ चर रहे है । इनका ध्यान रखना ।"

पर ध्यान कौन रखता ? भगवान तो अपनी समाधि मे लीन थे । उधर बैल भी चरते-चरते कही दूर निकल गए ।

ग्वाले ने आकर जब अपने बैलो को वहाँ नही पाया तो क्रोधित होकर भगवान को मारने के लिए उद्यत हुआ । पर उसी समय इन्द्र वहाँ आए और उन्होंने ग्वाले को वहाँ से भगा दिया । और तत्पश्चात् भगवान महावीर से कहा—"भते ! आपकी साधना मे कोई बाधा और सकट न आ पाए, इसलिये मैं आपकी रक्षार्थ आपके समीप ही रहना चाहता हूँ ।"

किन्तु भगवान ने क्या उत्तर दिया ? वे बाले—

"देवेन्द्र ! किसी और की सहायता से मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है । वह तो स्वय के पुरुषार्थ से ही मिल सकती है ।"

भगवान के वचनो से स्पष्ट हो जाता है कि मानव को अगर सिद्धि प्राप्त करनी है तो उसे अपने पुरुषार्थ को जागृत रखना चाहिए । सच्चा मानव वही है जो सासारिक क्षेत्र मे अपनी भुजाओ की शक्ति पर विश्वास करे तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे अपनी आत्मा की अनन्त शक्ति पर । तभी उसकी प्रत्येक मनोकामना पूर्ण हो सकती है ।

आशा है आपने श्लोक का विवेचन भली-भाँति समझ लिया होगा । साराश उसका यही है— जो महामानव अपने हाथो से दान कर देता है, मस्तक को गुरुजनो के समक्ष झुकाता है, मुख से सत्य बोलता है, कानो से शास्त्र श्रवण करता है तथा हृदय को स्वच्छ रखते हुए अपने पुरुषार्थ के बल पर सफलता हासिल करता है ।

उस पुरुषोत्तम को प्रकृति बिना ऐश्वर्य के भी सुन्दरता प्रदान करती है। मनुष्य के सद्गुण ही उसके सच्चे आभूषण होते है तथा उसका शुद्ध और निष्कपट हृदय आभूषणों का पिटारा। महाकवि शेक्सपियर ने कहा भी है :—

"A good heart is worth gold"

सुन्दर हृदय का मूल्य स्वर्ण के सदृश है।

इसलिए बन्धुओ, हमे प्रयत्न करना है कि हमारा शरीर सद्गुण रूपी अलकारो से सुशोभित हो। उन अलकारो मे से एक अलकार शास्त्र-श्रवण है जो कि हमारा आज का मूल विषय है।

शास्त्रो का श्रवण करने से ही बुद्धि का विकास होता है, मानसिक बल बढता है तथा आत्मिक गुण प्रकाशित होते है। जो व्यक्ति जिन-वचनो पर विश्वास नही करता, उन्हे सुनने और ग्रहण करने का प्रयत्न नही करता, वह 'स्व' और 'पर' मे भेद नही कर सकता। वह यह भी नही जान पाता कि आत्मा को ससार मे भटकाने वाले कौन से कारण है तथा उसे मुक्त करने के साधन कौन-कौन से है। परिणाम यह होता है कि वह मनुष्य जन्म पाकर भी उसका लाभ नही उठा पाता और इस देह को छोडने के बाद भी पुन नाना प्रकार की योनियो मे भटकने के लिए चल देता है।

किन्तु हमे ऐसी भूल नही करनी है। हमे तो मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के समस्त फलो को प्राप्त करते हुए अपनी आत्मा को निरन्तर ऊँचा उठाना है तथा ऐसा प्रयत्न करना है कि इसकी अनन्तकाल से चली आ रही यात्रा का अन्त हो। एवमस्तु।

☆

२५

जन्माष्टमी से शिक्षा लो !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज जन्माष्टमी है। यो तो प्रतिदिन ससार मे अनेकानेक प्राणी जन्म लेते है और अनेकानेक मृत्यु को प्राप्त होते है। किन्तु उनकी जन्मतिथि को, अथवा मृत्यु की तिथि को कोई स्मरण नही करता। तिथियाँ वे ही याद की जाती है, जिनमे कोई महापुरुष, महामानव अथवा अवतारी पुरुष जन्म लेते है या जन्म-मुक्त होते हैं।

इसीलिये हम आज की अष्टमी को महत्त्व देते हैं कि आज के दिन अवतारी पुरुष अथवा पुरुषोत्तम कृष्ण का जन्म हुआ था। यद्यपि अष्टमी का दिवस एक वर्ष मे चौबीस बार आता है, पर तेईस बार आई हुई अष्टमी का कोई महत्त्व नही माना जाता और आज की अष्टमी को प्रत्येक नर-नारी परम आह्लाद और श्रद्धापूर्वक मनाते है।

पुरुषोत्तम कौन कहलाता है ?

ससार मे अनन्त पुरुष हुए हैं, है और होते रहेगे। किन्तु सभी को लोग पुरुषोत्तम नही कहते। प्रश्न उठता है कि पुरुषोत्तम किसे कहा जाता है ? क्या कामदेव के समान शारीरिक सौन्दर्य प्राप्त करने वाले को अथवा कुबेर के समान अतुल ऐश्वर्यशाली बन जाने वाले को पुरुषोत्तम कहा जाएगा ?

नहीं, पुरुषोत्तम केवल वही पुरुष कहलाएगा जो इस पृथ्वी पर जन्म लेकर धर्म की रक्षा करेगा, अनीति का नाश करेगा तथा ससार के भूल-भटके प्राणियो को सत्पथ बताएगा। ऐसे ही पुरुषोत्तम राम थे, कृष्ण थे और हमारे तीर्थंकर भी थे। जिनके लिए 'नमोत्थुण' मे आता है —

'पुरिसुत्तमाण पुरिससीहाण पुरिसवर पु डरियाण ।

ऐसे उत्तम पुरुष चौपन हुए है। सक्षिप्त मे—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती नौ बलदेव एव नौ वासुदेव। त्रेसठ श्लाघनीय पुरुषो मे से नौ प्रति-वासुदेवों को अलग कर दिया गया है। इसका भी कारण है, और वह यह है कि प्रतिवासुदेव श्लाघनीय

पुरुष होते हुए भी कुछ न कुछ भूलकर बैठते है, कुछ न कुछ दोषपूर्ण कार्य कर जाते है। प्रतिवासुदेव की मृत्यु भी वासुदेव के द्वारा ही होती है।

रावण प्रतिवासुदेव था। वह अनेकानेक उत्तम गुणो से सयुक्त और शूरवीर होते हुए भी पर-स्त्री हरण की भूल कर बैठा तथा वासुदेव के हाथों से मारा गया। जरासध भी प्रतिवासुदेव था किन्तु अनीति पर उतारू हो गया और वासुदेव कृष्ण के हाथो मारा गया। अभिप्राय कहने का यही है कि प्रतिवासुदेव यद्यपि श्लाघनीय पुरुष होते हैं तथा ससार मे प्रतिष्ठित माने जाते है किन्तु कुछ गलतियाँ कर जाने के कारण अपयश का भी उपार्जन करते हुए वासुदेव के हाथो मारे जाते हैं।

कृष्ण वासुदेव और पुरुषोत्तम थे। आज के दिन अपने मामा कस के बन्दीगृह मे उन्होने जन्म लिया था। जन्म लिया, यह शब्द मैंने गीता के आधार पर कहा है। गीता मे उल्लिखित है कि कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्।

अर्थात् जब-जब धर्म का नाश होता है, तब-तब मैं अवतार लेकर उसका रक्षण करता हूँ।

गीता का वचन है कि जब दुनिया मे पृथ्वी का भार बढ जाता है, तब महा-पुरुष उसे हलका करने के लिए जन्म लेते है। पृथ्वी पर भार बढ जाने का अर्थ मनुष्यों की सख्या बढ जाने तथा उनके भार से पृथ्वी के बोझिल हो जाने से नही है। पृथ्वी पर भार बढने का अर्थ है—ससार मे अनीति का बढ जाना तथा कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, पाखड तथा नास्तिकता का प्रसार हो जाना। यही सब मिलकर पृथ्वी को भारभूत बनाते है और उस भार को हलका करने के लिए कोई न कोई पुरुषोत्तम इस पृथ्वी पर अवतरित होते है।

जिस समय कृष्ण ने जन्म लिया था उस समय भी धर्म और नीति के कई शत्रु थे। यथा—कस, जरासध, दुर्योधन, नरकासुर, कालयवन तथा कालीनाग। ये सभी उस समय अधर्म और अनीति के मार्ग पर चलकर प्रजा को त्रस्त किये हुए थे। अत कृष्ण ने पृथ्वी पर के भयातुर प्राणियो को इनके अत्याचारों से छुटकारा दिलाया तथा धर्म की रक्षा की। दूसरे शब्दो मे अनीति के मार्ग पर चलने वालो को दड दिया तथा नीति और धर्म के मार्ग पर चलने वाले सत्पुरुषो की रक्षा की। इन दुष्कर कार्यों को सम्पन्न करने की सामर्थ्य रखने के कारण ही वे पुरुषोत्तम कहलाए।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

कहावत का अर्थ है—होनहार वृक्षो के पत्ते प्रारम्भ मे ही चिकने होते है। यही बात आप और हम, मनुष्यो के लिए भी कहते है कि होनहार व्यक्ति बाल्यावस्था से ही दयालु, चतुर, कुशाग्रबुद्धि, चपल और साहसी होता है। यानी बचपन मे ही

उसमे अनेक सुन्दर गुण पाये जाते हैं। प्रसिद्ध भक्त नामदेव के बचपन का भी एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी उदाहरण है, जो इस कहावत को शब्दश चरितार्थ करता है।

तू एक दिन महान साधु बनेगा !

बालक नामदेव जब एक दिन कही बाहर से घर पर आया तो उसकी धोती खून से लतपथ देखकर माँ बडी चकित हुई और जल्दी से बोली—

"बेटा ! तेरी धोती मे यह खून कैसे लग रहा है ?"

"माँ, मैंने कुल्हाडी से पैर छीलकर देखा था।"

घबराहट और परेशानी के साथ माँ बोली—"अरे नामू ! तू क्या ऐसा मूर्ख है जो कुल्हाडी से अपना ही पैर छील बैठा ? घाव पक जाय और कहीं सड जाय तो पैर कटवाने की ही नौबत आ जाये। तूने ऐसा क्यो किया ? क्यो अपने पैर चोट लगाई ?"

"माँ, उस दिन तूने मुझसे पलास के पेड की छाल उतरवाकर मँगवाई थी न ? आज मैंने सोचा कि अपने पैर की भी छाल उतार कर देखू। पलास के पेड की छाल उतारने से उसे कैसा लगा होगा, यह जानने के लिए ही मैंने अपने पैर की चमडी छीली थी।"

नन्हे बालक नामदेव की माता पुत्र की बात सुनकर रो पडी और बोली—"बेटा नामू ! मालूम होता है कि तू एक दिन महान साधु बनेगा। वास्तव मे ही अन्य जीवो के समान वृक्षों मे भी जान है तथा चोट लगने पर जैसे हमे दुख होता है वैसे ही उन्हे भी होता है।"

यही बालक नामदेव बडे होने पर सत नामदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सभी महापुरुषो का बचपन इसी प्रकार सुलक्षणो से युक्त होता है।

अनेक बार तो गर्भावस्था मे ही सन्तान के सुलक्षण या कुलक्षण दिखाई दे जाते है। आगे जाकर माता पिता की घात चाहने वाला कोणिक जब महारानी चेलणा के गर्भ मे आया तो उन्हे अपने पति महाराजा श्रेणिक के कलेजे का माँस खाने की इच्छा हुई थी।

कहने का अभिप्राय यही है कि सन्तान के गुण उसकी प्रारम्भिक अवस्था मे ही दिखाई दे जाते है।

श्रीकृष्ण वासुदेव भी बाल्यावस्था मे कितने नटखट और प्रसन्नता की जीवित मूर्ति थे यह आज प्रत्येक मानव जानता है। महाकवि सूरदास ने उनकी बाल्यावस्था का नाना प्रकार से चित्रण किया है। एक पद्य, जो कि आप सभी की जबान पर होगा, उसमे अपनी चोटी न बढने की शिकायत माता यशोदा से करते हुए वे किस चतुराई से उससे अधिक मक्खन लेने का प्रयत्न करते हैं—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत जैहैं नागिनि सी भुइँ लोटी॥
काचौ दूध पियावत पचि-पचि देति न माखन रोटी।
सूरदास चिरजीवो दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी।

कहते है—"माँ, मेरी यह चोटी कब बढ़ेगी ? कितने दिन हो गए मुझे दूध पीते हुए, पर अभी भी यह छोटी सी ही है। तू तो कहती थी न, कि यह नागिन के जैसी बडी हो जाएगी और मुझे नहलाते तथा इसे गूँथते समय जमीन पर लोटेगी। पर यह तो अभी तक बढी नही। लगता है कि तू मुझे कच्चा दूध ही पिलाकर टरका देती है, मक्खन-रोटी नही खिलाती इसलिए इसका यह हाल है।"

कितनी चतुराई से अपनी बात कही है उन्होने ? पर यह सब वे अपने लिए ही नही करते थे। अपने घर मे और गोकुल के अन्य घरो मे जितना भी मक्खन और दही उन्हे मिल जाता, लेजाकर अत्यन्त उदारतापूर्वक गायें चराने वाले ग्वाल-बालो को बाँट देते थे।

वीरता भी उनमे कम नही थी। कहते है कि बचपन मे ही उन्होने कई राक्षसो का सहार किया था और यमुना के समस्त जल को दूषित करने वाले कालिय नाग को नाथा भी।

बडे होने पर तो ससार के सामने उन्होने ऐसे आदर्श उपस्थित किये, जिन्हे कभी भुलाया नही जा सकता। गीता के रूप मे उन्होने मानव को कर्म करने की जो प्रेरणा दी वह आज भी जगत के अमूल्य ग्रथ के रूप मे सुरक्षित है और भविष्य मे भी रहेगी। अगर व्यक्ति उसे पढे और पढ़कर अपनाए तो निश्चय ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

मित्रता का अद्वितीय आदर्श

मित्र के रूप मे भी कृष्ण एक आदर्श पुरुष साबित हुए है। उनके जैसे मैत्री-भाव की मिसाल ससार मे मुश्किल से ही मिलती है। उनके मित्र सुदामा और वे स्वय बचपन मे सदीपनि ऋषि के आश्रम मे साथ ही पढते थे। बडे होने पर सुदामा तो अपने कुलोचित कार्य अध्यापन मे लग गए और कृष्ण द्वारिकाधीश होकर राज्य-कार्य करने लगे।

पर आप जानते ही है कि विद्या और लक्ष्मी एक ही स्थान पर निवास नही करती। इस नियम के अनुसार सुदामा सदा फटे-हाल ही बने रहे और जब उनकी पत्नी ऐसी अवस्था से अत्यन्त परेशान हो गई तो उसने सुदामा को जबर्दस्ती कृष्ण के पास भेजा। बेचारे सुदामा ने पत्नी को समझाने की बहुत कोशिश की। कहा —

"सुख-दुख करि दिन काटे ही बनेंगे भूलि,
विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये ।

आजकल हम देखते ही हैं कि मित्रता कैसी होती है । वह समान श्रेणी वालो मे तो कदाचित निभ भी जाए, पर असमान स्थिति वालों मे कभी नही टिकती । दो मित्रों मे से अगर एक विद्वान है और दूसरा मूर्ख, तो विद्वान मित्र उससे मित्रता बनाए रखने मे अपनी हेठी समझता है । इसी प्रकार दो मित्रो मे से अगर एक पर लक्ष्मी की कृपा हो जाती है तो वह अपने गरीब मित्र से सम्बन्ध रखने मे शर्म का अनुभव करता है तथा उससे आँखे फेर लेता है ।

इसीलिये सुदामा ने पत्नी को बार-बार समझाया था कि कृष्ण अब महाराज बन गए है और मैं एक दरिद्र ब्राह्मण हूँ । मेरे जैसे निर्धन व्यक्ति को विपत्ति पडने पर भी अपने अमीर मित्र के यहाँ नही जाना चाहिये । सुख और दुख के दिन तो काटने से ही कटेंगे । हमे किसी से याचना करना उचित नही है । तू मुझे बार-बार द्वारिका जाने का आग्रह मतकर । यह मत भूल कि —

सिच्छक हो सगरे जग को तिय !
ताको कहा अब देति है सिच्छा ?
जो तप कै परलोक सुधारत,
सपति की तिन के नहिं इच्छा ।।
मेरे हिये हरि के पद पकज,
बार हजार लै देखु परीच्छा ।
औरनि को धन चाहिये बावरि,
ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा ।।

कितने सुन्दर विचार थे सुदामा के ? क्या आज के ब्राह्मण इतने सतोषी, इतने निस्वार्थी और आध्यात्मिक भावनाओ के ऐसे धनी होते है ? नही, किन्तु सुदामा ऐसे ही थे । तभी उन्होने परेशान होकर पत्नी से कहा—"भगवन् ! मैं तो स्वय ही सारे जगत का शिक्षक हूँ तू मुझे अब क्या उलटी पट्टी पढा रही है ? मेरे जैसा ब्राह्मण व्यक्ति, जो कि जप, तप और ज्ञान-दान के द्वारा अपने परलोक को सुधारना चाहता है उसमे सपत्ति की लालसा कहाँ से आई ?"

"मेरे हृदय मे तो धन की चाह के स्थान पर हरि के चरण-कमल ही चित्रित है । भले ही तू हजार बार परीक्षा लेकर देख ले । अरी बावली ! धन तो और लोगो को चाहिये । ब्राह्मण को धन से क्या करना है ? उसे तो भिक्षा मिल जाय बस यही काफी है ।

पर होता वही है जो होना होता है । ब्राह्मणी जिद पर तुली हुई थी अत सुदामा को द्वारिका जाना पडा । अत्यन्त सकुचित होते हुए तथा शर्मिन्दगी महसूस करते हुए वे स्वर्गपुरी के समान द्वारिका नगरी मे पहुँचे तथा द्वारपाल से अपने

आने का समाचार महाराजा कृष्ण के पास भिजवाया। पर उसके बाद क्या हुआ ?—

> **बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँडे सुनि,**
> **छाँडे राज-काज ऐसे जी की गति जाने को ?**
> **द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,**
> **भेंटे लपटाय हिय ऐसे दुख माने को ?**

द्वारपाल के मुख से 'सुदामा पाँडे' का नाम सुनते ही कृष्ण अपना राज्य-कार्य छोडकर भागे हुए आए और हाथ जोडकर ब्राह्मण होने के नाते मित्र के चरण स्पर्श किये तथा उसके बाद उन्हे हृदय से लगाकर भेंट की।

तत्पश्चात् अत्यन्त प्रेम से उनका हाथ पकडकर अन्त पुर मे ले गए। जिस अन्त पुर म चिडिया भी पर नही मार सकती थी वहाँ एक दीन-दरिद्र ब्राह्मण को स्वय कृष्ण के द्वारा लाते हुए देखकर उनकी रानियाँ अत्यन्त चकित हुई। पर उनका आश्चर्य उस वक्त सीमा पार कर गया जबकि द्वारिकाधीश ने मित्र को रत्न जटित चौकी पर बिठा कर यात्रा से थके हुए उनके पैर धोने की तैयारी की। वे सोचने लगी—'जिनका चरणामृत सारे जगत का सताप नष्ट करता है हरि स्वय ही सुदामा ब्राह्मण के चरण धो रहे है, कैसी अनोखी बात है ?'

पर कृष्ण का ध्यान और किसी तरफ नही था वे तो सुदामा के पैरो को अपने हाथो मे लिये हुये कह रहे थे —

> **ऐसे बेहाल बिवाइन सो पग कटक जाल लगे पुनि जोये।**
> **हाय महादुख पायो सखा तुम आये इतै न किते दिन खोये।**
> **देखि सुदामा की दीन दसा करुणा करिके करुणानिधि रोये,**
> **पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सो पग धोये।**

कृष्ण ने स्वय ही मित्र के पैरो मे लगे हुए काँटे निकाले और फटी हुई बिवाइयो को देखकर व्याकुल होते हुए बोले—'हाय मित्र! तुमने कितना दुख उठाया है ? पर इससे पहले ही यहाँ क्यो न आ गए! इतने दिन कहाँ बिता दिये ?"

कवि का कथन है कि मित्र की दीन दशा देखकर करुणा के सागर कृष्ण इतना रोए कि उनके नेत्र जल से ही सुदामा के पैर धुल गये। पानी से भरी हुई परात को तो हाथ लगाने की भी आवश्यकता नही पडी।

मित्रता का कैसा ज्वलन्त उदाहरण है ? जहाँ सकेत मात्र से ही सारे काम बात की बात मे हो सकते थे, वहाँ कृष्ण ने स्वय ही अपने अभिन्न मित्र की सेवा शुश्रूषा की। इसके अलावा भी कोरी आवभगत या दिखावटी प्रेम ही नहीं दर्शाया वरन् उनके सारे सकट भी दूर कर दिये। विश्वकर्मा के द्वारा द्वारिका के समान ही उन्होने सुदामापुरी का निर्माण करा दिया और सुदामा को इसका पता ही नही लगने दिया।

परिणाम यह हुआ कि सुदामा जब अपने गाँव वापिस लौटे तो उन्हे न गाँव का ही पता चला और न ही अपनी झोपडी मिली । बेचारे सारे गाँव मे ढूँढते फिरे और तब परेशान होकर नगर के व्यक्तियो से बोले—

देवनगर कै यच्छपुर, हौं भट को कित आय ?
नाम कहा यहि नगर को सो न कहो समुझाय ।।
सो न कहो समुझाय नगर वासी तुम कैसे ?
पथिक जहां सभ्रमहि, तहाँ के लोग अनैसे ।।

सुदामा नगर निवासियो से पूछते है—'अरे, मुझे कोई बताओ तो सही कि मैं देव-नगर या राक्षस पुरी मे कहाँ भटक गया हूँ । इस नगर का नाम क्या है ? तुम कैसे नगरवासी हो जो भूले हुए पथिक के भ्रम का निवारण भी नही करते ।'

आखिर जब लोगो ने उन्हे अपने महल के द्वार पर पहुँचाया और उनके आने का समाचार पाते ही राजरानियो के समान सुशोभित ब्राह्मणी अपने पति को प्रिय सम्बोधन सहित अन्दर लिवा जाने को उद्यत हुई तो फिर सुदामा आग-बबूला होकर बोल पडे —

हमै कत तुम जनि कहो, बोलो बचन सँभारि ।
इन्हे कुटी मेरी हती, दीन बापुरी नार ।।

सदाचारी ब्राह्मण रानी बनी हुई पत्नी को पहचान नही सके और उसे फटकारते हुए बोले—"ऐ ! तुम मुझे अपना कत मत कहो, जबान सम्भालकर बात करो । यहाँ पर मेरी कुटिया थी और बिचारी दीन-हीन मेरी पत्नी ! वह कहाँ है ?

प्रसग अत्यन्त मनोरजक है और मनोरजन के उद्देश्य स ही कृष्ण ने सुदामा को कानो कान खबर दिये बिना यह सब किया था । बाल्यावस्था म रही उनकी परिहास-वृत्ति द्वारिकानाथ बन जाने पर भी गई नही थी ।

शातिदूत श्रीकृष्ण

कृष्ण की प्रतिभा बहुमुखी थी । कभी अगर वे सुदामा जैसे अपने मित्र के साथ परिहास पर उतर आते थे, तो कभी शाति के दूत भी बनते थे ।

महाभारत के युद्ध से पहले भयानक सग्राम न छिड जाय और घोर नर-सहार न हो, इसलिये वे पाँडवो की ओर मे कौरवो को, अर्थात् दुर्योधन को समझाने के लिये गए थे । द्वारिका के राजा होने पर भी वे एक दूत का कार्य करने के लिये तैयार हो गये । यह उनकी शान्ति-प्रियता का कितना उत्तम उदाहरण है ।

दुर्योधन के पास जाकर उन्होंने शाति पूर्ण और मर्यादित शब्दो मे केवल यही कहा—"दुर्योधन ! भले ही तुम सारा राज्य अपने पास रखो किन्तु पाण्डवो को पाँच गाँव मात्र दे दो । वे लोग उससे ही अपना निर्वाह कर लेंगे । आखिर वे भी राजपुत्र और क्षत्रिय है औरो के यहाँ जाकर भिक्षा मागने से तो रहे । इसलिये मेरी बात मानकर यह आपसी कलह आपस मे ही शांतिपूर्वक निपटा लो ।"

परन्तु जिसके मस्तक पर काल मडरा रहा हो उसे सुबुद्धि कैसे आ सकती है ? भाई बिभीषण और पति-परायणा मदोदरी आदि अनेक हित जनो के समझाने पर भी जिस प्रकार रावण नही माना था । उसी प्रकार शाति-दूत श्रीकृष्ण, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा आचार्य द्रोण आदि सभी गुरुजनो के समझाने पर भी दुर्योधन टस से मस नही हुआ । उलटे अहकार पूर्वक श्री कृष्ण का तिरस्कार करते हुए बोला—

सुई अग्र पै ऐति, नहिं देऊ भूमि कहो केति ।
पाण्डव यह कौन विचारे, मत कठिन वचन उच्चारे !
नहीं राजनीति पहचानो, वही दूध चुराना जानो,
हो ढोर चराने वाले, मत कठिन वचन उच्चारे !

दुर्योधन का उत्तर था—मैं तो सुई की नोक के बराबर जमीन भी किसी को नही दे सकता । पाँडवो की तो बिसात ही क्या है ? इसके अलावा तुम तो दूध-दही चुराते और पशुओ को चराते रहे हो, राजनीति की बाते भला तुम कैसे जान सकते हो ? अत व्यर्थ मे ऐसी बात कहने से क्या लाभ ? आईदा इस प्रकार के वचन मत कहना ।

दुर्योधन मे कोरा उत्तर पाकर कृष्ण लौटे पर फिर सारी जिम्मेदारी एक तरह से उन्होने ही ली । कृष्ण की सहायता से ही पाँडवो ने महाभारत के युद्ध मे विजय प्राप्त की । आप जानते ही होगे कि समय-समय पर उन्होने कितने प्रयत्न और चतुराई से परिस्थितियो को अनुकूल बनाया था ।

गीता का जन्म

जब युद्ध का प्रारम्भ होने को था, अर्जुन ने विपक्षियो मे सब अपने ही सम्बन्धियो और गुरुजनो को देखकर अत्यन्त कातरता पूर्वक हथियार डाल दिये और युद्ध न करने का इरादा कर लिया । किन्तु श्रीकृष्ण ने यह देखकर कि इससे सदा के लिए अनीति की विजय हो जाएगी, अर्जुन को नाना प्रकार से समझाया । उनका यह प्रयत्न भी आज हमारे समक्ष गीता के रूप म सकलित है ।

गीता को धर्म का महान ग्रन्थ माना जाता है, क्योकि उसम ज्ञान, कर्म और भक्ति, इन तीनो योगो का न्याययुक्त विवेचन है । महर्षि द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने उसकी प्रशस्ति म कहा है —

"गीता वह तैलजन्य दीपक है जो अनन्तकाल तक हमारे ज्ञान-मन्दिर मे प्रकाश करता रहेगा ।"

वास्तव मे ही गीता जबानी जमाखर्च की पुस्तक नही, वरन् आचरण-ग्रन्थ है । अर्जुन को उसमे अपना कर्तव्य करते जाने का उपदेश दिया गया है तथा कहा गया है कि उसके फल की परवाह मत करो । मनुष्य को अपना कर्तव्य कर्म करते

जाना चाहिए उसके फल से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं । उदाहरणस्वरूप एक श्लोक है —

तस्मादसक्त सतत कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष ।।

—श्रीकृष्ण (गीता)

—फल की इच्छा छोडकर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करो । जो फल की अभिलाषा छोडकर कर्म करते हैं उन्हे मोक्ष-पद अवश्य प्राप्त होता है ।

तो मेरे कहने का आशय यही है कि महाभारत का युद्ध सम्पूर्ण रूप से कृष्ण की सहायता के बल पर ही जीता गया था । युद्ध के दौरान उन्होने अनेक प्रसगों पर पाण्डवो का अभूतपूर्व मार्ग-दर्शन किया । तथा उसके परिणामस्वरूप उन्हे विजय प्राप्त हुई । वैसे भी कृष्ण वासुदेव थे और शास्त्रो मे बताया गया है कि वासुदेव अगर अपने जीवन मे तीन सौ साठ सग्राम करे तो भी कभी उसकी हार नही होती ।

गुण-ग्राहिता

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन मे बाल्यकाल से ही उत्तम कार्य किये थे । अनीति का नाश, अन्याय का प्रतिकार, अबलाओ की रक्षा और दीन-दरिद्रों का भरण-पोषण यही सब उनके कार्य थे । अपने भक्तो के लिए तो वे अपने समस्त कार्यों को त्याग कर अविलम्ब दौड पडते थे । भक्तो की भक्ति और गुणों का आकर्षण उन्हे अपनी ओर खीच ही लेता था । महाकवि सूरदास के शब्दो मे उनका अर्जुन से कहना था —

हम भक्तन के, भक्त हमारे ।
सुनु अर्जुन परितिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे ।।
भक्त काज लाज हिय धारिकै, पाँई पियादे धाऊँ ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ तहँ जाइ छुडाऊँ ।।
जो मम भक्त सो बैर करत है, सो निज बैरी मेरो ।
देखि बिचारि भक्त हित कारण, हाँकत हो रथ तेरो ।।

कहते हैं—'अर्जुन ! भक्त मेरे है और मैं भक्तो का हूं । यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है कि मैं अपने भक्तो के सकट का निवारण करूँगा । इसीलिए जहाँ-जहाँ भी उन पर मुसीबत आती है मैं नगे पैर दौडा जाता हूँ, और उन्हे दुख से मुक्ति दिलाता हूँ । मेरे भक्त का जो दुश्मन होता है वह मेरा भी दुश्मन बन जाता है । देख ! इसीलिए मैं आज इस युद्ध मे सारथी बनकर तेरा रथ हाँक रहा हूँ ।"

श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता तथा पर-दुखनिवारण की भावना बडी जबर्दस्त थी । इसका कारण यही था कि वे प्रत्येक प्राणी के गुणो पर ही दृष्टिपात करते थे । अवगुणों की ओर देखना उनके स्वभाव मे ही नही था ।

एक बार वे दल-बल सहित राजमार्ग से गुजर रहे थे । हजारों व्यक्ति उनके

साथ थे। लोगों ने देखा कि उस सडक के एक किनारे, मरी हुई कुतिया पडी थी। उसके शरीर से भयानक दुर्गन्ध आ रही थी।

लोगो ने उसे देखकर नाक-भौं सिकोडे और असह्य दुर्गन्ध के कारण दूर भागने लगे। किन्तु श्रीकृष्ण की दृष्टि जब उस पर पडी तो वे बडी शान्ति से बोले—

"अहो, इसके दाँत कितने सुन्दर है ?"

कहने का अभिप्राय यही है कि श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष ने एक मरी हुई दुर्गन्ध-युक्त कुतिया को देखकर भी उसकी निन्दा नही की तथा सडक की सफाई करने वालो पर क्रुद्ध नहीं हुए। अन्यथा किसी और राजा की सवारी निकलते वक्त अगर ऐसा कुसयोग बन जाता तो बेचारे हरिजनो की तो शायद प्राणो पर ही बन जाती। किन्तु कृष्ण सच्चे महापुरुष थे तथा अपने मन और वाणी पर पूर्णतया काबू रखते थे। इसलिए ही उन्हे गोपाल भी कहा जाता था। आपको मेरी यह बात सुनकर अटपटी लगी होगी कि गोपाल शब्द का वाणी से क्या सम्बन्ध है ? अत मैं आपकी उलझन मिटाने का प्रयत्न करता हू।

गोपाल का अर्थ

गोपाल का साधारण तथा व्यावहारिक अर्थ माना जाता है गायो को पालने वाला और उन्हे चराने वाला। पर गोपाल का वास्तविक अर्थ है —

"गां पालयति इति गोपाल ।"

'गौ' शब्द के दो अर्थ होते है। इसका पहला अर्थ है प्राणी और दूसरा अर्थ वाणी होता है। तो जो वाणी को अपने काबू मे रखे वह गोपाल कहलाता है।

श्रीकृष्ण ने सदा वाणी पर सयम रखा था जैसे कि एक-दो उदाहरण मैंने आपको अभी बताए है—वे जब दूत बनकर दुर्योधन के पास गए तब उसकी कटूक्तियाँ सुनकर उत्तजित नही हुए तथा सडक पर तेज दुगन्ध फैलाने वाली कुतिया को देखकर भी क्रुद्ध नही हुए। न उन्होने क्रोध ही किया और न ही दुर्योधन जैसे अहकारी की निन्दा ही की। अपनी वाणी को इस प्रकार काबू मे रखने वाले उत्तम पुरुष को गोपाल क्यो नही कहा जाएगा ?

आध्यात्मिक दृष्टि से गोपाल का और भी अर्थ बताया गया है —

"परापवादशस्येभ्यो, गां चरतीं निवारय ।"

अर्थात्—दूसरो के अपवाद रूपी धान्य को चरने वाली वाणी रूपी गाय को हटा दो।

दूसरो को अपशब्द कहना, अपवाद व निन्दा करना एक प्रकार का धान्य कहा गया है। शस्य का अर्थ धान्य ही होता है। तो निन्दा तथा अपवाद रूपी धान्य को वाणी रूपी गाय न चरे मनुष्य को यही प्रयत्न करना चाहिए ऐसी शिक्षा आचार्य ने दी है। यानी, औरो को कटु और अपशब्द मत कहो तथा किसी की निन्दा मत

करो। बन सके तो गुण ग्रहण करो अन्यथा मौन रहो। पराई निन्दा और विकथा में वाणी का दुरुपयोग करना मनुष्य की बडी मारी भूल है।

उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि जब वह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका अथवा अन्य किसी भी प्राणी की निन्दा करने के लिए या उसके दोष-दर्शन के लिए अपनी तर्जनी अगुलि बताता है तो बाकी तीन अगुलियाँ स्वय उसकी अपनी ही तरफ सकेत करती है। वे कहती है— दूसरो की अपेक्षा स्वय तुम्हारे मे अधिक अवगुण हैं, अधिक दोष है।

इसलिए बन्धुओ, हमे कभी भी औरो की ओर अगुलि नही उठानी चाहिए तथा अपनी वाणी-रूपी गाय को पूर्ण रूप से अपने काबू मे रखना चाहिए। अन्यथा वह एक गलियार गाय के समान इधर-उधर मारती हुई फिरेगी और तुम्हे नित्य-प्रति उलाहने सुनने पडेगे। सन्त तुकाराम जी ने भी कहा है —

"ओढ़ालाच्या सगे सात्विक नाडले।"

अर्थात्—ओढाल यानी हराम का खाने वाले जानवर के मालिक को उपालम्भ सुनने पडते है। भले ही मालिक निर्दोष है, उसके हृदय मे औरो का नुकसान कराने की भावना नही है पर उसका जानवर अगर ओढाल हो जाता है, गले मे लकडी और पैरो मे रस्सी बाँध देने पर भी उसे तोड़-ताडकर दूसरे के खेतो मे घुसकर धान्य खाता है तो उसे लोगो के उलाहने सुनने पडते है।

इसीलिए सन्त ने कहा है कि अपनी वाणी रूपी गाय को अपने वश मे रखो, उसे इधर-उधर औरो की निन्दा और अपवाद रूप धान्य को मत चरने दो। अन्यथा लोग तुम्हे बुरा-भला कहेगे। सिक्खो के धर्म-ग्रन्थ मे कहा भी है :—

जित बोलिये पति पाईए, सो बोल्या परवाण।
फिक्का बोला बिगुच्चणा, सुन मूर्खमन अजान॥

अर्थात् ऐसी वाणी ही बोलने योग्य है, जिससे मनुष्य सम्मान पाये। हे मूर्ख और अज्ञानी मन! कठोर भाषण करके अपमानित मत हो।

बुद्धिमान पुरुष इसीलिए सदा बहुत सोच-विचार कर बोलता है ताकि प्रथम उसके शब्दो से किसी को खेद न पहुँचे, दूसरे वह स्वय अपमानित न हो। एक उर्दू भाषा के कवि ने भी बडी सुन्दर बात कही है। उसने कहा है —

फितरत को ना पसन्द है सख्ती जबान में।
पैदा हुई न इसलिए हड्डी जबान मे॥

—प्रकृति को स्वय ही किसी की जबान से कठोर शब्द निकलें यह पसन्द नही है, इसलिए ही उसके द्वारा जबान मे हड्डी नही रखी गई। अर्थात्—बिना हड्डी के वह जैसी कोमल है, वैसे ही शब्दो का उच्चारण करे।

हमारे धर्मशास्त्र और 'सत-मुनि' भी इसीलिए बार-बार कहते है कि 'सदा सोच-विचार कर बोलो ! किसी का दिल दुखे ऐसी भाषा मत बोलो। तभी मनुष्य के लिए गोपाल शब्द का प्रयोग करना सार्थक होगा। जैसा कि कृष्ण को गोपाल कहना पूर्णतया सार्थक साबित हुआ था।

तो बन्धुओ, आज जन्माष्टमी है और हमने एक महापुरुष श्रीकृष्ण वासुदेव के कुछ गुणो का स्मरण किया है। किसी भी महापुरुष की जयन्ती या जन्म दिवस मनाना तभी सार्थक होता है जब कि मनुष्य उसके गुणो को स्मरण करने के साथ ही साथ उन्हे जीवन मे उतारने का भी प्रयत्न करे। तभी वह प्रतिवर्ष मानव के हृदय में नई चेतना तथा नवीन शक्ति का स्रोत बहा सकेगा। ☆

२६

धर्म का रहस्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

एक दिन मैंने एक सस्कृत के श्लोक का विवेचन करते हुए बताया था कि मनुष्य के पास भले ही ऐश्वर्य न हो, शारीरिक सौन्दर्य न हो तथा शक्तिसम्पन्नता भी न हो, किन्तु अगर उसका हृदय सद्गुणो से भरा हो और उसकी भावनाएँ धर्ममय हो तो उसे ससार का सबसे अधिक वैभवशाली पुरुष मानना चाहिये।

ऐसा क्यो ? इसलिये कि धर्म के अन्दर ही समस्त कलाएँ सम्पूर्ण बल और असीम सुख निहित है। गौतमकुलक ग्रन्थ मे एक गाथा है—

"सव्वा कला धम्मकला जिणाइ।"

समस्त कलाओ को धर्म कला जीत लेती है।

शास्त्रो मे पुरुषो की बहत्तर कलाओ का तथा स्त्री की चौसठ कलाओ का वर्णन मिलता है। किन्तु अगर पुरुष ने बहत्तर कलाएँ सीख ली पर एक धर्म कला नही सीख पाई तो वे सभी कलाएँ निरर्थक मानी जाती है। धर्म कला के अभाव मे उसकी अन्य सभी कलाएँ शून्यवत् हो जाती हैं। धर्म कला अन्य समस्त कलाओं की शोभा है।

अनेक कलाओ के सीख लेने पर भी अगर एक मुख्य कला न सीखी जाये तो सब अन्य कलाएँ किस प्रकार निरर्थक साबित हो जाती है, यह एक उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाता है।

तैरने की कला नहीं सीखी

एक प्रोफेसर किसी विशाल पाट वाली नदी को पार करने के लिये एक नाव मे बैठे और मल्लाह ने नाव को खेना प्रारम्भ किया।

नाव थोडी ही दूर चल पाई थी कि प्रोफेसर साहब ने आसमान की ओर देखते हुए मल्लाह से प्रश्न किया—

"क्या तुम नक्षत्र विद्या जानते हो ?"

"बाबूजी ! मैं तो नक्षत्रो के नाम भी नही जानता"—मल्लाह ने नाव चलाते हुए उत्तर दिया।

"प्रोफेसर साहब हँस पडे और बोले—'तब तो समझलो कि तुम्हारा चौथाई जीवन पानी मे गया।" मल्लाह चुप रहा।

थोडी देर बाद प्रोफेसर ने नाविक से दूसरा प्रश्न किया—

"क्या तुम कुछ गणित पढ़े हो ?"

"मैंने कुछ भी नही पढा बाबू जी !"

"तब तो तुम्हारा आधा जीवन पानी मे गया समझो !" प्रोफेसर ने तनिक तिरस्कारपूर्वक कहा। नाविक तब भी मौन ही रहा।

नाव चल रही थी पर प्रोफेसर से चुप नही रहा गया तो तीसरा प्रश्न फिर कर बैठे। नदी के किनारो पर खडे हुए सुन्दर वृक्षो की ओर देखते हुए बोले—

"क्या तुम वनस्पति विज्ञान के विषय मे कुछ जानते हो ?"

"नही बाबूजी ! मैं तो केवल यह जानता हूँ कि नाव कैसे चलाई जाती है।" मल्लाह बेचारा सब कलाओ के जानकार प्रोफेसर से और क्या कहता। सीधा-सा उत्तर दे दिया।

पर उसका उत्तर सुनकर प्रोफेसर ठहाका मारकर हँस पडे और बोले—"भाई ! तब तो तुम्हारे जीवन का तीन चौथाई भाग पानी मे चला गया।" मल्लाह ने अपने जीवन के इतने बडे भाग के पानी मे चले जाने की बात सुनकर भी कोई चिन्ता नहीं की, चुपचाप पतवार चलाता रहा।

सयोगवश अकस्मात् भयानक आँधी चल पडी और नदी मे बडी-बडी लहरें उठने लगीं। नाव बुरी तरह डगमगाने लगी और उसमे पानी भर गया। मल्लाह ने अपने दोनो हाथो से पानी उलीचने का प्रयत्न किया पर असफल रहा। क्योकि ज्योही तेज हिलोर आती, पानी पुन भर जाता। आखिर जब उसे नाव डूब जाने का खतरा दिखाई दिया तो वह नाव से कूद पडा और तैरने लगा। प्रोफेसर के होश फाख्ता हो गए, पर करते क्या ? शोरगुल मचाते रहे।

नाविक ने तैरते-तैरते उनसे पूछा—"बाबूजी ! आपने मुझ से कई प्रश्न पूछ लिए अब मैं भी आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ। बताइये—आप तैरना जानते हैं या नहीं ?"

भयाकुल प्रोफेसर ने उत्तर दिया—'अरे भाई ! अगर मैं तैरना जानता तो तुम्हारे साथ ही कूदकर तैरने नही लगता क्या !"

तो समझिये कि आपकी सारी उम्र ही पानी मे गई।" नाविक ने उत्तर दिया और इसके साथ ही प्रोफेसर साहब जल मग्न हो गए।

धर्म कला की महत्ता

उदाहरण का आशय यही है कि अनेक कलाएँ सीखकर और अनेकानेक पुस्तकें पढ़कर भी अगर मानव भव-सागर से तैरने की आध्यात्मिक विद्या या धर्म-कला न सीखे तो उसकी सीखी हुई अन्य समस्त कलाएँ व्यर्थ है ।

जिस प्रकार एक बहन अनेक प्रकार के व्यजन बनाए पर उनमे नमक न डाले तो समस्त खाद्य पदार्थ फीके और नीरस लगते है, उसी प्रकार मनुष्य काव्यकला, नृत्यकला, सगीतकला, शिल्पकला, चित्रकला तथा शास्त्र-कला आदि अनेकानेक विभिन्न कलाएँ सीख ले, किन्तु एक धर्मकला न सीखे तो उसकी समस्त सीखी हुई कलाएँ फीकी और निस्सार साबित होती है ।

गाथा का दूसरा चरण है —

"सव्वा कहा धम्मकहा जिणाइ ।'

—सभी कथाओ को एक धर्मकथा जीत लेती है ।

हमारे ठाणाग सूत्र मे कथाएँ चार प्रकार की बताई गई है—स्त्री कथा, भक्त-कथा, देशकथा और राजकथा । प्रत्येक कथा के विभाग है, जिनका शास्त्र मे विस्तृत विवेचन है । पर हमे यहा अधिक विस्तार नही करना है । यही कहना है कि आज-कल जहाँ व्यक्ति एक से अधिक इकटठे होते है वहाँ जमीन और आसमान के कुलाबे मिला देते हैं ।

विकथाओ की व्यर्थता

लोग स्त्रियो के बारे मे, पुरुषो के बारे मे, देश और सरकार के बारे मे, राजनीति और युद्धो के बारे मे तथा चन्द्रलोक और मगललोक के बारे मे, न जाने कितनी बातें और कितने वाद-विवाद करते है । कभी-कभी तो हाथापाई की नौबत भी आजाती है । पर मैं पूछता हूँ कि आखिर उससे लाभ क्या होता है ? क्या उनके हृदय मे सद्गुणो की सख्या बढती है ? क्या दुनिया भर की गप्पें हाँकने से उनके कर्मों की निर्जरा होती है ? क्या उनकी आत्मा पर-पदार्थों से विरक्त होकर अपने अन्दर झाँकती है ? क्या उनके हृदयो मे त्याग और तपस्या की भावना जागती है ?

नही, यह सब कुछ भी नही होता । जीवन भर विकथाएँ करने पर भी उनकी आत्माएँ शुद्धता की ओर एक कदम भी नही बढती तथा उनका परिश्रम केवल पानी को मथने के समान व्यर्थ हो जाता है जिसे अनन्त काल तक मथा जाय तो भी मक्खन की प्राप्ति नही होती ।

धर्मकथा की सार्थकता

मानव को विचार करना चाहिए कि उसे किस प्रकार जीवन का लाभ मिल सकता है ? अभी मैंने बताया ही है कि ससार के विभिन्न विषयों पर व्यर्थ वाद-विवाद करने से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता । न ही कोई लाभ उपन्यास, कथा-

कहानी, नाटक या आजकल का घटिया जासूसी साहित्य पढने से होता है। उलटे लोगो का समय बरबाद होता है तथा उनके हृदयो मे विकृत भावनाएँ जन्म लेती हैं।

इसकी अपेक्षा अगर महापुरुषो के जीवन-चरित्र पढ़े जायें, महान् संत मुनिवर और तीर्थंकरो के गुणो का स्मरण किया जाय, तथा सद्गुरु के उपदेशो को कम मात्रा मे भी श्रवण किया जाय तो आत्मा को अधिक लाभ होता है। सद्गुरु प्रदत्त धर्मोपदेश की महत्ता के विषय मे क्या कहूँ एक दिन मैंने बताया भी था—

एक वचन जो सद्गुरु केरो,
जो राखे दिल माय रे प्राणी।
नीच गति में ते नहीं जावे,
इम भाखे जिनराय रे प्राणी।

अर्थात्—सद्गुरु के कहे हुए वचनो मे से एक भी वचन हृदय मे धारण कर लिया जाय तो आत्मा उसके सहारे मे इतनी शुद्ध और निर्मल बन सकती है कि उसको नीच गति मे कभी नहीं जाना पडता।

केवल तीन वाक्यो से मुक्ति

शास्त्रो मे रोहिणेय चोर का वर्णन आता है कि उसने भगवान के केवल तीन वाक्य सुने और उनके परिणामस्वरूप उसकी जीवन-दिशा बदल गई। जहाँ उसका जीवन अनन्त जन्मो की वृद्धि की ओर जा रहा था, वहाँ वह अनन्त जन्मो के नाश की ओर घूम गया।

रोहिणेय का चौर्य-व्यवसाय कुल-परम्परागत था। अत स्पष्ट है कि उसका पिता भी चोर था। जब वह मरने लगा तो उसने रोहिणेय को अपने पास बुलाकर दो बातें सदा स्मरण रखने का आदेश दिया। उसकी पहली बात थी, चोरी के धन्धे को कभी मत छोडना और दूसरी थी—सतो के पास नही जाना और न ही कभी उनका उपदेश सुनना।

नसीहतें दोनो ही उलटी थी, पर पुत्र ने उन्हे गाँठ बाँध लिया कि मेरे पिता की दी हुई है अत इनका पूर्ण रूप से पालन करूँगा। अनेक पुत्र ऐसे ही होते हैं। वे कहते है :

"तातस्य कूपोऽयमितिब्रुवाणा:
क्षारं जलं कापुरुषा: पिबन्ति।'

अर्थात्— मेरे पिता ने कुआ खुदवाया है अत इसी का पानी पीऊँगा। लोग समझाते है—"अरे भाई! तेरे पिता ने इसे खुदवाया है तो क्या हुआ? पानी तो इसका खारा है। अत अपनी जिद छोडकर दूसरे कुए का मीठा जल क्यों नहीं पीता?

पर पुत्र है कि यही उत्तर देता है—"पानी तो मै इसी कुए का पीऊँगा।"

इसी तरह रोहिणेय चोर ने भी अपने पिता की कुशिक्षाओ को दृढ़ता से पकड लिया। चोरी करना भी तो खारा पानी पीने के समान ही था पर पिता की आज्ञा होने के कारण उसने चोरी करना नही छोडा और पक्का चोर बन गया।

एक बार भगवान महावीर प्रभु उस नगर मे पधारे तथा नगर के बाहर बगीचे मे ठहरे। प्रतिदिन प्रात काल उनका धर्मोपदेश होता था। हजारो व्यक्ति उसे सुनने के लिये आते थे।

सयोगवश रोहिणेय चोर एक दिन उधर से गुजरा। उसे मालूम था कि यहाँ भगवान महावीर का उपदेश हो रहा है। अत उसने अपने कानो मे अगुलियाँ डाल ली कि कही उपदेश के शब्द कानो मे पड गए तो पिता की आज्ञा का उल्लघन हो जाएगा।

पर होनहार बलवान होती है, जल्दी-जल्दी चलने के कारण रोहिणेय के पैर म काँटा लग गया। अब क्या करे ? काँटा नही निकाले तो आगे बढा नही जाता और काटा निकालने के लिये कानो मे से अगुलियाँ निकालनी पडती हैं। बेचारा बडे धर्म-सकट मे पड गया। पर पिता की आज्ञा से भी शरीर का सुख तो मूल्यवान होता ही है, उसने कानो मे से अँगुलियाँ निकाली और काँटा निकालने का प्रयत्न किया।

इसी बीच भगवान के उपदेश की तीन बातें उसके कानो मे पडती गईं कि—'देवता के चरण जमीन पर नही लगते, उनकी आँखे नही टिमटिमाती और उनकी छाया जमीन पर नही पडती।'

रोहिणेय ने सोचा—मैंने जानबूझ कर तो पिता की आज्ञा का लोप किया नही है। मजबूरी से तीन बाते सुननी पड गईं तो उन्हे याद ही करलूँ। क्या हर्ज है ?' ऐसा विचार कर उसने देवता के तीनो लक्षण अच्छी तरह याद कर लिए।

इधर राजा श्रेणिक ने नगर मे चोरियाँ बहुत होती देखकर अपने बुद्धिमान मन्त्री अभयकुमार को चोरो को पकडने का आदेश दिया। अभयकुमार ने अपने गुप्तचरो से यह जाना कि चोर चोरी करके नगर से बाहर अमुक देवी के मन्दिर मे इकट्ठे होते है और चोरी का माल बाँटते हैं।

इस जानकारी के प्राप्त होने पर उन्होने स्वय ही स्त्री का वेश बनाया और देवी के मन्दिर मे छिपकर बैठ गए। अर्धरात्रि व्यतीत होने पर प्रतिदिन की तरह चोर आए और बोले—'देवी माता, आज आपकी कृपा से खूब माल मिला है।"

चोरो की बात सुनकर देवी वेश-धारी अभयकुमार बोले—

"आज मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ।"

चोर यह समझकर कि आज तो देवी साक्षात् दर्शन दे रही हैं, बोल रही है, खूब प्रसन्न हुए तथा मारे खुशी के असावधान हो गये।

मौका पाकर स्त्री वेश-धारी अभयकुमार बाहर जाने को हुए कि बाहर घेरा

डाले हुए सिपाहियो से चोरो को पकडवा लूं। इसी बीच रोहिणेय की दृष्टि देवी पर पडी। और उसे भगवान के बताए हुए देवताओ के तीनो लक्षण याद आ गए। उसने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि देवी जमीन पर चल रही है तथा उसकी छाया भी पड रही है।

यह देखते ही उसे सन्देह हो गया कि देवी सच्ची नही है और चोरो को पकडने के लिए जाल बिछाया गया है। वह फौरन अपने स्थान से उठा और किसी तरह से बाहर निकल कर भाग गया। इधर बाकी के सारे चोर जो कि देवी के साक्षात् दर्शन से और भी बेफिक्र हो गए थे, पकड लिए गए।

इस घटना का रोहिणेय पर बडा भारी प्रभाव पडा। उसने सोचा—"मजबूरी से सुने गए भगवान के तीन वाक्यो ने आज मुझे मृत्यु के मुँह से बचा लिया। तो अगर मैं स्वेच्छा और श्रद्धापूर्वक भगवान का उपदेश सुनूँ तो न जाने कितना लाभ होगा!"

इस विचार ने उसके जीवन की दिशा ही बदल दी और भगवान की शरण लेकर उसने अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक किया।

यह उदाहरण हमे बताता है कि बिना श्रद्धा से सुने हुए सद्गुरु के चन्द वचनो से भी जब मनुष्य महा सकट से बच सकता है तो फिर श्रद्धापूर्वक सुने गए धर्मोपदेश से अनन्त जन्म-मरण से क्यो नही बचेगा ?

शेखसादी न भी कहा है —

मर्द बायद कि गीरद अन्दर गोश,
गर नाविश्तात पन्द बर दीवार।

—मनुष्य को चाहिए कि धर्मोपदेश अगर दीवार पर लिखा हुआ मिल जाय, तो भी उसे ग्रहण करे।

तो बन्धुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि एक धर्म कथा समस्त विकथाओ को जीत लेती है। अर्थात्-मनुष्य कितनी भी विकथाएँ करे, बे-सिर पैर की हाँके, उससे उसे कोई भी लाभ नही होता किन्तु धर्म कथा, शास्त्र श्रवण और धर्मसम्बन्धी चर्चा अगर अत्यन्त थोडी मात्रा म भी करे तो उसका जीवन उन्नत हो सकता है।

इसलिये हमे सदा इनमे रुचि रखनी चाहिए। यही भव्य जीवो का प्रथम लक्षण होता है। अन्यथा तो कहा जाता है —

नहिं आनत जेह निजातम रूप रता पर द्रव्य चले विरथा।
घट जोर मिथ्या ज्वर को तिह से सब दूर भई निज धर्म छुधा।।
मन लीन परिग्रह आरम्भ मे प्रभु सीख न धारत भेव बुधा।
जु अमीरिख जीव अभव्य हुवे तिनको न रुचे जिनवेन सुधा।।

देखिये क्या कहा गया है ? कहा है—जो व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को नही

पहचानते तथा पर-पदार्थों मे आसक्त बने रहकर आत्मा के विरुद्ध जाते हैं। जिनको मिथ्यात्व का ज्वर बना रहता है तथा धर्मरूपी भूख नहीं होती। और जिनका मन आरम्भ परिग्रह का लोलुपी होने के कारण प्रभु के वचनो को ग्रहण नही करता ऐसे अभव्य प्राणियो को जिनवाणी रूपी अमृत नही रुचता।

इसलिये हमे अभव्य साबित नही होना है तथा व्यर्थ की विकथाओ का त्याग करके धर्म-कथा मे रुचि बढ़ाना है।

गौतम कुलक ग्रन्थ की जिस गाथा का हम विवेचन कर रहे हैं, उसका तीसरा चरण है—

"सव्वं बल धम्मबल जिणाई।"

—धर्मबल समस्त बलो को जीत लेता है।

अर्थात्—किसी व्यक्ति के पास भले ही धन का बल हो, विद्या का बल हो, सौन्दर्य का बल और शारीरिक बल भी हो, किन्तु धर्म का बल न हो तो ये सभी बल अपना कोई महत्त्व नही रखते। तथा इसके विपरीत किसी मनुष्य मे इन सब बलो का अभाव हो पर एक धर्म का बल हो तो वह सारे ससार को अपने वश मे कर सकता है।

धर्मबल का उद्गम स्थान

धर्म का बल आत्मा के अन्दर से नि सृत होता है अत वह समस्त बाह्य बलो की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक शक्तिशाली साबित होता है। उसका मुकाबला ससार की अन्य कोई भी शक्ति नही कर सकती। श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी धर्म की अनन्त-शक्ति का समर्थन करते हुए कहा है·—

"नि शेष धर्म-सामर्थ्यं न सम्यग् वक्तुमीश्वर.।"

—धर्म की सम्पूर्ण शक्ति का सम्यक् प्रकार से वर्णन करने के लिए कोई भी समर्थ नही है।

वस्तुत धर्म ही वह प्रबलतम और अजेय शक्ति है, जिसके बल से जन्म, जरा और मृत्यु के दुखो का नाश किया जा सकता। व्यक्ति मे अगर धर्म का बल हो तो कोई भी अन्य सत्ताधारी उसे झुका नहीं सकता।

कौशलराज का धर्म बल

कहा जाता है कि कौशल देश के राजा बडे ही धर्मात्मा और दानवीर थे। उनकी दान-शीलता की प्रसिद्धि चारो तरफ फैल गई थी। दूर-दूर से अभावग्रस्त व्यक्ति आते और सन्तुष्ट होकर लौटते थे।

कौशल राज की यह बढ़ती हुई कीर्ति काशी के महाराजा से सहन नहीं हुई और उन्होने कौशल पर चढ़ाई करदी। युद्ध मे कौशलराज हार गए और वे जगल की ओर भाग गए।

कौशलराज की हार से लोगो मे हाहाकार मच गया। और सब काशीराज को कोसने लगे। काशीराज को यह सुन-सुनकर और भी क्रोध आया, तथा उन्होंने ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो व्यक्ति कौशलराज को जीवित अथवा मृत पकडकर लाएगा उसे एक हजार अशर्फियाँ इनाम दी जाएँगी।

उधर कौशलराज जगल-जगल मे फटेहाल फिर रहे थ। एक दिन एक दरिद्र वणिक ने उनसे कौशल का रास्ता पूछा।

राजा ने कहा—"उस अभागे देश मे क्यों जा रहे हो भाई?" वणिक ने राजा को बिना पहचाने अपनी धन-हानि और दुर्दशा की कहानी सुना दी।

सुनकर राजा के नेत्र सजल हो गए। कुछ क्षणो तक तो वे चुपचाप सोचते रहे। उसके पश्चात् वणिक से बोले—"चलो, तुम्हारी मनोकामनापूर्ति का मार्ग बताऊँ।"

जटाजूट बढ़ाए और फटे कपडे पहने हुए कौशलराज उस वणिक को लेकर काशीराज के दरबार मे पहुचे। और बोले—"काशीराज! मैं ही कौशल का भूतपूर्व राजा हूँ। मुझे पकडकर लानेवाल के लिए आपने जो इनाम घोषित किया है वह मेरे इस साथी को प्रदान करे तथा मुझे पकडने की आज्ञा अपने सिपाहियो को दे।"

सारी सभा मे सन्नाटा छा गया और काशी के महाराजा कौशलराज की ऐसी उदारता देख कर दग रह गए। कुछ क्षण स्तमित रहन के बाद वे शान्तिपूर्वक बोले—"कौशलराज! लोग तुम्हे जितना उदार और धर्मात्मा मानते है, तुम उससे भी अनेक गुना अधिक हो। धन्य है तुम्हे। मैं तुम्हे तुम्हारा सम्पूर्ण राज्य आदरपूर्वक लौटाता हूँ, साथ ही अपना हृदय भी देता हूँ। अब इसी सिंहासन पर बैठकर इस वणिक को जितना चाहो धन प्रदान करो।

बन्धुओ, यह शक्ति किसकी थी? धर्म की ही न? अन्यथा कौशलराज के पास क्या था? न राज्य, न सत्ता, न धन और न सैन्यबल ही था। केवल आत्म-बल और दूसरे शब्दो मे जिसे धर्मबल कहा जाता है वही बचा था। काशीराज चाहता तो निहत्थे और निर्बल कौशलराज को उसी क्षण मृत्यु के घाट उतरवा सकता था। किन्तु कौशलराज के धर्मबल के समक्ष उस समस्त बाह्य सत्ताधारी शासक को झुकना पडा।

हमारे शास्त्रो मे भी ऐसे अनेक उदाहरण आते है, जिनमे धर्म पर दृढ़ रहने वाले सुदर्शन सेठ, अरणक श्रावक तथा कामदेव आदि श्रावको के धर्मबल ने देवताओ को भी परास्त किया। इसलिये हमे अपने धर्मबल को बढाने का प्रयत्न करना चाहिय।

क्योकि पूर्व-कृत पुण्यो के बल पर तो हमे मानव-पर्याय, उच्चकुल, आर्य-क्षेत्र, परिपूर्ण इन्द्रियाँ तथा सन्त-समागम आदि समस्त उत्तम सयोग मिले है। पर अगर इस जीवन मे धर्म नही कमाया तो डिब्बा गोल ही रह जायगा तथा हम खाली रह-

कर यहां से प्रयाण कर जायेंगे । जो भव्य प्राणी इस बात को समझते है, वे चाहे सन्त हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका पूर्णतया सावधान रहकर परलोक के लिये धर्म की पूँजी इकट्ठी करते है ।

गाथा का अन्तिम चरण है —

"सव्वं सुहं धम्मसुहं जिणाई ।"

ससार के समस्त सुखों को धर्म-सुख जीत लेता है ।

इसका भावार्थ यही है कि ससार के जितने भी सुख है उनसे बढकर धर्मसुख है । हम देखते हे कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख-प्राप्ति की अभिलाषा रखता है तथा उसके लिए रात-दिन दौड-धूप करता है । दुख सभी को अनिष्ट है, कोई भी उसे पसद नही करता । पर फिर भी सुख की प्राप्ति होती नही है ।

सुख मिलता क्यो नहीं है ?

अभी-अभी मैने बताया है कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख-प्राप्ति की अभिलाषा से अहर्निश दौड-भाग करता है तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति इसी प्रयत्न मे व्यय कर देता है ।

फिर भी बडे आश्चर्य की बात है कि कोई भी अपने आपको सुखी अनुभव नहीं करता । किसी को धन का अभाव खटक रहा है । किसी को रोग सता रहा है । कोई पुत्र के अभाव मे रो रहा है तो कोई व्यापार मे घाटा लग जाने से बेचैन है सक्षेप मे चारो ओर दुख, शोक, चिन्ता व्याधि तथा अशान्ति का ही वातावरण बना हुआ है ।

यह सब देखकर मन मे प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है और उसके लिए ही प्रयत्नशील रहता है तो फिर सुख मिलता क्यो नही ?

बात यह है कि मानव जिन पदार्थों और जिन सयोगों म सुख मानता है वह सुख नही, केवल सुखाभास होता है । क्योंकि पर-पदार्थों का सयोग कुछ ही समय तक रह सकता है, उसके पश्चात् उसका वियोग अवश्यम्भावी है । प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने यही बात बडे सुन्दर ढग से बताई है —

पिता पुत्र पत्नी स्वजनो का साथ चार दिन का है,
फिर चिरकाल वियोग वेदना वेदन फल इसका है ।
धन दौलत का कहां ठिकाना, वह कब तक ठहरेगी ?
चारु सुयश की विमल पताका क्या सदैव फहरेगी ?

जो जीव परिवार मे सुख की कामना करता है । पुत्र न होने पर विभिन्न देवी-देवताओ को भेंट चढाता है, उसका पुत्र उत्पन्न होने पर अल्पायु मे ही उसके देखते-देखते इस लोक से प्रयाण कर जाता है, अन्य स्वजनो के सयोगो का भी यही हाल है । इसके अलावा जिनका परिवार बृहत् होता है वहा भाई-भाई मे, पिता-पुत्र

मे या देवरानी जेठानी म कलह का सूत्रपात हो जाने से पारिवारिक सुख नष्ट हो जाता है।

कुछ लोग अतुल धन पा लेने को सुख पाना मानते है। पर वे भी भ्रम मे रहते है। प्रथम तो धन का उपार्जन करने मे ही नाना प्रकार के कष्टो का सामना करना पडता है। दूसरे कदाचित उपार्जन कर भी लिया तो उसकी रक्षा मे खाना, पीना और सोना हराम हो जाता है। तीसरे धन का घर मे अबार लगा हो, तो भी मनुष्य रोग और मृत्यु से नही बच पाता। वह अपना समस्त धन देकर भी अपनी बीमारी किसी और से नही बदल सकता। फिर धन से कौनसा सुख हासिल हुआ ?

सुन्दर व्यक्ति अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्य को देखकर भी फूले नही समाते। किन्तु कही चेचक निकल आई तो ? या फिर उनका सौन्दर्य कौन सा सुख प्रदान करता है ?

अधिक कहाँ तक कहा जाय ? सासारिक सुख के अन्य समस्त साधनो का यही हाल है। उनके सयोग से मानव जितना भी सुख हासिल करने का प्रयत्न करता है, उतना ही दु खो का सचय होता जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है —

भोगे रोगभय कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाद् भयम्।
माने दैन्यभय बले रिपुभय रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभय गुणे खलभय काये कृतान्ताद् भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वित भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

अर्थात्—भोगो मे रोग का भय होता है, कुल मे अपमान का, धन मे राजा का, अहकार मे दीनता का, बल मे दुश्मन का, रूप मे वृद्धत्व का, शास्त्र मे वाद-विवाद का, गुणो मे दुर्जनो का तथा शरीर मे सदा मृत्यु का भय निहित होता है। इस प्रकार ससार मे सभी वस्तुओ के साथ कोई न कोई भय लगा रहता है। केवल वैराग्य ही निर्भयता प्रदान करने वाला है।

बधुओ, आप इस श्लोक से स्पष्ट समझ गए होगे कि ससार के किसी पदार्थ या किसी सम्बन्ध मे सुख नही है, केवल सुखाभास है, यानी, झूठा और भ्रमपूर्ण सुख है। सच्चा सुख तो केवल इनसे विरक्त होकर धर्माचरण करने मे ही है। भगवान के वचन भी है —

"कामे कमाहि ! कमियं खु दुक्खं।"

हे जीव ! कामनाओ को जीत ले, दुख दूर हो जाएगा।

जब तक मनुष्य राग-द्वेष तथा कामनाओ का दास बना रहता है, वह नही समझ पाता कि ससार के जितने भी पदार्थ है उनमे से एक या वे समस्त इकट्ठे होकर भी उसे दुखो से नही बचा सकते तथा सच्चे सुख की प्राप्ति नही करा सकते।

सुख आत्मा का गुण है और आत्मा मे ही रहा हुआ है। बाह्य पदार्थों मे खोजने से वह नही मिल सकता। अगर हमे उसे प्राप्त करना है तो समस्त पर-पदार्थों पर से अपनी ममता हटानी होगी। जैसे-जैसे हमारी आत्मा पर-पदार्थों से विमुख होकर अपने स्वरूप मे निष्ठ होती जाएगी, वैसे ही वैसे वह सच्चे सुख को प्राप्त करती जाएगी। भगवान ने सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और तप रूपी धर्म को मुक्ति का, अर्थात् शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग बताया है। जो व्यक्ति इस मार्ग की आराधना करेगा अर्थात् वीतराग-प्ररूपित धर्म का आचरण करेगा वही अनन्त सुख का अधिकारी बनेगा तथा साबित कर सकेगा कि—

"सव्व सुह धम्मसुह जिणाई।"

धर्म-सुख सब सुखो मे श्रेष्ठ है। ☆

२७ सुनहरा शैशव

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

शैशवकाल जीवन का सबसे सुनहरा समय माना जाता है। शैशवावस्था मे शिशु का हृदय पूर्णतया सरल, विशुद्ध, निष्कपट और निर्दोष होता है। शिशुओ का ससार अलौकिक, अद्भुत और अद्वितीय होता है इसीलिए बालक प्रकृति की अनमोल देन और सुन्दरतम कृति कही जाती है। कहा भी है—

"छोटे बच्चे तो भगवान की, परब्रह्म की छोटी-छोटी मूर्तियाँ है।

—साने गुरुजी

चतुर माली का कार्य

जिस प्रकार चतुर माली अपने बगीचे मे लगाए हुए पौधो की अत्यन्त सावधानी से काट-छाँट तथा सफाई करते हुए उन्हे समय पर पानी पिलाता है तथा पशु-पक्षियो के द्वारा नष्ट किये जाने से बचाता है। उसी प्रकार माता-पिता को अपने शिशु की देख-रेख करनी चाहिए। क्योंकि बालक के शैशवकाल मे समस्त मानवीय सद्गुणो के अकुर विद्यमान रहते है। अगर उनकी सावधानी से देख-रेख की जाय, दुर्गुणरूप कचरे को उसी समय साफ कर दिया जाय तथा नियमित रूप से उत्तम सस्कारो के जल से सीचा जाय तो वे अकुर अपने सुन्दर रूप मे विकसित होते है।

पर इसके लिए आवश्यक है कि जिस प्रकार माली अपने उपवन की सार-सभाल के लिए स्वय कडा परिश्रम करता है, उसकी रक्षा मे अपनी भूख, प्यास और नीद को भी त्याग देता है, उसी प्रकार माता-पिता को भी अपने बालक को उत्तम गुणो से विभूषित करने के लिए मौज-शौक और अपने सुख-आराम की परवाह न करते हुए पूर्ण लगन के साथ उसके भविष्य-निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए। और यह तभी हो सकता है, जबकि माता-पिता स्वय गुणवान हो, सुसस्कारी हो तथा दान आदि का आदर्श उपस्थित करें। बालक अपने माता पिता को जैसा करते देखता है, स्वय भी वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। एक विद्वान का कथन भी है—

"Children have more need of models than of critics"

—जेबेरी

—बच्चो को आलोचको की अपेक्षा नमूनो की अधिक आवश्यकता है ।

आशय इसका यही है कि अगर हमे अपने बच्चो को सद्गुण सम्पन्न बनाना है तो उनके अज्ञानवश किये हुए गलत कार्य की निन्दा तथा आलोचना न करके तथा उन्हे कटु वचनो के द्वारा तिरस्कृत न करते हुए स्वय सही कार्य को करना है बालक अगर आपको सदा सत्य बोलते हुए देखेगा तो वह सच बोलेगा, हिंसा करते हुए नही देखेगा तो वह हिंसा की भावना भी मन मे नही लाएगा । उसे यह कहने की आवश्यकता नही पडेगी कि तुम सत्य बोलो और अहिंसा का पालन करो । बालक अपने माता-पिता अथवा अन्य बडो की नकल करते हुए ही शिक्षा ग्रहण करता है । वह पिता को पान खाते देखकर पान खाता है, ताश खेलते देखकर ताश खेलता है और सिगरेट पीते देखकर धीरे-धीरे सिगरेट पीना सीख जाता है ।

पर इसके विपरीत अगर वह अपने घर मे अतिथि-सत्कार होते हुए देखता है, माता-पिता को सत मुनिराजो के दर्शन करते और उपदेश श्रवण करते हुए पाता है तथा उनके द्वारा दान दिया जाता है इस बात का अनुभव करता है तो वह स्वय भी निश्चय ही इन उत्तम गुणो और शुभ कार्यों मे रुचि लेने लगता है ।

मेरे घर चलो !

ऐवन्ताकुमार राजपुत्र थे । अपनी आठ वर्ष की बाल्यावस्था मे एक दिन जब वे खेल-कूद मे निमग्न थे, उन्होने गौतम स्वामी को मार्ग पर से गुजरते देखा । उन्हे देखते ही वे अपना खेल छोडकर भाग आए और गौतम स्वामी की अगुलि पकड कर प्रश्नो की झडी लगा दी । पूछने लगे—"आप कौन है ? कहाँ से आए है ? क्यो इस प्रकार घूम रहे है, तथा एक घर से निकल कर दूसरे घर मे किसलिए जाते है ?"

सन्तो के लिए बच्चो को तिरस्कृत करने का तो सवाल ही नही है अत गौतमस्वामी ने मद-मद मुस्कराते हुए ऐवन्ताकुमार के प्रश्नो का उत्तर दिया और बताया "हम साधु है, भिक्षा के लिए घूमते है । एक घर से आहार लेना हमारे लिए मना है अत हम अनेक घरों मे जाकर अपनी मर्यादा के अनुसार आहार व पानी लेते हैं ।"

ऐवन्ताकुमार ने यह सब सुनकर परम प्रसन्नतापूर्वक अपनी स्वाभाविक सरलता के साथ कहा—"ओहो, कितने अच्छे हो आप ? पर आहार-पानी के लिए इतना क्यो घूम रहे हो ? मेरे घर चलो न ! मेरी माँ बहुत अच्छी हैं । रोज बहुत से लोगो को भोजन कराती है, आपको भी खूब सारा दे देंगी और फिर आपको इतना घूमना नही पडेगा । चलो जल्दी ! देर मत करो, आपको भी भूख लग रही होगी न !"

गौतमस्वामी को आहार लेना ही था और फिर बच्चे का आग्रह कैसे टालते

वे राजमहल की तरफ चल दिये। पर आहार लेकर जब वे लौटे तो ऐवन्ताकुमार ने उनकी अगुलि फिर पकड ली और साथ चलते हुए बोले—

"मैं भी भगवान के दर्शन करने चलूँगा।"

"प्रसन्नतापूर्वक चलो वत्स!" कहते हुए गौतमस्वामी धीर कदमो से अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढे। साधु को न जल्दी और न बहुत धीरे, मध्यम गति से ही चलना होता है।

पर बाल-सुलभ चपलता कैसी होती है? कुमार को नपे-तुले कदमो से धीरे-धीरे चलना नही भाया और वे बार-बार गौतमस्वामी का हाथ खीचते हुए कहने लगे—

"जरा जल्दी-जल्दी चलो न! भगवान के दर्शन मे देरी हो जाएगी।"

बाल्यावस्था वैसे ही सुन्दर होती है पर अगर वह उत्तम सस्कारो से युक्त हो तो और भी मनोमुग्धकारी बन जाती है। ऐवन्ताकुमार की अतिथि-सत्कार की भावना मुनिदर्शन की उत्सुकता और असीम सरलता ने गौतमस्वामी के हृदय को गद्-गद् कर दिया। पर उनकी चाल तो आखिर वही थी। अत ऐवन्ताकुमार यह कहते हुए— "तुम तो बहुत धीरे-धीरे चलोगे मैं तो भगवान के पास जल्दी चला जाता हूँ।" अगुलि छोड-छाडकर सरपट दौडे और चन्द मिनटो मे ही भगवान महावीर के समक्ष जा खडे हुए।

सत-दर्शन कभी निष्फल नही जाता। अपनी कुछ न कुछ छाप छोडता ही है। कबीर के शब्दो मे—

कबिरा सगत साधु की, ज्यो गांधी का बास।
जो कछु गधी दे नहीं, तो भी बास सुवास।

अर्थात् साधु की सगति इत्र बेचने वाले गाधी की सगति के समान साबित होती है। जैसे गाधी से कोई कुछ न खरीदे और वह बिना कुछ दिये ही उठकर चला जाय, तो भी उसके पास रहे हुए इत्र की सुगन्ध वहाँ पर कुछ काल के लिए रह ही जाती है। इसी प्रकार व्यक्ति भले ही साधु के पास जाकर उनसे त्याग, नियमादि कुछ भी ग्रहण न करे, फिर भी सत-दर्शन के कारण उसके मन में एक प्रकार का सतोष और प्रसन्नता की अनुभूति कुछ समय तक बनी रहती है।

तो मैं कह यह रहा था कि ऐवन्ताकुमार का भगवान महावीर स्वामी के दर्शन करने जाना निष्फल नही गया तथा उन्होने उस लघुवय मे ही दीक्षा लेकर दर्शन का पूरा लाभ उठा लिया।

ऐवन्ताकुमार, ऐवन्त मुनि बन गये। किन्तु बालक ही तो थे अत चातुर्मास काल मे एक दिन जगल की ओर से लौटते समय उन्होंने सडक पर भरे हुए पानी के

आस-पास हाथों से मिट्टी की पाल बनाई और उस पानी मे अपने छोटे से काष्ठ के पात्र को नाव मानकर छोड दिया। और पात्र तैरने लगा।

कुछ समय पश्चात् ही जब ऐवन्ता मुनि के साथ जो अन्य सन्त थे वे उस स्थान पर आ पहुँचे और देखते क्या हैं कि काष्ठ का पात्र रोके हुए पानी मे आराम से तैर रहा है और बाल-मुनि ऐवन्ता 'नाव तिरीरे मेरी नाव तिरी' गाते हुए हर्ष से तालिया बजा रहे हैं।

यह दृश्य देखते ही मुनि-वृन्द उलटे पैरो चले और भगवान से इसकी शिकायत की। कहा—"आपने ऐवन्तामुनि को सिर पर चढा रखा है। क्या ऐसे कार्य एक साधु के लिए उचित हैं ?"

बन्धुओ! आप सोचते होगे कि सभवत भगवान महावीर ने ऐवन्ता मुनि को सचित्त पानी का स्पर्श और उसमे पात्र को तैराने के अपराध के लिए ताडना दी होगी। नही, भगवान ने ऐसा नही किया। क्योकि वे जानते थे कि ऐवन्ताकुमार मुनि होने के बावजूद भी बालक थे और बालक से अज्ञानवश जो गलती होती है, उसके पीछे गलती की भावना नही होती।

वास्तव मे तो पापो का मूल भावना है। अगर व्यक्ति के मन की भावनाएँ पापमय है तो वह बिना पाप किये भी पापी है, और भावना मे पाप नहीं है तो वह निष्पाप है। कहा भी है —

'मनसैव कृत पाप, न शरीरकृत कृतम्।

—पाप शरीरकृत नही, मनस्कृत ही होता है।

स्पष्ट है कि बालक को उसके अपराध के लिये डाँटना-फटकारना या प्रताडित करना ही उलटा मनुष्य के लिये पाप का कारण बनता है। क्योकि ताडना के कारण बालक का आत्म-विश्वास नष्ट होता है तथा उसके मन पर निराशा की गहरी चोट लगती है। उनकी भूल को तो सही कार्य करने की प्रेरणा देकर ही सुधारा जा सकता है। तथा उत्साह दिलाकर उनकी आत्मशक्तियो का विकास किया जा सकता है।

भगवान महावीर ने ऐवन्तामुनि की भूल को भी इसी प्रकार सुधारा। साथ ही अन्य मुनियो को चेतावनी दी—"बाल-मुनि होने के कारण भले ही यह भूल करता है, किन्तु इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करेगा। अगर तुम लोगो को भी आत्म-कल्याण करना है तो ईर्ष्या, द्वेष त्यागकर अपने मार्ग पर बढो!"

ऐवन्ताकुमार के इस शास्त्रोक्त उदाहरण से जाहिर हो जाता है कि बालको का हृदय कितना सरल, निष्कपट और दर्पणवत् स्वच्छ तथा गुणग्राही होता है। जिस प्रकार साफ दर्पण पर प्रत्येक प्रतिबिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है या दर्पण उस प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार बालक का हृदय भी प्रत्येक गुणावगुण को ग्रहण करता है। ऐवन्ताकुमार मे माता-पिता के डाले हुए उत्तम सस्कार ही थे,

जिनके कारण उसमे अतिथि को अपने घर लाने की भावना हुई तथा भगवान महावीर के दर्शन करते ही साधु बनने की इच्छा जागी।

आठ वर्ष की कच्ची उम्र मे सयोग प्राप्त करते ही उसका पूर्णतया लाभ उठाया। एक कहावत है —

'बूढ़े तोते राम-राम नही पढते।' अर्थात् अगर उन्हें राम-राम बोलना सिखाना है तो उनकी लघु वय मे ही सिखाना पडेगा।

इसी प्रकार अगर बालक का भविष्य उसके माता-पिता को उज्ज्वल बनाना है तो उसके लिए उसकी बाल्यावस्था मे ही प्रयत्न करना पडेगा। बडा हो जाने के बाद वह माता-पिता की शिक्षाओ और सस्कारो को ग्रहण नही कर सकेगा। इसके अलावा अगर बाल्यावस्था मे ही उत्तम सस्कार बालक से हृदय मे घर कर गए तो कभी गलत मार्ग ग्रहण कर लेने पर भी तनिक सा सयोग पाते ही वह फौरन चेत जाएगा।

कैसे लोग हैं ये ?

शेखसादी जब छोटे थे, अपने पिता के साथ एक बार मक्का हज करने के लिये जा रहे थे। पिता के साथ पूरा काफिला था। काफिले का नियम था—आधी रात को उठकर प्रार्थना अवश्य करना।

शेख सादी भी इस नियम का बराबर पालन करते थे। पर वे प्राय देखते थे कि कुछ व्यक्ति समय पर उठकर प्रार्थना नहीं करते।

इसलिए एक दिन आधी रात को सादी ने अपनी प्रार्थना के बाद भी लोगो को सोते हुए देखकर पिता से कहा—

"पिताजी ! ये लोग कितने आलसी है ? देखिये, न समय पर उठते हैं और न प्रार्थना ही करते है।"

पुत्र की बात सुनकर पिता ने थोडा फटकारते हुए कहा—"अरे बेटा ! सादी ! तू भी न उठता तो अच्छा होता। जल्दी उठकर दूसरो की निन्दा करने से तो न उठना ही बेहतर था "

पिता की बात सुनते ही शेखसादी चेत गए और उसी क्षण उन्होने जीवन भर के लिये किसी की भी निंदा न करने का व्रत ले लिया।

समय का मोल

सस्कारशीलता का प्रभाव ऐसा ही होता है। एक ही चेतावनी सुसस्कारी को सही मार्ग पर ले आती है। इसलिये बालक को समय पर सस्कार युक्त बनाना माता-पिता का प्रथम कर्त्तव्य है। मुझे एक और कहावत याद आ गई। जिसमे कहा गया है—"लोहा गरम है, तब तक उसे पीट लो।'

शब्दार्थ तो इसका यही है कि लोहा गरम होने के समय ही पीटकर इच्छानुसार आकृतियों मे ढाला जा सकता है। अत उसे गरम रहने तक ही पीट-पाट कर

उसकी जो वस्तुएँ बनाना हो, बनालो। ठंडा होने पर फिर वह किसी भी रूप मे ढल नही सकेगा।

पर भावार्थ है—समय रहते ही काम करलो अन्यथा फिर वह कार्य नहीं हो सकेगा। बालको के लिये भी यही बात लागू होती है। उन्हें बनाने का समय उनकी बाल्यावस्था है। उस समय इच्छानुसार उनके चरित्र को ढाला जा सकता है। अगर वह समय बीत चुका तो फिर उनके बनने की आशा नहीं है।

भविष्य की झांकी

बालको के सस्कार कैसे हैं, यह उनकी बातचीत और खेल-कूद से सहज ही जाना जा सकता है। सत कहते है —

खापराचे होन खेलती लेकुरे, काम त्या व्यापारे लाभ हानि ?

बच्चो का जीवन भविष्य मे कैसा बनने वाला है यह उनके बचपन मे ही जान लिया जा सकता है। किसी बच्चे मे शासन करने की योग्यता और आत्म-विश्वास होता है, तो वह अपने हमजोलियो का राजा बन जाता है। और कहता है—"अपराध करोगे तो तुम्हे अपने सिपाहियो से पकडवा मँगाऊँगा और कडी सजा दूँगा।

अरे भाई! वह कब राजा बना? और कहा है उसकी सेना? कैसे वह मुजरिम को पकडवा कर मँगाएगा और क्या सजा देगा! पर वह उसके भविष्य की सूचना है कि वह सत्ताधिकारी बनेगा। अभी तो केवल उसका आत्म-विश्वास बोलता है।

दूसरे, खेलने वाला अगर किसी व्यापारी का लडका है तो वह मिट्टी का ढेर लगाकर कहेगा—"मैंने दुकान खोली है किसी को कुछ लेना हो तो आ जाओ!"

अब माल उसकी दुकान पर क्या है? केवल मिट्टी, पर बालक अपनी कल्पनानुसार उसे चावल, दाल और काजू किसमिस मान लेता है। तथा फूटे घडे की गोल-गोल ठीकरियो को पैसा समझकर दुकान चालू कर देता है। साथी ग्राहको को वह मिट्टी का माल देता है और स्वय ठीकरियो के पैसे लेता है। तो बताओ, अब उन देने और लेने वालो को क्या नफा या नुकसान हुआ? कुछ भी नही, उनका तो एक खेल है, और खेल ही खेल मे उन्होंने अपनी प्रवृत्ति का परिचय मात्र दिया है।

अब उस परिचय को सही मार्ग देना अथवा उनकी प्रवृत्तियो को सही साचे मे ढालना माता-पिता का कार्य है। बालक की प्रथम पाठशाला मा की गोद होती है। अत: मा का महत्त्व बालक के निर्माण मे अधिक महत्त्वपूर्ण साबित होता है। महाराज मनु ने कहा भी है —

उपाध्यायान् दशाचार्या आचार्याणाँ शत पिता।
सहस्र तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

अर्थात्—दस उपाध्यायो से एक आचार्य श्रेष्ठ है। सौ आचार्यों से एक पिता

अधिक उत्तम शिक्षक है तथा हजार पिताओं से भी एक माता की शिक्षा अधिक गौरवशाली है।

ऐवताकुमार ने भी गौतमस्वामी के निकट अपनी माता की ही प्रशसा तथा सराहना की थी। स्पष्ट है कि सस्कारवती माता का पुत्र ही सुसस्कारी बन सकता है। अगर वह चाहे तो अपने शिशु को क्रीडा कराते हुए भी धर्म, नीति और सदाचार का पाठ पढ़ा सकती है, उसे सत्यवादी, सद्विचारशील और अहिंसा का पुजारी बना सकती है तथा भविष्य मे देश के महान और आदर्श नागरिक बनने के लक्षण उसमे पैदा कर सकती है।

खेद की बात है कि अनेक अशिक्षित नारियाँ बालको के मानस की परख न कर पाने के कारण स्वय भी परेशान होती है तथा बालको को भी परेशान करती हैं। हाऊ, बाबा या सिपाही का डर दिखाकर उन्हे कमजोर, डरपोक और आत्म-विश्वास रहित बना देती है।

यह उनकी महान् भूल है। बालको की शरारतो को सुधारने का भी कोई सुन्दर तरीका अपनाना चाहिए। मैंने देखा है—पाथर्डी स्कूल मे जो बालक पढ़ते थे उनमे से अगर कोई विद्यार्थी अधिक शैतानी करता तो उसे क्लास का मॉनीटर बना दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि शरारती छात्र जब दूसरे शरारतियो को उनकी शैतानियो के लिए दड दता तो फिर वही शरारतें स्वय कैसे करता ? अर्थात् उसकी शरारते करना बन्द हो जाता था।

कितना सुन्दर तरीका था छात्रो के दोषो को हटाने का ? इसी प्रकार प्रत्येक शिशु की भूलो को सुधारने का कोई सुन्दर तरीका माता-पिता को अपनाना चाहिये।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होगे कि शैशवकाल जीवन का कितना सुनहला और महत्त्वपूर्ण समय होता है। अगर विचारशील माता-पिता शैशवावस्था मे ही शिशु को सस्कार युक्त बनाएँ तो वही बालक बडा होकर अपने कुल समाज और देश के गौरव को ऊँचा उठा सकता है तथा उच्चकोटि का जीवन व्यतीत कर अपने दोनो लोको को सुधार सकता है। ☆

२८ नेकी कर कुए मे डाल !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

प्रत्येक मानव की आकाक्षा यही होती है कि ससार के सब व्यक्ति उसकी प्रशसा करें, सराहना करे और मरने के बाद भी उसे स्मरण करें, अर्थात् वह अमर हो जाय ।

पर यह क्या सरल बात है ? क्या उनके चाहने से ही ऐसा हो जायेगा ? नही, अमर होने के लिए सर्वप्रथम उसे अपनी इस चाह का अन्त करना होगा और उसके पश्चात् 'नेकी कर कुए म डाल' कहावत को चरितार्थ करना पडेगा ।

इसका आशय आप समझ ही गए होगे कि जो व्यक्ति नेकी के कार्य करता है उन्हे औरो के ऊपर किया गया एहसान न मान कर अपना कर्तव्य मानता है, वही ससार में प्रशसा प्राप्त करता है तथा अपना नाम अमर कर जाता है ।

नेक भावनाओं का जन्म कब होता है ?

मैं देखता हूँ कि आप प्रतिदिन एक बडी सख्या मे यहा इकट्ठे होकर शास्त्र-श्रवण करते हैं, धर्मोपदेश सुनते हैं । पर, भावनाएँ सबकी भिन्न भिन्न प्रकार की होती होगी । कुछ व्यक्ति इसलिये यहाँ आते होगे कि गाँव मे महाराज विराजमान है, अगर व्याख्यान सुनने नही गए तो लोग क्या कहेगे ? कुछ व्यक्ति यह सोचकर आते होंगे कि व्याख्यान सुनना अच्छी बात है । और थोडी देर अच्छे कार्य मे समय बिता कर वे आत्म-सतुष्टि का अनुभव करते है । कुछ व्यक्तियो का स्वभाव होता है कि वे अपने व्यक्तित्व की छाप औरो पर डालना चाहते हैं, और इसीलिए यहा आते है कि लोग उन्हे धर्मात्मा समझे । कुछ व्यक्ति महाराज के प्रिय-पात्र बनने के लोभ से भी आते है ।

इस प्रकार मैं सोचता हूँ कि यहाँ आने वाले व्यक्ति अपनी भिन्न-भिन्न भावनाओ को लेकर यहाँ उपस्थित होते हैं । ऐसे व्यक्ति तो इने-गिने ही होंगे जो यहाँ बताई गई बातो को, अर्थात् जिन-वचनो को आत्म-कल्याण के लिये अनिवार्य मानते होंगे तथा उन्हे ग्रहण करके ही लौटते होगे ।

किन्तु जो वास्तव मे ऐसा करते होंगे, मैं समझता हूँ कि उन्ही का धर्म-श्रवण करना सार्थक हो सकेगा। धर्म-शास्त्र के श्रवण का सच्चा लाभ तभी हासिल होता है, जबकि श्रद्धा-पूर्वक श्रवण किए को जीवन मे भी उतारा जाय और जिस दिन ऐसा करने की प्रवृत्ति हृदय मे जागती है, उसमे नेक भावनाओ का जन्म होने लगता है।

धर्म क्या कहता है ?

धर्म-शास्त्रो, पुराणो और धम ग्रन्थो मे, मुख्य रूप से दो ही बातें आपके समक्ष आती है। एक धर्म और दूसरी अधर्म। धर्म करने से आत्मा को सुख प्राप्त होता है तथा अधर्म करने से उसे दुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म और अधर्म पर ही धर्म-शास्त्रो की रचना हुई है। दूसरे शब्दो मे नेकी और बदी, भलाई और बुराई, उपकार और अपकार इन्ही दो बातो की मुख्यता धर्म-ग्रन्थो मे आपको मिलेगी और वही यहाँ सुनाया जाता है। एक ही बार नही, आपको बार-बार नेकी से होने वाले लाभ और बदी से होने वाली हानि के विषय मे समझाया जाता है।

हम सोचते है कि जिस प्रकार—

करत करत अभ्यास के, जडमति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते सिल पर परत निसान॥

इस प्रकार सुनते-सुनते अगर आपके दिल पर असर हो गया तो आपका जीवन सार्थक हो जायगा। और किसी दिन बात लग गई तो हमारा रोज-रोज कहना भी फल-प्रद बन जाएगा।

पर यह कब होगा ? यह हम नही कह सकते। किस क्षण, किस दिन, किस वर्ष और किस भव मे किस प्राणी की भवस्थिति पकगी यह अदाज नही लगाया जा सकता।

जब तक पुण्योदय नही होता तब तक तो धर्म की बातें भी मन को नहीं रुचती। दिखावा और बात है उसमे आत्मा का कोई कल्याण नही होता, भले ही पाखडी पुरुष दूसरो की निगाहो मे अपने आपको कितना भी श्रेष्ठ साबित क्यो न कर ले। वाल्मीकि रामायण मे कहा भी है —

अनार्यस्त्वार्यसस्थान शौचाद्धीनस्तथा शुचि।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशील-शीलवानिव॥

पाखण्डी मनुष्य अनार्य होकर भी आर्य के समान मालूम हो सकता है। शौचाचार से हीन होकर भी अपने को परम शुद्ध रूप मे प्रकट कर सकता है, उत्तम लक्षणो से शून्य होकर भी सुलक्षण-सा दिखाई दे सकता है और बुरे स्वभाव का होकर भी दिखाने के लिए सुशील के समान आचरण कर सकता है।

तो मैं यही कह रहा था कि दिखावटी रूप मे मनुष्य चाहे जैसा अपने आपको

प्रदर्शित करे, पर वास्तविक रूपो मे तो बिना पुण्योदय के उसे जिन-वचन नहीं रुचते, वे सोचते हैं—'सन्त तो व्याख्यान देते ही रहते हैं। उनका काम ही यह है।'

अरे भाई ! सन्त क्या यो ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते है ? उनके पास क्या कोई दूसरा काम नही है ? सचाई से देखा जाय तो आपका जो सांसारिक कार्य है, वह तो इस जन्म के लिए ही आपको फल देगा। और सम्भव है न भी दे सके क्योंकि आपके व्यापार मे आपको घाटा-नफा होता ही रहता है।

किन्तु सन्तो का कार्य तो उन्हें अनेक जन्मो तक भी फल प्रदान करता है तथा उसमे घाटे का भी काम नही है। फिर आप सन्तो के उपदेश को मात्र समय का उपयोग करना कैसे मानते है ? उन्हें स्वय इससे क्या लाभ है ? क्या वे उस समय को उपदेश देने की अपेक्षा आत्म साधना मे नही लगा सकते ? जिससे कि उनको अनेक गुना अधिक लाभ हो सकता है।

सन्त तो आपकी भलाई के लिए ही कहते है। ससार के समस्त प्राणियों पर उनकी अनुकम्पा होती है इसलिए, कि व्यवहार मे भी आपका और हमारा पारस्परिक सम्बन्ध है। आप भी हमारे साथी और सहायक है। ऐसी स्थिति मे अगर आप मोह-निद्रा या प्रमाद की तन्द्रा मे पडे रहें और जैसा कि मैंने पहले आपको बताया था धर्म रूपी अमूल्य रत्न को इन्द्रिय विषय रूपी चोर चुराते रहे तो क्या हमारा फर्ज आपको जगाने का नही है ? क्या बदी की ओर जाते हुए आपके मन को नेकी के रास्ते पर नहीं लाना चाहिए ? नेकी के रास्ते पर न चलने वालो को जीवन के अन्त मे क्या हाथ लगता है, यह शायद आप नही जानते। एक उदाहरण से इसे आपको समझाता हूँ। फारसी के एक शायर ने कहा है —

"कारू हिलाक शुद के चहल खाना गज दारेत।"

कवि ने इसमे बताया है—मिश्र देश का राजा था। जिसका नाम कारू था। कारू बादशाह के पास अपार वैभव था। चारो ओर उसके खजाने की शोहरत फैली हुई थी।

आज भी अगर किसी को अचानक और कोई अत्यधिक लाभ हो जाता तो लोग कहते है—'कारू का खजाना प्राप्त हो गया।' यह एक कहावत ही उसके नाम से चल पडी है।

कहा जाता है कि उसके पास चालीस खजाने थे, और एक-एक खजाने मे चालीस-चालीस कोठरियाँ थी। उन समस्त कोठरियो के तालो की चाबियाँ इतनी वजनदार थीं कि उन सबका बोझ एक ऊँट ही उठा सकता था।

आज भी हम पुराने तालो की लम्बी-लम्बी चाबियाँ देखते हैं तो लगता है कि वर्तमान मे बनने वाले तालो की चाबियाँ उनके मुकाबले मे कुछ भी नही है। यही हाल आज के मकानों और दीवालों का भी है। अर्थात् पुराने समय मे मकान सुरक्षा की दृष्टि से मजबूत बनाये जाते थे आज के समान दिखावे की दृष्टि से नही।

तो मिश्र का बादशाह कारूँ जब अपनी गद्दी पर था, उस समय देश मे भयकर अकाल पडा। लोग भूखो मरने लगे। अनेक व्यक्ति अपने बादशाह के पास दौडे गये और उनसे प्रार्थना की—"हुजूर ! हम लोग भूखो मर रहे हैं। आप सम्राट् है ! अपनी प्रजा की रक्षा कीजिये तथा अनाज के कोठो मे से थोडा-थोडा हमे दिलवाइये ताकि हम जिन्दा रह सकें।"

किन्तु बादशाह ने क्या उत्तर दिया ? नकारात्मक रूप मे गर्दन हिलादी और कहा—'खजान भरे पडे है तो क्या वे तुम्हारे लिए है ? उनमे से एक दाना भी तुम्हे नही मिलेगा। तुम जियो तो मेरी बला से और मरो तो मेरी बला से। यहाँ से निकल जाओ।"

धन के लालच म अधा बना हुआ कारूँ यह भूल गया कि राजा प्रजा के पिता के समान होता है। उसका सर्वप्रथम कर्तव्य प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करना ही है। प्रजा के बहते हुए आँसू भी उसके हृदय को पिघला नही सके, और उसने एक पाई भी प्रजा-हित के लिए नही निकाली और एक दाना भी किसी मरते हुए प्राणी को नही दिया।

किन्तु उसके अपार धन से आखिर क्या लाभ हुआ ? एक बार उसी मिश्र देश की मूषा नामक नदी मे भयकर बाढ आ गई और अपार धन का स्वामी कारूँ अपने खजाने समेत बह गया। न धन उसको मरन से बचा सका और न ही वह अपने धन की रक्षा कर सका। केवल हाय-हाय करते हुए मरना ही उसके हाथ आया और अनन्त कर्मों का बध करके दुर्गति मे जाना पडा।

रामचरित मानस म कहा भी है —

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

जो राजा अपनी प्रजा को दुखी रखता है, वह अवश्य ही नरक का अधिकारी बनता है।

बादशाह कारूँ धन समेत बाढ़ मे बह गया पर अपने हाथो से धन के द्वारा नेकी का कोई कार्य नही कर सका। धन की गतियाँ तीन होती है—दान, भोग और नाश।

धन का सर्वोत्तम उपयोग उसका दान करना है। दीन-दुखियो की सेवा मे लगाना और अभावग्रस्त प्राणियो के अभाव को दूर करना ही धन का सच्चा सदुपयोग करना है। दूसरा उपयोग उसका भोग करना है। जो कि प्राय व्यक्ति करते ही है। पर जो सूम व्यक्ति यह भी नही करते, अर्थात् न दान देते है और न धन का स्वय ही उपयोग करते है, उसका फिर किसी न किसी प्रकार से नाश ही होता है। एक गुजराती कवि ने मधुमक्खी का उदाहरण देते हुए यही बात सरल ढग से समझाई है। कहा है —

माखी थई मधु कीधुं, नथी खाधु नथी दीधुं,
लुटनहारे लूटी लीधु रे पामर प्राणी ।
चेते तो चेताबु तोने रे पामर प्राणी ।।

कवि ने कहा है—"मधुमक्खी अनेक फलो का रस इकट्ठा करके उसे शहद के रूप मे परिणत करती है । पर न उसे स्वय खाती है और न दूसरो को ही खिलाती है । परिणाम यह होता है कि जब छत्ता विशाल हो जाता है और उसमें बहुत सा मधु इकट्ठा हो जाता है तो हिंसक मनुष्य आकर उसके नीचे अग्नि जला देते हैं और उसके धुँए से सारी मक्खियो को उड़ाकर सारा शहद लूट ले जाते है ।"

"मूर्ख प्राणी ! अगर तू अपना भला चाहता है तो मधुमक्खी के समान केवल धन इकट्ठा करने मे ही मत रह ! उसको नेक कामो मे लगा कर पुण्य सचय कर ! मेरी तुझे यही चेतावनी है । चेत सके तो चेत जा !"

बन्धुओ, आप समझ गए होगे कि बादशाह कारूं ने अपने जीवन मे कितनी भयकर भूल की । अगर वह चाहता तो अपने विशाल खजाने को नेक कार्यों मे लगाकर पुण्य-कर्मो का सचय करने के साथ ही अपने नाम को सुनाम कर जाता । और लोग आज भी उसे दानी कर्ण, हरिश्चन्द्र, भामाशाह और जगडूशाह के समान आदर और प्रशसा के साथ स्मरण करते ।

आप कहेगे कि उसे स्मरण तो अभी भी सब करते है । पर नही, स्मरण करना उसी के लिए सार्थक है जिसे लोग नेक व्यक्ति के रूप मे स्मरण करें, और श्रद्धा से उसके समक्ष नत-मस्तक हो । अन्यथा स्मरण तो रावण को भी किया जाता है । पर कैसे ? अन्याय और अत्याचार के प्रतीक के रूप मे उसका पुतला जलाकर उसके नाम पर थू थू करके । इस प्रकार का स्मरण करना किस काम का ? स्मरण करना कहलाता है, महावीर, बुद्ध, कृष्ण, राम और ईसामसीह जैसे महापुरुषो का ।

नेकनामी का परिणाम

फारसी कवि ने कुख्यात बादशाह कारूं का जिक्र करने के बाद आगे कहा है —

"नौशेरवा न मुर्द के नामे ने को गुजाश्त ।"

नौशेरवा ईरान का अन्तिम अग्निपूजक फारसी बादशाह था । वह भी अब इस दुनिया मे नही है किन्तु उसकी नेकनामी और सुकीर्ति आज भी विद्यमान है । उस नेक बादशाह ने अपनी प्रजा का पालन सतानवत् किया । गरीबो की पुकार को कभी अनसुना नही किया तथा दुखी व्यक्तियो की भलाई मे ही अपना जीवन गुजारा । नौशेरवाँ के जीवन की नेकनामियाँ ही आज उसके नाम को चार-चाँद लगा रही है । उसके नाम की खुशबू आज भी ज्यो की त्यो बनी हुई है, और वह कैसी है इसके लिए शायर ने कहा है —

बस ! नाम बर बजेरे जमीवपन कर दां अंब ।
कज हुस्तिमश वद जमीं बर नशां न मांव ।।

कहते हैं—नौशेरवाँ बादशाह को भी जमीन मे दफनाया गया और एक बुढ़िया जो थी, उसे भी मरने पर जमीन मे दफनाया ।

दफनाये दोनो ही उसी जमीन मे गए तथा इस नश्वर देह का अजाम दोनो का एक सा हुआ । क्योकि यह मिट्टी का पिंड तो चाहे राजा का हो या रक का, एक ही गति को प्राप्त होता है । जैसाकि किसी ने कहा है —

कितने मुफलिश हो गए, कितने तवगर हो गए ।
खाक मे जब मिल गए, दोनो बराबर हो गए ।।

अर्थात्—मर जाने के पश्चात् अमीर की और गरीब की, भले आदमी की और बुरे आदमी की देह मे कोई अन्तर नही रहता । खाक मे मिल जाने पर दोनो के शरीर की कोई भी निशानी वहाँ मौजूद नही होती । रहता है केवल नाम । अगर व्यक्ति भले काम कर जाता है तो उसे सभी स्मरण करते है । नौशेरवाँ का नाम भी आज इसीलिये अमर है ।

जिवास्त नामे फर्रूख नौशेरवाँ बअदल,
गरचे बसे बबुजिस्त के नौशेरवां न मांव ।

नौशेरवाँ बादशाह के दिल मे एक बार आया कि मेरा वर्तमान राजमहल छोटा है, अत एक विशाल राजमहल का निर्माण कराऊँ ।

स्वाभाविक ही है जिसके पास चार पैसे होते हैं उसके मन मे उसे खर्च करने की तथा अपना नाम मशहूर करने की भावना होती है और उसका अजाम होता है—मकान बनवाना, बाग-बगीचे लगवाना या सैर-सपाटे करना ।

तो बादशाह के मन मे जैसे ही यह भावना आई, एक लम्बा-चौडा स्थान राजमहल बनवाने के लिये चुन लिया गया । पर उस स्थान मे अनेक व्यक्तियो के मकान थे । अत वे कैसे हटाये जाते ?

बादशाह ने उसके लिये भी अत्यन्त उदार भाव से घोषणा करवादी कि प्रत्येक मकान की एवज मे उसका स्वामी जितना चाहे मूल्य ले ले और मूल्य न चाहे तो उससे कई गुनी अधिक जमीन ले ले । बादशाह ने अपने कर्मचारियो को कडी हिदायत करदी कि किसी से भी जबर्दस्ती न की जाय और अनीति भी न बरती जाय । प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतया सन्तुष्ट करके ही उनके मकानो को राजमहल बनवाने के लिये तुडवाया जाय ।"

बादशाह की अत्यधिक उदारता के कारण, मकान मालिको ने प्रसन्नता पूर्वक अपने-अपने मकान राजमहल बनाने के कारण खाली कर दिये । किन्तु एक बुढ़िया अपनी झोपडी देने के लिये तैयार नही हुई । कर्मचारियो ने उसे लाख समझाया, पर वह न मानी ।

बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उन्होंने भी बुढ़िया से प्रेमपूर्वक कहा—"अम्मा ! तुम्हारी झोपडी राजमहल के बीच मे आती है अत इसे हटालो। तुम्हें मुँहमागी कीमत दूँगा। और कीमत नही चाहिये तो जितनी कहोगी जमीन दे दूँगा।"

पर बुढिया ने तो वही टका-सा उत्तर दे दिया—मैं न इस झोपडी को बेचना चाहती हूँ, और न छोडना चाहती हूँ। तुम्हे जैसा अपना राजमहल प्यारा है, वैसी ही मुझे अपनी झोपडी प्यारी है।"

आज के युग मे अगर कोई ऐसा उत्तर दे देता तो क्या होता ? जब हम निजाम स्टेट मे विचरण करते थे, तब सुना था कि वहाँ पर अनाज रखने के लिये भी लोगो से मकान जबर्दस्ती खाली करवा लिये गये थे।

पर नौशेरवाँ बादशाह सही मायने मे बादशाह था, उसने बुढिया के इन्कार कर देने पर जोर जबर्दस्ती नही की और कहा—"ठीक है, अगर तुम्हारी इच्छा नही है तो झोपडी राजमहल के बीच मे ही रहने दो।"

कुछ समय पश्चात् राजमहल बनकर तैयार हो गया। और बुढ़िया की झोपडी भी वही बरकरार रही। एक दिन बादशाह ने उससे पूछा—"क्यो बूढी माँ ! तुम्हे कोई तकलीफ तो यहाँ नही है ?"

बुढिया ने उत्तर दिया—'मुझे तो कोई तकलीफ नही है। पर मेरी गाय इधर-उधर कही गोबर या मूत्र कर देती है तो सिपाही मुझे परेशान करते हैं।"

बादशाह ने जब यह सुना तो फौरन सिपाहियो को बुलाया और उन्हे फटकारा—'तुम इस बूढी माँ को क्यो परेशान करते हो ? गाय जानवर है। इधर-उधर घूमते हुए अगर वह कोई स्थान गदा कर दे तो तुम साफ कर लिया करो। आखिर तुम लोग हो किसलिये ?"

कितनी महानता थी नौशेरवाँ मे ? कितनी करुणा, कितनी दया तथा कितनी न्यायप्रियता थी उसमे ? जिसकी झोपडी ने राजमहल का नक्शा ही बिगाड दिया था उस बुढिया के साथ भी उन्होने अनीति और अन्याय नही किया। इसलिये कवि ने कहा है—"इन्साफ—नीति के साथ रहने के कारण नौशेरवाँ बादशाह का नाम आज तक जिन्दा है। मर जाने के बाद बादशाह भी दफनाया गया और बुढ़िया भी दफनाई गई पर दोनो के नाम के साथ अच्छाई और बुराई अलग-अलग जुडी रही।

बधुओ, इसीलिये हमारा कहना है कि सदा नेक कार्य करो और वह भी निस्वार्थ भाव से करो। यह जीवन तो क्षण-भगुर है। किसी भी दिन नष्ट हो जाएगा। इसके लिये किसी प्रकार का गर्व करना या अपने धन का अहकार रखना, दोनो ही वृथा है।

अनर्थकारी अहकार

एक बार निजाम स्टेट में हमारा चातुर्मास हुआ। वहाँ एक सत्य घटना

सुनने मे आई थी। निजाम स्टेट के कलम नामक गाँव मे एक अत्यन्त धनी गृहस्थ रहता था। उसके एक ही लडकी थी। इकलौती पुत्री होने के कारण पिता ने उसका सम्बन्ध करने के लिए बडी खोजबीन की, और तब उसका रिश्ता पक्का किया।

लडके वाले भी अत्यन्त सम्पन्न थे और सयोग से उनका भी लडका एक ही था। रिश्ता कर लेन के बाद लडके वालो के दिल मे विचार आया—'कौन जाने लडकी वाले हमारी इतनी बडी बारात की व्यवस्था कर सकेंगे या नहीं ?'

यह विचार आने पर लडके के पिता ने पाव भर राई लडकी के पिता को भेजी। उसका अर्थ था—राई मे जितने दाने है, उतने ही बराती आएँगे।

समधी के यहाँ से आई हुई राई का अर्थ कन्या का पिता समझ गया और सोचने लगा—"वे लोग मुझे समझते क्या है ? क्या मैं कोई ऐरा-गैरा हूँ जो उनकी बारात की व्यवस्था नही कर सकता।" आखिर उसने उत्तर देने के लिये पाव भर खस-खस भेज दी। जिसका मतलब था कि पाव भर राई जितने तो क्या, पाव पर खस-खस जितने भी आ जाओ तो मै सबको सम्हालने का दम रखता हूँ। उत्तर पाकर लड़के वाले प्रसन्न हो गए।

उधर के लोग कहते थे कि विवाह के समय कन्या के पिता ने जैसी धूम-धाम से शादी की, हमने पहले कभी वैसी होते नही देखी। दो माइल तक तो उसने रोशनी की ही व्यवस्था की थी।

लडकी की माता ने अत्यधिक खर्चे का बडा विरोध भी किया। कहा—"अपने यहाँ धन है तो क्या इस तरह आग लगाने के लिए है ?"

पर घर मालिक तो ताव मे आए हुए थे। घमड मे आकर सब धन फूंक दिया। हजारो व्यक्ति उस विवाह को देखने के लिये गए थे।

चातुर्मास काल मे लोगो ने हमे भी वह मकान बताया। और कहा—"महाराज ! यह मकान है खसखस भेजने वाले का। अब तो केवल एक वृद्धा इसमे रहती है और इस विशाल मकान के पत्थर बेच-बेचकर अपना गुजारा कर रही है।"

अहकार और दिखावे के वश मे होकर लोग किस प्रकार अपनी बर्बादी कर लेते है यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे व्यक्तियो को चेतावनी देने के लिए कहा जाता है —

सुनरे सयाने तू गरूर क्यो करत एतो,
हूँ के अभिमानी हित केष नहिं बारे हैं।
मीकापन यह तेरो छिन मे विनाशी जाय,
थिर ना रहेगा साज बाज ये तिहारे हैं।

देखत ही तेरे केते धूर में मिले हैं धन,
अजहूं ना नेक अभिमान को उतारे हैं।
कहे अमीरिख धारि के विनय मूल होहु,
छोडो दे गरूर गुरुदेव यों उचारे हैं।

पूज्यपाद श्री अमीऋषी जी महाराज कहते हैं—अरे अभिमानी ! तू इतना घमड क्यो करता है ? मान के नशे मे चूर होने के कारण तुझे दूसरो के द्वारा कही हुई हितकारी बात भी नही रुचती।

तेरे पास सम्पत्ति है तो उसका उपयोग तू होडा-होड मे क्यो कर रहा है ? इससे तुझे लाभ न होकर केवल हानि ही तो होगी ! प्रथम तो यह व्यर्थ नष्ट हो जायगी, दूसरे अहकार के कारण तेरा जो नीकापन है, अर्थात् तुझ मे जो अच्छाइयाँ और नेक काम करने की भावनाएँ है वे भी समाप्त हो जाएँगी।

इस प्रकार यह अभिमान तुझ कही का भी नहीं रखेगा। जिस प्रकार तेरे देखते-देखते अनेको धूल मे मिल गए है, तू भी इस लोक से चल देगा। किन्तु तेरे नाम के साथ बुराई जुड जाएँगी।

'इसलिए अब भी चेत जा, और अभिमान का सर्वथा त्याग करके अपने धन को नेक कार्यों मे लगाकर पुण्य का अधिकारी बन ! अगर तुझे होड ही करनी है तो अहकार का पोषण करने मे मत कर, पुण्य-सचय मे कर ! सत तुझे यही शिक्षा देते है कि अहकार का त्याग करके नम्रता धारण कर और एक नेक पुरुष बन !'

कहने का आशय यही है कि पाव सेर राई भेजने वाले भी गये और खसखस भेजने वाले भी गये। रहा केवल वही, जो उन्होने इस ससार मे आकर किया। प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार चला जाता है और अपने पीछे अपनी नेकनामी या बदनामी, छोड जाता है। नेकनामी और बदनामी क्या है यह आप जानते ही हैं।

जय किसकी ?

राम और रावण एक ही समय मे तथा कृष्ण और कस भी एक ही काल मे हुए। पर राम और कृष्ण का नाम कितने आदर और श्रद्धा से लिया जाता है ? क्या कस और रावण को भी लोग इसी प्रकार स्मरण करते हैं ? नही, उलटे प्रातःकाल मे अगर कोई इनका नाम ले ले तो भी बुरा माना जाता है।

प्रभात मे उठते ही व्यक्ति 'जय राम-जी की' किसी दूसरे के सामने बोलते है, पर क्या कभी जय रावण की भी, कहते हुए सुना है ? इसी प्रकार सुबह-शाम 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण !!' की रट तो सभी लगाते हैं, पर कभी कोई हरे कस ! एक बार भी कहता है ? नही, क्यो नही कहता ? इसलिये कि उन्होने अपने जीवन मे नेक कार्य नहीं किया। नीति और धर्म के अनुसार नहीं चले। जयकार केवल उसी का किया जाता है जिन्होने अपने जीवन को धर्म-परायण बनाया, अहिंसा और सत्य के मार्ग पर चले, अनीति और अत्याचार का नाश करते हुए नीति और न्याय का

प्रसार किया। तथा अपना समग्र जीवन अन्य प्राणियों की भलाई करते हुए व्यतीत किया।

ससार उन्ही को स्मरण करता है, जिन्होने बुराइयो मे से भी अच्छाइयाँ खोजी और दुर्जनो क साथ भी सुजनता का व्यवहार किया।

मैं सब को भला समझूँगा!

महात्मा बुद्ध के पूरण नामक एक शिष्य ने सुनापरत प्रात मे जाकर धर्म-प्रचार करन की आज्ञा बुद्ध से मांगी।

महात्मा बुद्ध ने अपन शिष्य की सुजनता की परख करने के लिये पूछा—"वत्स! उस प्रान्त म बडे क्रूर व्यक्ति रहते है! अगर वे तुम्हारी निन्दा करेंगे और तुम्हे दुर्वचन कहेगे तो?"

"भन्ते! मैं यही सोचूँगा कि वे भले ह जो मुझे पीट नही रहे है।"

"और अगर उन्होने तुम्हे पीट दिया तो फिर तुम्हे कैसा लगेगा?" बुद्ध ने पुनः पूछा।

तब भी मैं उन्हे दयालु व्यक्ति मानूँगा कि उन्होने मुझे किसी शस्त्र से घायल नही किया अथवा जान से नही मारा।" पूरण ने नम्रतापूर्वक अपने गुरुदेव को उत्तर दिया।

"पूरण! अगर वे सचमुच ही तुम्हारी जान लेने पर उतारू हो गए तो?" बुद्ध का प्रश्न था।

"तब तो भगवन्! और भी अच्छा होगा। मै समझूंगा कि यह रोगो का घर और नश्वर शरीर जल्दी ही धर्म प्रचार के काम मे आ गया। मुझे ससार के दुखो को भी सहन करना नही पडेगा।"

शिष्य का उत्तर सुनते ही बुद्ध सन्तुष्ट होकर बोले—

'शाबास वत्स! मुझे तुमसे ऐसे ही उत्तरो की आशा थी। अब तुम नि सकोच होकर कही भी जा सकते हो। जो व्यक्ति किसी भी स्थिति मे दूसरो को दोषी नही मानता, वही सच्चा महापुरुष कहलाता है।"

वास्तव मे, नेक पुरुष का यही लक्षण है कि वह दूसरो के द्वारा प्रशसा और सराहना किये जाने की कामना से रहित होकर ससार के प्राणियो की भलाई मे जुटा रहे। इतना ही नही, अपने सत्कार्यों के बदले मे उसे लोगो से उपहास, गालियाँ, निंदा और शारीरिक यातनाएँ प्राप्त हो, तो भी वह अपने नेक कार्यों से मुँह न मोडे तथा उन्हे अज्ञानी समझकर क्षमा करता जाय, तभी वह अपने नाम को और अपनी नेकनामी को सदा के लिये अमर और स्मरण करने योग्य बना सकता है।

बधुओ, आशा है कि आप भी नेकी के मार्ग पर चल कर नेकनामी हासिल करेंगे तथा अपने जीवन को सार्थक बनाएँगे। ☆